MATS UNIVERSITY

NAAC GRADE A+ ACCREDITED UNIVERSITY

MATS CENTRE FOR OPEN & DISTANCE EDUCATION

समकालीन भारतीय समाज

बैचलर ऑफ़ आर्ट्स (बी.ए.)

द्वितीय सेमेस्टर

SELF LEARNING MATERIAL

COURSE DEVELOPMENT EXPERT COMMITTEE

1- Prof.(Dr.) Reshma Ansari, HOD Hindi Department, MATS University Raipur Chhattisgarh

2- Dr. Sudhir Sharma, Subject Expert, HOD Hindi Department, Kalyan College, Bhilai

3- Dr. Kamlesh Gogia Associate Professor, MATS University, Raipur, Chhattisgarh

4- Dr. Sunita Shashikant Tiwari Associate Professor, MATS University Raipur Chhattisgarh

5- Dr. Rajesh Kumar Dubey, Subject Expert, Principal, Shahid Rajeev Pandey Government College, Bhatagaon, Raipur, Chhattisgarh

6- Dr. Crislya Baxla, Late Jaidev Sathpathi Government College, Basna

COURSE COORDINATOR

Dr. Kamlesh Gogia Associate Professor, MATS University, Raipur, Chhattisgarh

COURSE /BLOCK PREPARATION

Dr. Kamlesh Gogia Associate Professor, MATS University, Raipur, Chhattisgarh

March, 2025
ISBN-978-93-49916-02-9

@MATS Centre for Distance and Online Education, MATS University, Village- Gullu, Aarang, Raipur-(Chhattisgarh)

All rights reserved. No part of this work may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form, by mimeograph or any other means, without permission in writing from MATS University, Village- Gullu, Aarang, Raipur-(Chhattisgarh)

Printed & Published on behalf of MATS University, Village-Gullu, Aarang, Raipur by Mr. Meghanadhudu Katabathuni, Facilities & Operations, MATS University, Raipur (C.G.)

Disclaimer-Publisher of this printing material is not responsible for any error or dispute from contents of this course material, this is completely depends on AUTHOR'S MANUSCRIPT.
Printed at: The Digital Press, Krishna Complex, Raipur-492001(Chhattisgarh)

विषय सूची

माड्यूल–1 समाजशास्त्र का उद्भव एवं विकास
इकाई–1 पश्चिम समाजों में समाजशास्त्र, प्राचीन भारत में समाजशास्त्र 5–9
इकाई–2 आधुनिक भारत में समाजशास्त्र का विकास 9–13
इकाई–3 भारत में समाजशास्त्र के विकास के सैद्धांतिक उपागम 13–17

माड्यूल–2 भारतीय समाज के प्रति दृष्टिकोण एवं अवधारणाएँ
इकाई–4 कर्म की अवधारणा, कर्म और भाग्य, पुरुषार्थ 18–24
इकाई–5 वर्ण की अवधारणा, वर्ण के कार्य, मूलभूत सिद्धांत, आश्रम एवं संस्कार 24–33

माड्यूल–3 सांस्कृतिक बहुवाद
इकाई–6 बहुवाद की अवधारणा, समाजशास्त्र में बहुवाद सांस्कृतिक बहुवाद 34–47
माड्यूल–4 ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय
इकाई–7 ग्रामीण समुदाय, विशेषताएं, नगरीय समुदाय, विशेषताएं
ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय में अन्तर 48–65

माड्यूल–5 जनजाति
इकाई–8 जनजाति का अर्थ, परिभाषा, भौगोलिक एवं सांस्कृतिक वर्गीकरण
भारत की जनजातियों में विवाह, परिवार 66–83

माड्यूल–6 जाति व्यवस्था
इकाई–9 जाति का अर्थ, परिभाषा, विशेषताए 84–94

माड्यूल–7 नातेदारी
इकाई–10 नातेदारी का अर्थ, परिभाषा, प्रकार नातेदारी की रीतियां, परिहार 95–110

माड्यूल–8 परिवार
इकाई–11 परिवार का अर्थ, परिभाषा, विशेषताए, विवाह, हिन्दू विवाह का अर्थ
एवं परिभाषा, उद्देश्य, विशेषताएं, विवाह के भेद 111–148

माड्यूल–9 वर्ग व्यवस्था
इकाई–12 सामाजिक वर्ग का अर्थ, परिभाषा, विशेषताएं 149–154
इकाई–13 जाति और वर्ग में विभेद, भारत में वर्ग के विभाजन का आधार, संरचना 155–177

माड्यूल–10 क्षेत्रवाद
इकाई–14 क्षेत्रवाद का अर्थ, विशषताएं, भारत में क्षेत्रवाद की समस्या के उदय के कारक 178–185

Acknowledgement

The Material (Pictures and images) we have used is purely for educational purpose. Every effort has been made to trace the copyright holders of material reproduced in this book. Sould any infringement have occurred, the publishers and editors apologize and will be pleased to make the necessary corrections in future of this book.

ekMîy&1

NOTES

समाजशास्त्र का उद्भव तथा विकास

इस अध्याय के अन्तर्गत :

- परिचय
- पश्चिमी समाजों में समाजशास्त्र
- प्राचीन भारत में समाजशास्त्र
- भारत में समाजशास्त्र के विकास की प्रवृत्तियाँ
- भारतीय समाजशास्त्रयी सम्भावना

अध्याय के उद्देश्य :

इस अध्याय के अध्ययन के उपरांत आप जान सकेंगे :

- पश्चिमी समाजों में समाजशास्त्र की भूमिका
- प्राचीन भारत में समाजशास्त्र की भूमिका
- भारत में समाजशास्त्र के विकास की प्रवृत्तियाँ और
- जान सकेंगे समाजशास्त्र की संभावना

NOTES

bdkÃ&1 if'pe lektksa esa lekt'kkL=] çkphu Hkkjr esa lekt'kkL=

समाजशास्त्र की प्रकृति और इसके अध्ययन क्षेत्र को स्पष्ट करने के बाद यह समझना और अधिक आवश्यक हो जाता है कि भारत तथा दूसरे देशों में आधुनिक समाजशास्त्र का विकास किस प्रकार हुआ? किसी भी विज्ञान के विकास को समझने के लिए इसके भौतिक स्वरूप को देखना ही पर्याप्त नहीं होता बल्कि उन समस्याओं और प्रवृत्तियों को समझना भी आवश्यक होता है। जिनके सन्दर्भ में उसे एक विशेष स्वरूप प्राप्त होता है। प्रत्येक समाज में जैसे-जैसे व्यक्तियों के अनुभव बढ़ते हैं। और वे नई-नई परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं को महसूस करते जाते हैं। ज्ञान में भी विशेषीकरण बढ़ता जाता है। जहाँ तक समाजशास्त्र का प्रश्न है इसे अक्सर इसलिए एक नया विज्ञान मान लिया जाता है। कि इसके आध निक स्वरूप का निर्धारण हुए अभी अधिक समय व्यतीत नहीं हुआ है। इसके बाद भी यह नहीं भूलना चाहिए कि समाजशास्त्र मूल रूप से सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक ढाँचे तथा सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करने वाला विज्ञान है। इस अर्थ में इसके आधुनिक स्वरूप का इतिहास भले ही अधिक पुराना न हो लेकिन इसके मूल रूप का इतिहास हजारों वर्ष पुराना है। इसक प्रकार प्रस्तुत अध्याय में हम सर्वप्रथम पश्चिमी समाजों के सन्दर्भ में समाजशास्त्र के विकास का संक्षेप में उल्लेख करेंगे और इसके बाद भारत में समाजशास्त्र के विकास को स्पष्ट करते हुए इस विज्ञान के महत्व की विवेचना करेंगे।

पश्चिमी समाजों में समाजशास्त्र (Sociology in Western Societies)

पश्चिम में समाज के क्रमबद्ध और सुनिश्चित अध्ययन में पहला स्थान यूनानी विचारकों का है, जिन्होंने आज से लगभग 2300 वर्ष पहले सामाजिक सम्बन्धों का सूक्ष्म अध्ययन किया था। प्लेटो (Ploto) ने अपनी पुस्तक 'Republic' और अरस्तू (Aristotle) ने 'Politics' में अनेक महत्वपूर्ण सामाजिक विषयों जैसे-प्रथाओं, स्त्रियों की स्थिति, पारिवारिक सम्बन्धों तथा सामाजिक संहिताओं (social codes) का उल्लेख किया था। इसके बाद भी भारतीय विचारकों की तुलना में इनमें विचार व्यवस्थित नहीं थे, क्योंकि उन्होंने धर्म, दर्शन और विज्ञान को आपस में इतना मिला दिया था कि उनके किसी भी विचार को स्पष्ट रूप से समझना बहुत कठिन था। इसके उपरान्त भी यूनानी लेखकों ने ऐसे विचारों का प्रतिपादन अवश्य किया। जिनके आधार पर बाद में सामाजिक और आर्थिक सिद्धान्त व्यवस्थित रूप से स्पष्ट किये जाने लगे।

13वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से सामाजिक विचारों के विकास का दूसरा चरण आरम्भ हुआ जबकि सामाजिक घटनाओं को समझाने में तर्क को भी स्थान दिया जाने लगा। इस शताब्दी में थॉमस इक्युनस (1227-1274) तथा प्रसिद्ध विचारक डाण्टे (1262-1321) ने समाज के परिवर्तनशील तथ्यों का अध्ययन करने के लिए कार्य-कारण के सम्बन्ध को स्पष्ट किया और इस प्रकार इसी समय से विज्ञान की एक धुँधली-सी आकृति सामने आने लगी। 15वीं शताब्दी से सामाजिक घटनाओं का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन करने की प्रवृत्ति जरूर आरम्भ हो गई, लेकिन इनको आर्थिक घटनाओं से अलग नहीं किया जा सका। 17वीं शताब्दी में जेम्स हैरिंग्टन (James Harrington) नाम प्रमुख रहा जिन्होंने 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या' से सम्बन्धित एक व्यवस्थित सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसके पश्चात् 18वीं शताब्दी के अधिकांस विद्वानों ने उन आरम्भिक सिद्धान्तों की रूपरेखा प्रस्तुत की जिसके आधार पर मार्क्स और ऐंजिल्स ने अपनी विश्वविख्यात रचनाएँ प्रकाशित कीं। इन विद्वानों में गारनियर, जॉन मिलर, श्लोजर, एडम स्मिथ, तूरगो तथा बारनेव प्रमुख थे। यद्यपि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से इन विद्वानों के विचार बहुत कम महत्वपूर्ण थे, लेकिन इन सभी विद्वानों के विचारों में ऐसे 'बौद्धिक वातावरण' का निर्माण हुआ जिसमें आगे चलकर समाजशास्त्रीय विचार स्पष्ट होने लगे।

19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अधिसंख्य अर्थशास्त्रियों, दार्शनिकों और इतिहासवेत्ताओं ने आर्थिक परिस्थितियों पर ही सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित करके सामाजिक समस्याओं का अध्ययन किया। ऐसे विद्वानों में हलमैन, एडम मूलर, मॉडरर, तक प्रोधों के नाम प्रमुख हैं। यह वह समय था जब सामाजिक ज्ञान के बहुत उन्नत अवस्था में पहुँच जाने के बाद भी विभिन्न सामाजिक विज्ञानों का रूप एक-दूसरे से बहुत मिला-जुला था। कुछ सीमा तक वैज्ञानिक विधि का प्रयोग होने के बाद भी सामाजिक और आर्थिक घटनाओं के बीच स्पष्ट भेद नहीं किया गया था। अधिसंख्य सामाजिक विज्ञान समाज के एक विशेष पहलू का अध्यय करने में ही लगे हुए थे और कोई भी विज्ञान ऐसा नहीं था जो सम्पूर्ण समाज का अध्ययन

करता हो। इसी समय जेम्स मिल (James Mill) ने एक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री होते हुए भी एक ऐसे विज्ञान की कल्पना की जो सम्पूर्ण समाज का दर्पण हो। इस इच्छा की पूर्ति प्रसिद्ध समाजशास्त्री आगस्त कॉम्ट (Auguste Comte) ने सन् 1838 में 'Sociology' अथवा 'समाजशास्त्र' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग करके की। काम्ट का जीवन एक अर्थशास्त्री से प्रारम्भ हुआ था, लेकिन उनकी इसी सूझबूझ ने उन्हें एक महान सामाजिक और बाद में 'समाजशास्त्र का जनक' (Father of Sociology) के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। बाद में जॉन स्टुअर्ट मिल (J.S. Mill) ने इस शब्द का इंग्लैण्ड में व्यापक प्रचार किया और इस प्रकार आधुनिक वैज्ञानिक समाजशास्त्र' के अध्ययन की नींव डाली।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध (सन् 1873) में सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में हरबर्ट स्पेन्सर ने समाजशास्त्र पर प्रथम पुस्तक प्रकाशित की और सबसे पहले सन् 1876 में अमरीका के येल विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन आरम्भ हुआ। इसके अतिरिक्त इंग्लैण्ड में ही बकल, चार्ल्स वूथ, हॉसन, हाबहॉउस, वेस्टरमार्क, मानहीम, गिन्सबर्ग ओर मिल जैसे प्रसिद्ध समाजशास्त्रियों ने सामाजिक सम्बन्धों और सामाजिक प्रक्रियाओं का विस्तृत अध्ययन किया। फ्रांस में दुर्खीम, माउण्टेन, टार्डे तथा लीप्ले जैसे विद्वानों ने समाजशास्त्र के विकास में योगदान दिया। जर्मनी में 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 20वी शताब्दी के आरम्भिक वर्षो में महत्वपूर्ण समाजशास्त्रियों ने इस विज्ञान को विकसित किया। इनमें टॉनीज, वानविज, हीगल, कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर, वीरकान्त, सिमैल तथा शेखर के नाम प्रमुख हैं। अमरीका में तो समाजशास्त्र इतना लोकप्रिया विषय बन गया कि वहाँ सभी महत्वपूर्ण विचारक समाजशास्त्री ही हैं। ऐसे विद्वानों में गिडिंगस, समनर, लेस्टर वार्ड, जैननकी, रास, पार्क, बर्गेस, सारोकिन, जिमरमैन, मैकाइवर, ऑगबर्न, लुण्डबर्ग, पार्सन्स, मर्टन तथा नैडेल आदि प्रमुख हैं। आज संसार के लगभग सभी प्रगतिशील और विकासोन्मुख देशों में समाजशास्त्र को एक प्रमुख विषय के रूप में देखा जाता है और इसीलिए इसका तेजी से विकास हो रहा है।

प्राचीन भारत में समाजशास्त्र (Sociology in Ancient India)

भारत में सामाजिक अध्ययन का व्यवस्थित इतिहास आज से कम से कम चार हजार वर्ष पुराना है जबकि वैदिककाल में ही सामाजिक जीवन और मानवीय सम्बन्धों का सूक्ष्म अध्ययन करके व्यापक व्यवस्थाओं का निर्माण कर लिया गया था। यह वह समय था जब भारत में सामाजिक ज्ञान अपनी पराकाष्ठा पर था और यूरोप-निवासी अर्द्ध-जंगली अवस्था में इधर-उधर घूमते रहते थे। इस काल में व्यक्ति के व्यवहारों और सामाजिक सम्बन्धों के रूप को ही निर्धारिण नहीं किया गया बल्कि वर्णाश्रम अवस्था, कर्म, पुनर्जन्म, संयुक्त परिवार, ग्रामीण गणतन्त्र तथा विभिन्न वर्गो के अधिकारों आदि की भी व्यापक विवेचना करके समाज को संगठित बनाने में सफलता प्राप्त कर ली गई थी। इस प्रकार यदि हम समाजशास्त्र को सामाजिक सम्बन्धों और सामाजिक ढाँचे का व्यवस्थित अध्ययन मानते हैं तो कोई कारण नहीं कि भारत के समाजशास्त्र को अध्ययन का मूल स्त्रोत न माना जाए।

NOTES

प्राचीन भारत में वैदिक परम्परा को अधिक स्पष्ट रूप देने के लिए उपनिषदों की रचना की गई। इस समय यह स्वीकार किया गया कि व्यक्तिवादिता और भौतिकता के द्वारा समाज को अधिक समय तक संगठित नहीं रखा जा सकता। इस दृष्टिकोण से आध्यात्मिक दर्शन और पारलौकिकता को आधार मानकर व्यक्ति के कर्तव्यों का निर्धारण किया गया। भारत के समाजशास्त्रीय इतिहास का यह एक 'बौद्धिक काल' था जिसमें जीवन के महत्वपूर्ण लक्ष्य सुनिश्चित कर लिए गए थे।

ईसा से लगभग एक हजार वर्ष पहले हमारे समाज में परिवर्तन की एक नई प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। ऐसे परिवर्तनों पर रोक के लिए एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता महसूस की जाने लगी जो लोक-कल्याणकारी होते हुए भी परिवर्तन को प्रोत्साहित न करे। इसके फलस्वरूप सभी वर्गों को एक-दूसरे से पृथक कर दिया गया। इस समय अनुलोम विवाह के नियम का व्यापक प्रचार किया गया और सभी वर्णों को अपने क्षेत्र के अन्दर ही सामाजिक सम्पर्क रखने की अनुमति प्रदान की जाने लगी। यह युग वास्तव में राजनीतिक अस्थिरता का युग था। इसके फलस्वरूप सामाजिक व्यवस्था में जो परिवर्तन किए गए वे प्रगतिशील न रहकर अन्त में हमारी प्रगति में बाधक बन गए। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय अन्तर्विवाह, अनुलोम और जाति-भेद के जो नियन्त्रण लगाए गए वे केवल एक परीक्षण के लिए थे, यद्यपि बाद में कुछ निहित स्वार्थ-समुहों द्वारा 'शक्ति पर एकाधिकार' बनाये रखने की भावना के कारण इन नियन्त्रणों ने स्थायी रूप ग्रहण कर लिया।

भारत में सामाजिक अध्ययन और सामाजिक व्यवस्थाओं के रूपान्तरण का इतिहास यहीं समाप्त नहीं हो जाता। ईसा से लगभग 270 वर्ष पहले मौर्य युग में कौटिल्य ने एक बार पुनः सामाजिक व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन लाने के प्रयत्न किए जिनका उल्लेख 'कौटिल्य के अर्थशास्त्र' में मिलता है। मौर्य युग के बाद भारत में जिस सामाजिक व्यवस्था का निर्माण किया गया, वह पूर्णरूप के बाद (closed) और वर्ण-विभाजन की नीति पर आधारित थी। यद्यपि इस व्यवस्था के निर्माण में भृगु, याज्ञवल्क्य, पाराशर और नारद जैसे स्मृतिकारों का महत्वपूर्ण हाथ रहा लेकिन मूल रूप से इसकी स्थापना मनु द्वारा की गई। इनके द्वारा रचित मनुस्मृति वह दृढ़ आधार है जिसके द्वारा भारतीय समाज के भावी रूप का निर्धारण हुआ। यद्यपि आज अधिसंख्य सामाजिक विचारक मनुस्मृति को एक प्रतिक्रियावादी और पक्षपातपूर्ण रचना मानते हैं लेकिन एक समाजशास्त्री के रूप में हमारा उद्देश्य इसके गुण-अवगुण पर अधिक ध्यान न देकर केवल यह देखना है कि इसके अन्तर्गत सामाजिक व्यवस्था को कैसा रूप देने का प्रयत्न किया गया। समाजशास्त्रीय रूप से मनुस्मृति सामाजिक ज्ञान का विस्तृत भण्डार है, जिसमें व्यक्ति तथा समाज, वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था, आश्रम, संस्कार, विवाह, परिवार, राज-व्यवस्था, न्याय और धर्म की व्यापक विवेचना की गई है। मनु ने अपने व्यापक अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि व्यक्ति स्वयं में पूर्ण नहीं हो सकता बल्कि वह सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था का एक अंग मात्र है। सम्भवत: इसी के आधार पर वर्तमान समाजशास्त्रियों ने समाज की सावयवी विचारधारा (organismic view of society) का प्रतिपादन किया।

वास्तविकता यह है कि हमारे सामाजिक जीवन का कोई भी अंग ऐसा नहीं है जिसका तत्कालीन विद्वानों ने अध्ययन न किया हो। इसके उपरान्त भी प्राचीन भारत में जो सामाजिक अध्ययन किए गए उन्हें अनेक आधारों पर 'समाजशास्त्रीय अध्ययन' कहने में आपत्ति की जाती है।

(1) सर्वप्रथम वैदिककाल से लेकर स्मृतिकार तक के सभी सामाजिक अध्ययनों का आधार धार्मिक है, सामाजिक नहीं। ऐसी स्थिति में इन्हें पूर्णतया समाजशास्त्रीय कहना उचित नहीं है।

(2) प्राचीन भारत की सभी सामाजिक व्यवस्थाओं में किसी-न-किसी वर्ग की पक्षपातपूर्ण मनोवृत्ति

निहित रही है। ऐसी प्रवृत्ति को कठिनता से ही 'समाजशास्त्रीय' कहा सकता है।

(3) विभिन्न धर्मशास्त्रों के कथन परस्पर विरोधी हैं जिसके कारण स्पष्ट रूप से यह ज्ञात नहीं किया जा सकता कि किस अवधि में कौन-सी व्यवस्था को जनसामान्य को अधिक समर्थन प्राप्त था। इस स्थिति के कारण भी तत्कालीन अध्ययनों को समाजशास्त्रीय परिधि में लाना बहुत कठिन हो जाता है।

वास्तविकता यह है कि भारत की संस्कृति और सामाजिक व्यवस्था का इतिहास बहुत प्राचीन होने के कारण इस प्रकार की शंकाएँ उठना बहुत स्वाभाविक है यदि विभिन्न विद्वानों के विचारों के कुछ मतभेद रहा भी, तो बाहर कर दिया जाए। सामाजिक व्यवस्था के बारे में विचारों की भिन्नता से तो इसे और अधिक परिपक्वता मिलती है। जो विद्वान इन विचारों को धार्मिक आधार के कारण समाजशास्त्रीय नहीं मानते, वे यह भूल जाते हैं कि सामाजिक व्यवस्था किसी भी समाज की तत्कालीन विशेषताओं और संस्कृति के द्वारा निर्धारित होती है। हमारा वैदिक और स्मृतिकालीन समाज एक धर्म-प्रधान समाज रहा है और इसीलिए उस समय सामाजिक व्यवस्थाओं के साथ धार्मिक विश्वासों का जुड़ा होना बहुत स्वाभाविक था। इससे यह स्पष्ट होता है कि भारत में आज से चार हजार वर्ष पहले से ही समाजशास्त्रीय अध्ययन की एक स्वस्थ परम्परा आरम्भ हो चुकी थी, यद्यपि बाद में बहुत से राजनीतिक और सांस्कृतिक कारणों से यह परम्परा निरन्तर क्षीण पड़ती गई। यह काल 7वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी तक का है, जिसमें पश्चिमी विचारक अपनी सामाजिक व्यवस्थाओं का अध्ययन करने में बहुत आगे निकल गए जबकि भारत में सामाजिक अध्ययन के प्रति निरन्तर उदासीनता बढ़ती गई।

इकाई-2
आधुनिक भारत में समाजशास्त्र का विकास
(Development of Sociology in Modern India)

भारत में आज जिन सिद्धान्तों के आधार पर समाजशास्त्र का तेजी से विकास हो रहा है। उसका इतिहास अधिक पुराना नहीं है। यूरोप में यद्यपि 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध (later half) में ही आधुनिक समाजशास्त्र की नींव पड़ चुकी थी, लेकिन बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से अमरीका, इंग्लैण्ड, जर्मनी और फ्रांस ने समाजशास्त्रीय अध्ययनों के द्वारा जितनी तेजी से प्रगति की वह भारत के लिए भी एक आकर्षण की बात थी। भारत में बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक कोई ऐसा विज्ञान विकसित नहीं हो सका था। जो सम्पूर्ण समाज का वैज्ञानिक आधार पर अध्ययन कर सकता हो। इस समय तक सभी सामाजिक अध्ययन केवल आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक अथवा दार्शनिक आधार पर ही किये जाते थे। पश्चिम में समाजशास्त्र का विकास होने के साथ ही अनके भारतीय विद्वानों का ध्यान भी समाजशास्त्र की ओर आकर्षित होना आरम्भ हुआ। इसके फलस्वरूप स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले तक भारत में सम्पूर्ण समाजशास्त्रीय अध्ययन मुख्यतः इंग्लैण्ड में प्रतिपादित सैद्धान्तिक विचारधारा से ही प्रभावित रहे जबकि स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत में समाजशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन अमरीका की समाजशास्त्रीय परम्परा से प्रभावित होने लगा। इस दृष्टिकोण से प्रस्तुत विवेचन में हम सर्वप्रथम भारत में समाजशास्त्र के विकास का संक्षिप्त इतिहास स्पष्ट करेंगे और इसके पश्चात् भारतीय विद्वानों के सन्दर्भ में भारतीय समाजशास्त्र से सम्बन्धित विकास की प्रमुख प्रवृत्तियों (trends) की विवेचना करेंगे।

आधुनिक भारत में समाजशास्त्र का इतिहास

भारत में समाजशास्त्र का अध्ययन सबसे पहले बम्बई विश्वविद्यालय द्वारा सन् 1914 में आरम्भ किया गया। सन् 1919 में यहाँ समाज के पृथक् विभाग की स्थापन करके पैट्रिक गिड्स को इसका अध्यक्ष

नियुक्त किया गया। इसके दो वर्ष पश्चात् ही लखनऊ विश्वविद्यालय ने सन् 1921 में अर्थशास्त्र विभाग के अन्तर्गत समाजशास्त्र विषय को मान्यता दी। सन् 1928 में मैसूर विश्वविद्यालय में इस विषय को डिग्री स्तर पर मान्यता दी गयी जबकि पूना विश्वविद्यालय में श्रीमती इरावती कर्वे की अध्यक्षता में समाजशास्त्र विभाग सन् 1939 में स्थापित हुआ। इन सभी विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र की स्थापना एक पृथक् विषय के रूप में न होकर इसे अर्थशास्त्र, मानवशास्त्र अथवा सामाजिक दर्शन के साथ ही जोड़े रखा गया था। यही कारण है कि आरम्भ में भारत में जो विद्वानों समाजशास्त्रीय विचारधारा को लेकर आगे बढ़े और जिन्होंने इस विषय को समृद्ध बनाने के व्यापक प्रयत्न किए, वे मूलरूप से अर्थशास्त्री तथा मानवशास्त्री ही थे। इसके पश्चात् भी वास्तकिवता यह है कि स्वतन्त्रता के पहले तक भारत में समाजशास्त्र का न तो अधिक विस्तार हो सका और न ही इसके पृथक् महत्व को स्वीकार किया जा सका। सन् 1947 के बाद से समाजशास्त्र की लोकप्रियता तेजी से बढ़ने लगी क्योंकि इस समय से समाज का नये सिरे से पुनर्गठन करना भी आवश्यक समझा जाने लगा। इसके फलस्वरूप उत्तर प्रदेश में लखनऊ के अतिरिक्त आगरा, काशी विद्यापीठ, वाराणासी, मेरठ, कानपुर, गारेखपुर, अलीगढ़, कुमायूँ, गढ़वाल, कुमायूँ, गढ़वाल, रुहेलखण्ड, बुन्देलखण्ड और अवध विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र को एक पृथक् और महत्वपूर्ण विषय के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। मध्य प्रदेश में भोपाल, जबलपुर, विक्रम, जीवाजी, इन्दौर, सागर, अवेधश प्रतासिंह, बिलासपुर और रायपुर विश्वविद्यालयों तथा राजस्थान में उदयपुर, जोधपुर तथा जयपुर आदि विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र विभागों की स्थापना हुई, बिहार में पटना, दरभंगा, मुजफ्फरपुर, बोधगया, भागलपुर तथा राँची समाजशास्त्र के प्रमुख अध्ययन केन्द्र बन गए। इसके अतिरिक्त दिल्ली, गुजरात, कर्नाटक, नागपुर, उस्मानिया, बड़ौदा, पूना, मद्रास, पंजाब, उत्कल, रोहतक, कुरुक्षेत्र, तथा अनेक दूसरे विश्वविद्यालयों में भी समाजशास्त्र विषय को तेजी से लोकप्रियता मिलने लगी।

भारत में समाजशास्त्र के विकास के लिए अनेक शोध संस्थाओं की भी स्थापना की गई है। इनमें टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइन्सेस बम्बई; जे० के० इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशियोलॉजी एण्ड सोशल वर्क्स, लखनऊ तथा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइन्सेस, आगरा आदि प्रमुख हैं। इन सभी संस्थाओं के प्रयत्नों से भविष्य में समाजशास्त्र का विकास और अधिक तेजी से होने की आशा की जा सकती है।

भारत में समाजशास्त्र के विकास की प्रवृत्तियाँ

भारत में समाजशास्त्र के विकास का इतिहास बहुत छोटा होने के कारण इसके साथ नये-नये विचारों का प्रतिपादन होता रहा है। एक ओर कुछ विद्वान वे हैं जो पूर्णतया पश्चिमी सिद्धान्तों के आधार पर ही भारत में समाजशास्त्र का विकास करना चाहते हैं जबकि दूसरी ओर अनेक विद्वान वे हैं जिनके अनुसार भारत में समाजशास्त्र का विकास पूर्णतया भारतीय संस्कृति और भारतीय आवश्यकतओं के आधार पर होना चाहिए। एक तीसरी विचारधारा प्रोफेसर राधाकमल मुखर्जी और प्रोफेसर डी० पी० मुखर्जी की है जिनके अनुसार पश्चिमी और भारतीय विचारधारा का समन्वय करके ही भारत में समाजशास्त्र को आगे बढ़ाया जा सकता है। अग्रलिखित विवेचन में हम तीनों विचारधाराओं का संक्षेप में उल्लेख करके भारत में समाजशास्त्रीय विकास की प्रवृत्ति को समझाने का प्रयत्न करेंगे।

प्रथम विचारधारा

प्रथम विचारधारा यह है कि भारत में समाज शास्त्र को विकसित करने के लिए हमें पाश्चात्य अध्ययन पद्धतियों और समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की सहायता लेना आवश्यक हैं। वास्तव में भारत में इस विचारध रा से प्रेरित होकर कार्य करने वाले समाजशास्त्रियों की संख्या सबसे अधिक है इस विचारधारा से प्रभावित

होकर विभिन्न विद्वानों ने जिन प्रमुख विषयों का अध्ययन किया है, उसे इस प्रकार समझा जा सकता है।

(क) इन विद्वानों में सबसे पहले हम उन विचारकों को ले सकते हैं जिन्होनें सामाजिक संस्थाओं, जैसे परिवार, सामाजिक-वर्ग, विवाह, विवाह, जाति तथा धर्म आदि विषयों पर कार्य किया है। इनमें हट्टन, मजूमदार, रिजले, घुरिले, कापडिया, श्रीनिवास तथा इवारती कर्वे आदि के नाम अधिक महत्वपूर्ण हैं। **डॉ. हट्टन** और **मजूमदार** ने जहाँ भारत की जाति-व्यवस्था का अध्ययन करने में अग्रणी कार्य किया है, वहीं **इरावती कर्वे** तथा **के० एम० कापडिया** ने परिवार, विवाह और नातेदारी की व्याख्या आधुनिक सिद्धान्तों के सन्दर्भ में की है। इसी प्रकार डॉ घुरिये ने भी पश्चिमी और भारतीय परिवारों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं।

(ख) इस वर्ग में दूसरे विद्वान हैं जिनका प्रमुख ध्यान विभिन्न समाजों में पाये जाने वाले नैतिक विचारों और धार्मिक विचारों और धार्मिक विश्वासों के तुलनात्मक अध्ययन पर रहा है। इस क्षेत्र में **डॉ0 एम0 एन0 श्रीनिवास** की पुस्तक 'Religion and Society among the Coorgs of South India' सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसके पश्चात् यह भी ध्यान रखना होगा। कि इस विषय को एक प्रकार से अछूता ही छोड़ दिया गया है जबकि यह 'भारतीय समाजशास्त्र' के अध्ययन का एक महत्वपूर्ण विषय बन सकता था।

(ग) भारत में एक तीसरी प्रवृत्ति ग्रामों का अध्ययन करने की रही है यद्यपि इस प्रकार के अध्ययन में **डॉ0 एस0 सी0 दूबे** की पुस्तक 'India's Changing Villages' तथा **डॉ0 मजूमदार** की पुस्तक 'Rural Profile' प्रमुख हैं लेकिन ये सभी अध्ययन पूर्णयता अमरीकी परम्परा से ही सम्बद्ध हैं।

(घ) इस वर्ग की चौथी प्रवृत्ति को 'सामाजिक अर्थशास्त्र' (Social Economics) कहा जा सकता है जिसमें सामाजिक और आर्थिक कारकों के पास्परिक प्रभाव का अध्ययन किया गया है। इस प्रवृत्ति का विकास **डॉ० राधाकमल मुखर्जी** तथा **प्रो० डी० पी० मुखर्जी** के द्वारा हुआ क्योंकि आरम्भ में ये दोनों विद्वान अर्थशास्त्री ही रहे थे। **डॉ० राधाकमल मुखर्जी** ने 'अर्थशास्त्र का संस्थात्मक सिद्धान्त (The Institutional Theory of Economics) प्रतिपादित करके यह बताया कि आर्थिक जीवन में परम्पराओं तथा सामाजिक मूल्यों का महत्वपूर्ण स्थान है। इसी प्रकार **प्रो० डी० पी० मुखर्जी** ने अर्थशास्त्र के प्राचीन ज्ञान को इतिहास और समाजशास्त्र के ज्ञान से जोड़ने का प्रयत्न किया। यद्यपि आरम्भ में ये अध्ययन पश्चिमी विचारधारा पर आधारित थे लेकिन बाद में इसी सूझ-बूझ के द्वारा इन विद्वानों ने पश्चिमी और भारतीय विचार धारा का समन्वय करके समाजशास्त्र के विकास में योगदान किया जिसका विस्तृत विवेचन हम तीसरी विचारधारा के अन्तर्गत करेंगे।

द्वितीय विचारधारा

इस विचारधारा के समर्थकों का मत है कि भारतीय समाज के अध्ययन के लिए पश्चिमी सिद्धान्तों का अन्धानुकरण करना बिल्कुल निरर्थक है। इसलिए भारत में एक ऐसे समाजशास्त्र का विकास होना चाहिए, जो पूर्णतया भारत के परम्पराग सिद्धान्तों पर आधारित हो। इस विचारधारा के प्रतिपादकों में कुमारस्वामी और डॉ० भगवानदास प्रमुख हैं। **श्री कुमारस्वामी** और **डॉ0 भगवानदास** का मत है कि भारतीय समाज में जब कभी भी विघटन के तत्व पैदा हुए तब इसी के अन्दर से एक न एक नई संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ, लेकिन पश्चिम का अनुकरण करने से भारतीय समाज में विदेशी संस्कृतियों का समावेश हो गया जो हमारे लिए अधिक अनुकूल सिद्ध नहीं हुआ। इसलिए भारतीय समाजशास्त्र को अपने परम्परागत सिद्धान्तों तक ही सीमित रहना चाहिए। इस दृष्टिकोण से कुमारस्वामी ने 'प्रतीकों' (symbols) का विस्तृत अध्ययन

करके उनकी सामाजिक उपयोगिता का उल्लेख किया है इसके उपरान्त भी ये दोनों विद्वान भारत के परम्परागत विचारों को धार्मिक पृष्ठभमि में स्पष्ट न करके तार्किक आधार पर स्पष्ट करने के पक्ष में हैं। इस विचारधारा के अन्तर्गत हम ए० के० सरना, प्रो० नगेन्द्र, प्रो० नर्मदेश्वर प्रसार तथा डॉ० केवल मोटवानी को भी सम्मिलित कर सकते है। प्रो० सरन ने भारत के परम्परागत सामाजिक मूल्यों (social values) के आधार पर ही समाज की सम्पूर्ण संरचना को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है जबकि प्रो० नगेन्द्र ने प्रतीकों (symbols) का अध्ययन करके भारतीय समाजशास्त्र को समृद्ध बनाया है। डॉ० नर्मदेश्वर प्रसाद ने भारत की जाति-व्यवस्था का विस्तृत अध्ययन करके यह दिखलाने की कोशिश की है कि भारतीय संस्थाएँ अपने आप में इतनी जटिल और व्यापक हैं। कि हमें दूसरे समाजों की ओर देखने की अभी आवश्यकता नहीं है। इसके पश्चात् भी यह स्वीकार करना होगा कि भारत के अनेक समाजशास्त्री इस विचारधारा से समहत नहीं हैं। उन्हें डर है कि केवल परम्परागत सिद्धान्तों को ही महत्व देने से समाजशास्त्र वैज्ञानिकता के गुण से वंचित हो जाएगा।

तृतीय विचारधारा

तृतीय विचारधारा के प्रतिपादकों में प्रो० राधाकमल मुखर्जी, प्रो० डी० पी० मुखर्जी तथा प्रो० आर० एन० सक्सेना आदि प्रमुख हैं। इन तीनों विद्वानों ने परम्परागत अनेक आधुनिक विचारों का समन्वय करके समाजशास्त्र की विषय-वस्तु का निर्धारण करने का प्रयत्न किया है:

(क) **प्रो0 राधाकमल मुखर्जी** के विचार व्यापक तो हैं ही, साथ ही उन्होंने अन्त वैज्ञानिक उपागम (interdisciplinery approach) से समाजशास्त्र के तथ्यों की विवेचना की है। 'अन्त वैज्ञानिक उपागम' का तात्पर्य विभिन्न स्थानों के विचारों का समन्वय करके नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करना है। इस प्रकार आपका विश्वास है कि समाजशास्त्रीय विचारों को तभी विकसित किया जा सकता है, जब परिस्थिति सम्बन्धी कारकों (ecological factors) का सामाजिक मूल्यों से समन्वय किया जाए और नैतिक तथा आध्यात्मिक तथ्यों को एक-दूसरे के सन्दर्भ में समझा जाए। इसके लिए आपने ऐतिहासिक दृष्टिकोण को प्रधानता दी है। प्रो० मुखर्जी का विचार है कि 'समाज के सामान्य सिद्धान्त' (general theory of society) को तभी समझा जा सकता है, जब समाज के संस्तरण (hierarchy) और उसमें व्याप्त अलौकिक विश्वासों को समान महत्व दिया जाए। इन सभी विचारों का प्रतिपादन अपनी प्रसिद्ध पुस्तकों 'Dynamics of Morals' तथा 'Social Ecology' में किया है।

(ख) भारत में समाजशास्त्र के विकास में **प्रो0 डी0 पी0 मुखर्जी** का योगदान भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। आपका विचार है कि भारतीय संस्कृति में पश्चिम के प्रभात से संस्कृतिकरण और सामाजिक परिवर्तन की एक नयी प्रक्रिया पैदा हुई है। यह संस्कृति का समन्वय (synthesis of culture) है जिसका अध्ययन भारतीय इतिहास के सन्दर्भ में किया जाना चाहिए। इसके बाद भी प्रो० मुखर्जी भारतीय संस्कृति का अध्ययन करने में माक्सवादी तरीके को उचित नहीं मानते। अपने बाद के अध्ययनों में प्रो० मुखर्जी ने भारतीय संस्कृति में परम्पराओं के कार्य को अधिक महत्व दिया। यद्यपि आप परम्परावादी तो नहीं हैं लेकिन यह आपका दृढ़ विश्वास है कि 'हिन्दू सामाजिक व्यवस्था' में व्यक्ति और समाज की पुनर्व्याख्या करने के लिए परम्पराओं का अध्ययन करना सबसे अधिक आवश्यक है। इस समन्वयवादी विचार को आपके एक कथन से स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है: "मेरे विचार से भारतीय परम्पराओं का अध्ययन करना भारतीय समाजशास्त्रियों का पहला कर्तव्य है। इसके साथ

ही भारतीय परम्पराओं में उत्पन्न होने वाले समाजवादी परिवर्तनों की व्याख्या आर्थिक शक्तियों के सन्दर्भ में की जानी चाहिए। ''प्रो० डी० पी० मुखर्जी ने पार्सन्स (Parsons) के इस विचार को मान्यता नहीं दी है कि 'कर्ता की परिस्थिति' (actor's situation) ही उसके व्यवहारों को प्रभावित करती है क्योंकि भारतीय सन्दर्भ में एक व्यक्ति के व्यवहार केवल उसी की परिस्थिति से प्रभावित नहीं होते, बल्कि सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था से प्रभावित होते हैं। यह एक ऐसी स्थिति है जो भारतीय समाज में ही विद्यमान है, इसलिए समाजशास्त्र का विकास इस समन्वयकारी प्रवृत्ति के आधार पर ही होना चाहिए।

(ग) इस सन्दर्भ में **डॉ० आर० एन० सक्सेना** के विचार भी महत्वपूर्ण हैं। आपने भी भारत के परम्परागत सिद्धान्तों की विवेचना को अधिक महत्व देते हुए यह बताया है कि इन सिद्धान्तों का अध्ययन इनमें होने वाले वर्तमान परिवर्तनों और उपयोगिता के आधार पर होना चाहिए। इस दृष्टिकोण से डॉ० सक्सेना ने 'पुरुषार्थ' अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सभी मानवीय सम्बन्धों का आधार मानते हुए समाजशास्त्र में इनके अध्ययन पर बल दिया है। आपका कथन है, ''भारतीय समाजशास्त्रीयों ने उन भारतीय विचारों पर अधिक ध्यान नहीं दिया है जो सबसे अधिक प्राचीन ही नहीं बल्कि मनुष्य और उसके जीवन को समझने के लिए अनुपम भी है। ये विचार धार्मिक आन्दोलनों के कारण और भी अधिक समृद्ध बन गए हैं। ये विचार अनेक भारतीय समाज अनेक सांस्कृतिक विशेषताओं और विचारों का एक महान समन्वय बन गया है इस दृष्टिकोण से यह सबसे अधि आवश्यक है कि हम ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भारतीय सामाजिक विचारों की व्याख्या करें और उन तथ्यों को ज्ञात करें जिन्होंने इन विचारों को स्थिरता ही नहीं दी बल्कि समय-समय पर इनमें परिवर्तन भी उत्पन्न किया है।''

इकाई-3

भारत में समाजशास्त्र के विकास के सैद्धान्तिक उपागम

(Theoretical Approaches of the Development of Sociology in India)

भारत में समाजशास्त्र के विकास को यदि सैद्धान्तिक उपागमों (Theoretical Approaches) के दृष्टिकोण से देखा जाय तो इन्हें हम 'विकास की सैद्धान्तिक प्रवृत्तियों' का नाम दे सकते हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात् इस रूप में विकसित होने वाली प्रवृत्तियों अथवा उपागमों को निम्नलिखित रूप से समझा जा सकता है:

(1) तुलनात्मक ऐतिहासिक उपागम (Comparative-Historical Approach)-इस उपागम को विकसित करने का श्रेय मुख्य रूप से प्रोफेसर घुरिये को है। डॉ0 घुरिये ने यह स्पष्ट किया कि समाज के विभिन्न पक्षों का सही विश्लेषण ऐतिहासिक तथ्यों से उनकी तुलना करके ही किया जा सकता है। इसका तात्पर्य है यदि हम जाति-व्यवस्था, नातेदरी-व्यवस्था, ग्रामीण समाज में होने वाले परिवर्तनों आदि का अध्ययन करना चाहते हैं तो परम्परागत तथ्यों के सन्दर्भ में ही इनका सही विश्लेषण किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सामाजिक संरचना अथवा परिवर्तन की प्रक्रियाओं का अध्ययन करने के लिए यदि अनुभवसिद्ध तथ्यों का उपयोग करना आवश्यक हो तो इनकी विवेचना प्राचीन भारतीय इतिहास से प्राप्त तथ्यों की तुलना करके ही की जानी चाहिए। इस उपागम का बाद में कापडिया ने व्यापक रूप से उपयोग किया। डॉ० ए० आर० देसाई ने भी ग्रामीण समाज में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करने के लिए इसी उपागम का उपयोग किया है।

(2) दार्शनिक-समाजशास्त्र उपागम (Philosophico-Sociological Approach)-यह उपागम

NOTES

इस दृष्टिकोण पर आधारित है कि समाजशास्त्रीय विवेचन उन अनेक तथ्यों पर आधारित है। जिनका सम्बन्ध साधारणतया दर्शन से समझा जाता रहा है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण यद्यपि दार्शनिक नहीं होता लेकिन इसमें नैतिकता, मूल्यों, प्रतीकों तथा क्षेत्रीय संस्कृति की विशेषताओं को व्यवस्थित रूप से अध्ययन करना आवश्यक है। इस उपागम का सबसे अधिक उपयोग राधाकमल मुखर्जी तथा डी0 पी0 मुखर्जी ने किया। इन दोनों विद्वानों ने आरम्भ में सामाजिक तथ्यों का अध्ययन करने के लिए अनुभवसिद्ध दृष्टिकोण (impirical approach) को अपनाया लेकिन बाद में सामाजिक मूल्यों, प्रतीकों तथा परम्पराओं के विवेचना में दार्शनिक समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को प्रधानता दी। **डी0 पी0 मुखर्जी** ने हिन्दू सिद्धान्तों के सन्दर्भ में व्यक्ति और समाज की जो विवेचना प्रस्तुत की है वह भी इसी उपागम पर आधारित है।

(3) तार्किक-दार्शनिक उपागम (Logico-Philosophical Approach)-यह उपागम उपर्युक्त दृष्टिकोण से कुछ मिलता-जुलता होने पर भी उससे भिन्न हैं इस उपागम को विकसित करने वे प्रो0 ए0 के0 सरन ने सबसे अधिक योगदान किया है। यह उपागम इस दृष्टिकोण पर आधारित है कि सामाजिक तथ्यों की विवेचना किसी विशेष परम्परा के सन्दर्भ में नहीं की जानी चाहिए बल्कि सामान्य परम्पराओं की तार्किक एवं दार्शनिक आधार पर विवेचना करने से ही एक विशेष सामाजिक व्यवस्था को समझा जा सकता है प्रोफेसर सरन ने अपने लेख 'भारत में समाजशास्त्र' के अन्तर्गत यह स्पष्ट किया कि सामाजिक व्यवस्था और मानवीय व्यवहारों का धार्मिक तथा प्रतीकात्मक सन्दर्भ में अध्ययन करना सम्भव है लेकिन इसके लिए तार्किक दृष्टिकोण रखना बहुत आवश्यक है। ऐस अध्ययन दार्शनिक तथा धार्मिक रचनाओं को आधार मानकर भी किये जा सकते हैं।

(4) संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम (Structural Functional Approach)-भारत में समाजशास्त्रीय अध्ययन का यह उपागम सबसे अधिक प्रचलित है। इसके अन्तर्गत जहाँ एक ओर सामाजिक संरचना की विभिन्न इकाइयों का विश्लेषण किया जाता है। वहीं उनके प्रकार्यों के विवेचना को भी महत्व दिया जाता है। भारत में ग्रामीण समुदायों, धार्मिक संस्थाओं, शक्ति संरचना, परिवर्तन की प्रक्रियाओं तथा परम्पराओं का अध्ययन साधारणतया इसी दृष्टिकोण के आधार मानते हुए किया गया है इस उपागम का उपयोग करने वाले विद्वानों में एम0 एन0 श्रीनिवास, श्यामाचरण दुबे, डी० एन० मजूमदार मैकिम, मैरिएट, ड्यूमो तथा पोकॉक आदि प्रमुख हैं। यह उपागम इस मान्यता पर आधारित है कि सभी सामाजिक तथ्यों तथा घटनाओं में एक कार्यात्मक एकता पायी जाती है तथा परविर्तन की दशा में इस प्रकार्यात्मक एकता को समझकर ही किसी तथ्य का समुचित विश्लेषण किया जा सकता है। वास्तविकता यह है कि अध्ययन का यह उपागम सामाजिक शोध की दिशा में बहुत सहायता सिद्ध हुआ है इसकी सहायता सेन केवल महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय अवध रणाएँ विकसित को सकी हैं बल्कि भारतीय समाज में व्याप्त परिवर्तन की प्रमुख प्रक्रियाओं को भी इसी के द्वारा समझाना सम्भव हो सकता है।

(5) सांख्यिकीय प्रत्यक्षवादी उपागम (Statistical-Positivistic Approach)-यह दृष्टिकोण सामाजिक घटनाओं का प्रत्यक्ष रूप से अवलोकन करके विभिन्न विशेषताओं को संख्या के रूप में प्रस्तुत करने पर देता है। भारत में ग्रामीण समुदायों, नगरीय क्षेत्रों, जनसंख्या सम्बन्धी विशेषताओं तथ मनोवृत्ति सम्बन्धी अध्ययनों में इस उपागम का बहुत अधिक उपयोग किया गया है। यह सच है कि यह दृष्टिकोण नए सिद्धान्तों का विकास करने में बहुत कम योगदान कर पाता है। लेकिन घटनाओं

की अनुभवसिद्ध व्याख्या करने में इसका योगदान बहुत अधिक है वास्तव में यह उपागम प्रकार्यवादी उपागम का ही एक संशोधित रूप है।

NOTES

उपर्युक्त उपागमों के अतिरिक्त ड्यूमो तथा पोकॉक ने यह सुझाव दिया है कि यदि हम एक भारतीय समाजशास्त्रीय जैसी शाखा को विकसित करना चाहते हैं तो इंग्लैण्ड और अमरीका में विकसित होने वाले अध्ययन के उपागम अधिक लाभप्रद सिद्ध नहीं हो सकते। हमारे लिए एक ऐसे दृष्टिकोण की आवश्यकता है जिसमें भारत के ही प्राचीन ग्रन्थों तथा साहित्य के आधार पर यहाँ की सामाजिक संरचना का विश्लेषण किया जाय। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम विभिन्न क्षेत्रों को अपने अध्ययन का आधार न मानकर जाति और नातेदारी जैसी परम्परागत संस्थाओं की सहायता से सामाजिक संरचना को स्पष्ट करने का प्रयत्न करें। दूसरी बात यह है कि सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में अनुभवसिद्ध तथ्यों (Empirical data) पर आवश्यकता से अधिक बल नहीं दिया जाना चाहिए। आवश्यक यह है कि सांस्कृतिक विशेषताओं के सन्दर्भ में सामाजिक तथ्यों का विश्लेषण किया जाए। इस प्रकार स्पष्ट होता है। कि भारत में समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए अनेक दृष्टिकोण अपनाये गए हैं लेकिन अभी भी इस बात पर विवाद बना हुआ है कि भारत में समाजशास्त्र के अध्ययन के लिए कौन-सा दृष्टिकोण सबसे अधिक उपयुक्त हो सकता है।

भारतीय समाजशास्त्र की सम्भावना (Possibility of an Indian Sociology)

भारत में समाजशास्त्र के विकास में सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या यह पृथक् भारतीय समाजशास्त्र को विकसित करना सम्भव है? इसके उत्तर के लिए हमें भारत में समाजशास्त्र के विकास के आरम्भिक स्वरूप और समाज की वर्तमान दशाओं पर ध्यान देना आवश्यक है। भारत में स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद बहुत से भारतीय समाजशास्त्रीय अमरीका तथा योरोप के कुछ देशों की ओर आकर्षित होने लगे। जिन समाजशास्त्रियों ने इन देशों में विभिन्न प्रकार का प्रशिक्षण प्राप्त किया, वे अमरीका तथा दूसरे पश्चिमी देशों की अध्ययन पद्धतियों को यहाँ भी लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न करने लगे। इसी समय बेली (Bailey) ने सन् 1957 में अपने एक लेख में यह प्रश्न उठाया कि जिस तरह जर्मन समाजशास्त्र, ब्रिटिश समाजशास्त्र तथा अमरीकन समाजशास्त्र पृथक रूप में विकसित हुए, उसी प्रकार क्या 'भारतीय समाजशास्त्र' को भी समाजशास्त्र के एक विशेष रूप में विकसित किया जा सकता है? तभी से विद्वानों का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षिक होना आरम्भ हुआ कि भारत जैसी समृद्ध संस्कृति वाले देश में भारतीय समाजशास्त्र के विकास की सम्भावना क्या है?

आरम्भ में अनेक विद्वानों ने भारतीय समाजशास्त्र को एक पृथक रूप देने के लिए महत्वपूर्ण प्रयत्न किये। इन विद्वानों में वाई० बी० दामले, योगेन्द्रसिंह, एम० एन० श्रीनिवास, टी० ए० मदान, सच्चिदानन्द आदि का नाम प्रमुख है इन विद्वानों ने भारतीय समाज की संरचनात्मक विशेषताओं को आधार मानकर अनेक अध्ययन करने के प्रयत्न किये। इस समय इस तथ्य पर बल दिया जाने लगा कि भारत की सामाजिक संस्थाओं, परिवार, जाति-व्यवस्था, सामाजिक मूल्यों, प्रतीकों, परम्पराओं संस्कारों तथा उप-संस्कृतियों का अध्ययन करके ही भारतीय समाज की सामाजिक सांस्कृतिक विशेषताओं को समझ जा सकता है एम० एन० श्रीनिवास ने भारत की जाति पर आधारित समाज को अपने अध्ययन का आधार मानते हुए संस्कृतिकरण (Sanskritization) तथा लौकिकीकरण (Secularization) जैसी प्रक्रियाओं को प्रस्तुत किया। सच्चिदानंद ने भारतीय समाज में हरिजनों की स्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए 'हरिजन अभिजात वर्ग' (Harizan Elite) की अवधारणा प्रस्तुत की। इनता ही नहीं, इस समय इंग्लैण्ड से आकर यहाँ कार्य करने वाले अनेक मानशास्त्रियों ने भी भारतीय समाज और संस्कृति को ही अपने अध्ययन का आधार माना। इनमें मेकिम मैरिएट तथा राबर्ट रैडफील्ड के नाम प्रमुख हैं। मैरिएट ने लघु और वृहत परम्पराओं का

अध्ययन करके सर्वव्यापीकरण और स्थानीकरण (Universalization and Parochialization) की अवधारणाएँ प्रस्तुत की जबकि रैडफील्ड ने भारत की ग्रामीण विशेषताओं के आधार पर 'लघु समुदाय' तथा 'कृषक समाज' की अवधारणाओं को एक नये रूप में प्रस्तुत किया।

NOTES

वास्तविकता यह है कि भारतीय समाज एक विशिष्ट समाज है इसकी तुलना संसार के किसी भी दूसरे समाज से नहीं की जा सकती। यहाँ की सम्पूर्ण सामाजिक संरचना एक ओर परिवार तथा नातेदारी व्यवस्था पर आधारित है तो दूसरी ओर व्यक्तियों के व्यवहार प्रतिमान तथा मनोवृत्तियों पर जाति-व्यवस्था, परम्परा एवं सांस्कृतिक मूल्यों का स्पष्ट प्रभाव देखने को मिलता है। भारत में वर्णाश्रम धर्म, व्यवसाय का अनुवांशिक स्वरूप, ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था, जजमानी व्यवस्था, लघु ओर वृहत परम्पराओं की पारस्परिक निर्भरता तथा अध्यात्मवाद आदि ऐसी विशेषताएँ हैं जिनका व्यवस्थित अध्ययन करके ही यहाँ सामाजिक सरंचना को समझा जा सकता है।

इसके पश्चात् भी हमारे देश में भारतीय समाजशास्त्र का जिस रूप में विकास होना आरम्भ हुआ, उसे ध्यान में रखते हुए बेली ने यह निष्कर्ष दिया कि यहाँ एक 'विशिष्ट भारतीय समाजशास्त्र' का विकास करना सम्भव नहीं है इसका कारण यह है कि भारत में परम्परागत संस्कृति के आधार पर जो अध्ययन आरम्भ हुए वे समाजशास्त्र का नहीं बल्कि 'संस्कृतिशास्त्र' का अंग प्रतीत होते है। इसके विपरीत, ड्यूमो और पोकॉक यह मानते है कि भारत में एक विशिष्ट भारतीय समाजशास्त्र को विकसित करने की पूरी सम्भावना है इस विवाद का समाधान करते हुए टी० ए० मदान ने स्पष्ट किया कि मूलरूप से ड्यूमो और पोकॉक के विचार इस दृष्टिकोण से उचित है यदि हम भारतीय समाज के ऐतिहासिक और तार्किक आधारों को लेकर समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को विकसित करें तो इनका पश्चिमी समाजों के लिए वही महत्व हो सकता है जो पश्चिमी समाजों में विकसित सिद्धान्तों का हमारे लिए है। प्रोफेसर आर० एन० सक्सेना ने इस बात पर बल दिया कि यदि हम भारतीय संस्कृति के ज्ञान तथा पश्चिमी देशों की प्रयोगसिद्ध पद्धति का समन्वय करके समाज के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करे तो इससे भारतीय सामजशास्त्र को अधिक वैज्ञानिक स्वरूप प्राप्त हो सकता है। इन सभी विचारों से यह अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि एक स्वतन्त्र भारतीय समाजशास्त्र के विकास की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि एक पृथक भारतीय समाजशास्त्र का तात्पर्य यह नहीं है कि यह केवल भारत के लिए ही उपयोगी होगा अथवा यह कि इसका उद्देश्य पश्चिमी देशों में विकसित होने वाली अध्ययन पद्धतियों का बहिष्कार करना होगा।

सारांश

भारत में समाजशास्त्र का विकास भी उन्हीं दशाओं का परिणाम है जिन दशाओं ने योरोप और अमरीका में समाजशास्त्र के विकास को प्रोत्साहन दिया। बाटोमोर ने लिखा है कि "योरोप के समान भारत में भी तेजी से होने वाले सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों के फलस्वरूप जो नयी समस्याएँ उत्पन्न हुई, के व्यवस्थिति अध्ययन ने समाजशास्त्र को नयी दिशा प्रदान की।" इसका तात्पर्य है कि भारतीय समाजशास्त्रीय यदि यहाँ की सामाजिक संरचना के अध्ययन में विशेष रुचि लेकर पश्चिम के समाजों से भारतीय समाज की तुलना करके आगे बढ़ें तो समाजशास्त्र के विकास को एक नया आयाम मिल सकता है। सच तो यह है कि भारत में समाजशास्त्र का विकास आज भी एक संक्रमणकालीन स्थिति से गुजर रहा है आज आवश्यकता इस बात की है कि एक ओर समाजशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र का तर्कपूर्ण ढंग से निर्धारण किया जाए तो दूसरी ओर सांख्यिकीय पद्धति पर अधिक बल न देकर उन पद्धतियों का अधि क-से-अधिक उपयोग किया जाए

जिनके द्वारा ऐतिहासिक-सांस्कृतिक सन्दर्भ में घटनाओं की व्याख्या की जा सके। भारत में आज जिस तीव्र गति से समाजशास्त्रीय शोध कार्य किये जो रहे हैं उनसे यह सम्भावना बहुत बढ़ जाती है कि भविष्य में यहाँ एक व्यवस्थित भारतीय समाजशास्त्र का विकास हो सकेगा।

स्वप्रगति की जाँच के उत्तर देखें :

1. फ्रांस में दुर्खीम, माउण्टेन, टार्डे तथा लीप्ले जैसे विद्वानों ने समाजशास्त्र के विकास में योगदान दिया। जर्मनी में 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 20वी शताब्दी के आरम्भिक वर्षो में महत्वपूर्ण समाजशास्त्रियों ने इस विज्ञान को विकसित किया। इनमें टॉनीज, वानविज, हीगल, कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर, वीरकान्त, सिमैल तथा शेखर के नाम प्रमुख हैं। अमरीका में तो समाजशास्त्र इतना लोकप्रिया विषय बन गया कि वहाँ सभी महत्वपूर्ण विचारक समाजशास्त्री ही हैं। ऐसे विद्वानों में गिडिंगस, समनर, लेस्टर वार्ड, जैननकी, रास, पार्क, बर्गेस, सारोकिन, जिमरमैन, मैकाइवर, ऑगबर्न, लुण्डबर्ग, पार्सन्स, मर्टन तथा नैडेल आदि प्रमुख हैं। आज संसार के लगभग सभी प्रगतिशील और विकासोन्मुख देशों में समाजशास्त्र को एक प्रमुख विषय के रूप में देखा जाता है और इसीलिए इसका तेजी से विकास हो रहा है।
2. प्राचीन भारत में वैदिक परम्परा को अधिक स्पष्ट रूप देने के लिए उपनिषदों की रचना की गई। इस समय यह स्वीकार किया गया कि व्यक्तिवादिता और भौतिकता के द्वारा समाज को अधिक समय तक संगठित नहीं रखा जा सकता। इस दृष्टिकोण से आध्यात्मिक दर्शन और पारलौकिकता को आधार मानकर व्यक्ति के कर्तव्यों का निर्धारण किया गया। भारत के समाजशास्त्रीय इतिहास का यह एक 'बौद्धिक काल' था जिसमें जीवन के महत्वपूर्ण लक्ष्य सुनिश्चित कर लिए गए थे।
3. भारत में समाजशास्त्र के विकास के लिए अनेक शोध संस्थाओं की भी स्थापना की गई है। इनमें टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइन्सेस बम्बई; जे० के० इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशियोलॉजी एण्ड सोशल वर्क्स, लखनऊ तथा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइन्सेस, आगरा आदि प्रमुख हैं। इन सभी संस्थाओं के प्रयत्नों से भविष्य में समाजशास्त्र का विकास और अधिक तेजी से होने की आशा की जा सकती है।

अभ्यास-प्रश्न

1. भारत में समाजशास्त्र के विकास पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।
2. भारत में समाजशास्त्र के विकास की सैद्धान्तिक प्रवृत्तियाँ क्या रही है?
3. क्या भारत में एक भारतीय समाजशास्त्र का विकास सम्भव है? विभिन्न विचारों के सन्दर्भ में

ekM îy&2

NOTES

भारतीय समाज के प्रति दृष्टिकोण एवं अवधारणाएँ

इस अध्याय के अन्तर्गत :

- परिचय
- कर्म की अवधारणा
- कर्म तथा पुनर्जन्म का सिद्धान्त
- कर्म और भाग्य
- पुरुषार्थ की अवधारणाएँ
- पुरुषार्थ के प्रकार
- वर्ण की अवधारणा
- वर्ण का अर्थ
- वर्ण व्यवस्था का महत्व अथवा मूलभूत सिद्धान्त
- आश्रम एवं संस्कार

अध्याय के उद्देश्य :

इस अध्याय के अध्ययन के उपरांत आप जान सकेंगे :

- कर्म की अवधारणा तथा कम और पुनर्जन्म का सिद्धान्त
- कर्म और भाग्य तथा पुरूसार्थ की अवधारणा
- पुरूसार्थ के प्रकार जान सकेंगे तथा
- वर्ण की अवधारणा से अवगत हो सकेंगे
- वर्ण का अर्थ समझ सकेंगे तथा वर्ण व्यवस्था का महत्व समझ सकेंगे
- आश्रम एवं संस्कार

bdkÃ&4 de dh vo/kkj.kk] de vkj HkkX;] iq#"kkFk

NOTES

भारतीय समाज व संस्कृति अति प्राचीन एवं गौरवशाली है। भारतीय समाज विश्व के प्रचीनतम समाजों में से एक है। इसका इतिहास 5000 से 7000 वर्ष पुराना है। भारतीय समाज, सभ्यता एवं संस्कृति का विकास उस समय हुआ जब विश्व के अधिकांश लोग जंगली एवं बर्बर अवस्था में जीवन व्यतीत कर रहे थे। भारतीय ऋषि-मुनियों, विचारकों एवं चिन्तकों ने अपनी साधना, अध्ययन, चिन्तन तथा अनुभव के आधार पर ऐसी मानव संस्कृति तथा जीवन मूल्यों का विकास किया जो वर्तमान में भी मानव का मार्ग-दर्शन कर रहे हैं। भारतीय सामाजिक संगठन की अपनी कुछ मौलिक, अनूठी विशिष्टाएँ हैं। इन्हीं के कारण भारतीय समाज विश्व की अन्य संस्कृतियों और समाज व्यवस्थाओं से भिन्न है।

यदि हम पारम्परिक हिन्दू सामाजिक संगठन का समाजशास्त्रीय अध्ययन करें तो हम पाएंगे कि यह वैदिक सभ्यता पर आधारित है। वैदिक सभ्यता का विकास आर्यो के द्वारा किया गया था। जो 2500 वर्ष ईसा पूर्व भारत में आए। वैदिक काल को दो भागों में बाँटा गया है-पूर्व वैदिक काल एवं उत्तर वैदिक काल। पूर्व वैदिककालीन भारत के विषय में जानकारी का प्रमुख साहित्यिक स्रोत वेद हैं। वेद चार हैं-ऋग्वेद, अथर्ववेद, सामवेद एवं यजुर्वेद। ऋग्वेद सबसे प्राचीन है और पूर्व वैदिककालीन सभ्यता का ज्ञान इसी से मिलता है। ऋग्वेद के बाद का समय उत्तर वैदिक काल के नाम से जाना जाता है। इस युग में अथर्ववेद, सामवेद और यजुर्वेद तथा ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आदि ग्रन्थों की रचना हुई। इसी समय रामायण एवं महाभारत महाकाव्य लिखे गए तथा जैन व बौद्ध साहित्य का सृजन हुआ। भारतीय समाज के विकास से संबंधित महत्वपूर्ण सामग्री; 6 वेदान्तों, 3 सूत्र ग्रन्थों तथा पुराणों में भी मिलती है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति की उल्लेखनीय विशेषता है, वर्ण एवं आश्रमों की व्यवस्था, समाज में श्रम विभाजन हेतु चार वर्णो-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वर्ण की रचना की गई। ब्राह्मण समाज बुद्धि और शिक्षा के प्रतीक हैं। तो क्षत्रिय, शक्ति के। वैश्य भरण पोषण एवं अर्थ-व्यवस्था का संचालन करते हैं तो शूद्र समाज की सेवा करते हैं।

वर्ण व्यवस्था के साथ-साथ प्राचीन विद्वानों ने मुनष्य की आयु सौ वर्ष मानकर उसका चार आश्रमों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास से विभाजन किया है। आश्रमों का उद्देश्य मानव के चार पुरुषार्थों धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की पूर्ति करना है जो कि व्यक्ति का सामाजिक और व्यावहारिक जीवन संभव बनाते हैं।

वर्ण भारतीय संस्कृति में कर्म को अत्यधिक महत्व दिया गया है। यह माना जाता है कि अच्छे कर्मों का फल अच्छा और बुरे कर्मों का फल बुरा मिलता है। श्रेष्ठ कर्म करने वाले को ऊँची योनि में जन्म और सुखी जीवन व्यतीत करने का अवसर मिलता है। जबकि बुरे कर्म करने वाले को निम्न योनि में जन्म लेना होता है तथा नाना प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं।

यही सामाजिक-मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि हिन्दू सामाजिक संगठन की आधारशिला है। प्राचीन पारम्परिक संस्थाएँ वर्तमान में अपनी प्रासंगिकता 'लगभग' खो चुकी हैं। संभवतः उनका अध्ययन समकालीन समाज के संगठन तथा नियंत्रण के ज्ञान की प्राप्ति में कोई विशेष महत्व न रखता हो। फिर भी, उनको जानना आवश्यक है। अनेक ऐसी सामाजिक समस्याएँ हैं तो वर्तमान में तो विद्यमान हैं ही, परन्तु जिनसे हमारे पूर्वज भी ग्रस्त थे। इन सामाजिक संस्थाओं तथा संदर्भो को समझकर अनेक समकालीन समस्याओं के निराकरण हेतु सुझाव व मार्गदर्शन प्राप्त किए जा सकते हैं।

कर्म की अवधारणा

हिन्दू जीवन को सर्वाधिक प्रभावित करने वाली मान्यता यदि कोई है तो वह है 'कर्म' तथा 'पुनर्जन्म'। संभवतः किसी भी अन्य अवधारणा का। यहां तक कि बौद्ध और जैन धर्मों ने हिन्दुओं की अनेक परम्परागत धार्मिक विचारों की कटु आलोचना करके उनका बहिष्कार किया। परन्तु 'कर्म' की अवधारणा इन धर्मों का भी प्रमुख आधार बनी रही। कर्म का सिद्धान्त व्यक्ति को दिशा देता है, उसे सामाजिक दायित्वों के निर्वाह की प्रेरणा प्रदान करता है और भविष्य के प्रति आशावान बनाता है। कर्म की अवध रणा ने पिछली अनेक शताब्दियों से लोगों को स्वधर्म का पालन करने, सामाजिक नियंत्रण बनाए रखने और सामाजिक संगठन को स्थिरता प्रदान करने मे अपूर्व योग दिया है।

'कर्म' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा के शब्द 'कर्मन' से हुई है। जिसका अर्थ क्रिया, कृत्य, कर्तव्य, कार्य तथा दैव (भाग्य) है। इससे स्पष्ट होता है कि शाब्दिक रूप से 'कर्म' का तात्पर्य किसी भी ऐसी क्रिया से है। जिसका सम्बन्ध व्यक्ति के दायित्वों से है अथवा जो व्यक्ति के भाग्य का निर्माण करती है। वास्तव में कर्म से हमारा तात्पर्य उन सभी क्रियाओं से है जिनका सम्बन्ध शरीर, वाणी तथा मन से है। अर्थात् बाह्य रूप से व्यक्ति जो भी क्रिया करता है केवल वही कर्म नहीं है। बल्कि वह दूसरों से जो कुछ भी कहता है अथवा वह मन में जैसा विचार करता है उसे भी कर्म के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है। जिस प्रकार क्रिया की एक प्रतिक्रिया अवश्य होती है, उसी प्रकार प्रत्येक कर्म का एक फल भी अवश्य होता है इसके पश्चात् भी व्यक्ति को अपने सभी कर्मों का फली इसी जीवन में नहीं मिल जाता है। वर्तमान जीवन का अतीत में किए गए कर्मों से भी घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है इस तथ्य को कर्म के तीन भेदों अर्थात् (क) प्रारब्ध (ब) संचित कर्म तथा (ग) क्रियामाण के द्वारा समझा जा सकता है। संचित कर्म वे हैं जो व्यक्ति ने अपने पूर्व जन्म में किए हैं, इनमें से जितने कर्मों का फल व्यक्ति को इस जीवन में भोगने को मिल रहा है, वह उसका प्रारब्ध है। क्रियामाण वह कर्म है जो मनुष्य इस जीवन में कर रहा है। इस प्रकार आगामी जीवन में व्यक्ति को जो कर्म फल प्राप्त होगा वह संचित और क्रियामाण का परिणाम होगा। इससे स्पष्ट होता है कि कर्म की धारणा केवल वर्तमान जीवन से ही सम्बन्धित नहीं है बल्कि यह पुनर्जन्म के सम्पूर्ण चक्र को प्रभावित करती है।

कर्म तथा पुनर्जन्म का सिद्धान्त

हिन्दू जीवन दर्शन में वेदों से लेकर स्मृतियों तक में कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त का व्यापक उल्लेख किया गया है।

कर्म और पुनर्जन्म दो पृथक सिद्धान्त नहीं होकर एक ही सिद्धान्त है। इनके बीच कार्य-कारण संबंध पाया जाता है। कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन वैदिक काल के अन्तिम वर्षों (700 वर्ष ईसा पूर्व) में किया गया। उपनिषदों में सर्वप्रथम कर्म तथा पुनर्जन्म की अवधारणाओं को एक सिद्धान्त का रूप दिया गया। सतपथ ब्राह्मण में सबसे पहले कर्म के सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है। उपनिषदों में कहा गया है कि कर्मों के फलस्वरूप आत्मा का पुनर्जन्म होता है। कठोपनिषद में कहा यगा है कि मृतक की आत्मा नवीन शरीर धारण करती है। इसी उपनिषद् मे याज्ञवल्क्य ने बताया है कि मनुष्य का आगामी जीवन उसके कर्मों द्वारा निर्धारित होता है, जिस प्रकार एक झल्ली घास का किनारा तभी छोड़ती है जब वह दूसरी पत्ती को पकड़ लेती है, उसी प्रकार यह आत्मा भी शरीर का त्याग तभी करती है जब उसे अस्तित्व के लिए दूसरे शरीर का स्वरूप प्राप्त हो जाता है।

सर्वप्रथम वेदों में यह उल्लेख मिलता है कि आत्मा अमर है और शरीर नाशवान है। इसी आधार पर वैदिक मन्त्रों की अनेक ऋचाओं में व्यक्ति के लिए अमरत्व की कामना की गई है तथा पुनर्जन्म के बंधन

से छुटकारा पाने के लिए सद्कर्मों को महत्व दिया गया है।

उपनिषदों में सबसे पहले कर्म के साथ आवागमन और पुनर्जन्म की अवधारणाओं को जोड़ कर वैदिक कालीन कर्म धारणा को एक सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया गया, यहां स्पष्ट किया गया कि कर्मों के अनुसार व्यक्ति को परलोक में दुःख-सुख ही नहीं मिलता बल्कि उसे इन्हीं कर्मों के अनुसार संसार में बार-बार जन्म भी लेना पड़ता है।

महाभारत में कर्म के सिद्धान्त की व्याख्या प्रमुख रूप से वर्ण-व्यवस्था के औचित्य को सिद्ध करने के लिए की गई है, ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय तक निम्न वर्ण के सदस्यों में यह असन्तोष फैल चुका होगा कि जब कर्म के आधार पर ही व्यक्ति को सभी सुख-दुःख प्राप्त होते हैं तब अपने दायित्वों का पूरी निष्ठा से पालन करने के बाद भी उन्हें समाज में निम्न स्थिति क्यों मिली हुई है। इन परस्पर विरोध विचारों में समन्वय करने के लिए यह विश्वास दिलाया गया कि वर्तमान जीवन के सुख अथवा दुःख का इस इस जीवन के कर्मों से ही सम्बन्ध नहीं है बल्कि पूर्वजन्म के कर्मों का भी प्रारब्ध के रूप में हमारी वर्तमान स्थिति से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

गीता में निष्काम कर्म का संदेश दिया गया। कर्म स्वधर्म पालन के लिए किया जाना चाहिए, इन्द्रियों के वशीभूत होकर नहीं। गीता में निष्काम कर्म, ज्ञान और भक्ति को त्रिवर्ग के रूप में माना गया है। ज्ञान और भक्ति के माध्यम से व्यक्ति कर्म-बन्धन से मुक्त हो ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। गीता में कर्मवाद के सिद्धान्त को भाग्य से जोड़कर देखने का प्रयास कदापि नहीं किया गया है। वैदिक परम्परा और उपनिषदों में कर्म से सम्बन्धित जो विचार प्रतिपादित हुए थे, गीता में उन्हें कहीं अधिक व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करके एक अधिक व्यावहारिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया। महाभारत में जहां इस बात पर बल दिया गया था कि पूर्वजन्म में व्यक्ति ने जैसे कर्म किए हैं उसी के फल उसे इस जन्म में प्राप्त हो रहे हैं, वहीं गीता में व्यक्ति के वर्तमान जीवन के कर्मों को प्रारब्ध की अपेक्षा अधिक महत्व दिया गया। गीता में कर्म के सिद्धान्त का सार है ‘‘कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्। ‘‘अर्थात् व्यक्ति कर्म करने में ही अपना अधिकार समझे कर्मफल की आशा न करे।

कर्म और भाग्य

मैकडोनल तथा ए. बी. कीथ जैसे अनेक विद्वानों का विचार है कि कर्म का सिद्धान्त ही हिन्दू जीवन में भाग्य का आधार रहा है। महाभारत में धर्मव्याध के कथन से स्पष्ट होता हे कि भाग्य मनुष्य के जीवन में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है और मनुष्य को बिना किसी प्रतिवाद के भाग्य को स्वीकार कर लेना चाहिए। डा. राधाकृष्णन के अनुसार यह आक्षेप कि कर्म सिद्धान्त मानवीय स्वतंत्रता का विरोधी है, सत्य से परे है। वास्तव में कर्म सिद्धान्त मानव-स्वतंत्रता का विरोधी न होकर व्यक्ति को प्रेरित करता है। व्यक्ति को हर समय अपने विकास और प्रगति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। कर्म ही भाग्य का आधार है। जिस प्रकार थोड़ी सी अग्नि पवन के वेग से प्रज्जवलित होकर शक्तिशाली बन जाती है, उसी प्रकार व्यक्ति अपने कर्म से भाग्य को प्रभावशाली बना सकता है। याज्ञवल्क्य स्मृति में उल्लेख है कि जिस प्रकार एक पहिए से रथ नहीं चलता, उसी प्रकार बिना मानव प्रयत्न के भाग्य सिद्ध नहीं होता।

इस प्रकार जहाँ यह कहना उचित है कि कर्म के बिना भाग्य निष्फल रहता है, वहीं यह भी स्वीकार करना होगा कि कर्म के सिद्धान्त ने लोगों को भाग्यवादी बनने की प्रेरणा दी।

NOTES

पुरुषार्थ की अवधारणा

परम्परागत भारतीय जीवन शैली को व्यवस्थित बनाए रखने में "पुरुषार्थ" को एक अति महत्वपूर्ण अवधारणा के रूप में देखा जा सकता है। पुरुषार्थ का सिद्धान्त व्यक्ति तथा समूह के बीच संबंधों को सन्तुलित करने में अपूर्ण योगदान दात है। पुरुषार्थों के रूप में व्यक्ति के विभिन्न कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है। पुरुष में चार बातों का समावेश माना गया है-शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा। इन सबको मिलाकर जो संरचना होती है उसी का नाम पुरुष है। पुरुष के द्वारा इन सभी की संतुष्टि के लिए जो प्रयत्न किया जाता है वही पुरुषार्थ है।

पुरुषार्थ की अवधारणा दो विरोधी परन्तु अनिवार्य लक्ष्यों में समन्वय स्थापित करने में महत्वपूर्ण है। हिन्दू जीवन में आध्यात्मिकता तथा सांसारिकता को एक दूसरे का पूरक माना जाता रहा है। एक ओर मोक्ष को जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानकर त्याग को प्रोत्साहन दिया गया है। दूसरी ओर व्यक्ति को अनेक पारिवारिक तथा आर्थिक दायित्व सौंपकर उसे समूह से अभियोजन करने के निर्देश दिए गए। व्यक्ति को सभी कर्तव्यों को तथा सम्पूर्ण समाज और विभिन्न समूहों के प्रति अपने उत्तरदायित्व को निष्पादन करने के लिए ही पुरुषार्थ की व्यवस्था का निर्माण हुआ।

पुरुषार्थ का अर्थ

पुरुषार्थ का अभिप्राय है उद्योग करना या प्रयास करना, इस संबंध में कहा गया है कि "पुरुषैरर्थते पुरुषार्थ: "जिसका अर्थ है अपने अभीष्ट को प्राप्त करने के लिए उद्यम करना ही पुरुषार्थ है। यहां अभीष्ट का अर्थ मोक्ष प्राप्ति से है। अतः मोक्ष जीवन का लक्ष्य है और इसकी प्राप्ति के लिए धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ अथवा माध्यम हैं। निरन्तर प्रयत्नशील रहना तथा अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर रहना ही पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ के माध्यम से व्यक्ति अपने जीवन को विभिन्न कर्तव्यो और दायित्वों के प्रति जागरूक रहता है। उपनिषदों, गीता तथा स्मृतियों में जीवन के चार आधारभूत कर्तव्यों के रूप में "पुरुषार्थ" का उल्लेख प्राप्त है जिन्हें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का नाम दिया गया है। इन चारों पुरुषार्थों को प्राप्त करके व्यक्ति जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्त होता है। डॉ. राधाकमल मुखर्जी ने लिखा है कि वर्णो और आश्रमों के धर्मों और उत्तरदायित्वों की पूर्ति मनुष्य द्वारा चार पुरुषार्थों के आंकलन पर निर्भर करती है। गृहस्थ जीवन के उद्देश्य अर्थ और काम हैं। ये दोनों मोक्ष के आधीन हैं। इस प्रकार जीवन के सभी मूल्यों-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का समन्वय होता है।

डा. कापड़िया ने भी मोक्ष को भारतीय जीवन का अन्तिम लक्ष्य बताया है। मानव की वास्तविक प्रकृति को आध्यात्मिक मानते हुए हिन्दू विचारकों ने धन उपार्जन तथा 'काम' के भावुक पहलुओं को भी सहज स्वभाव से संबंधित करके देखा है। पुरुषार्थ के माध्यम से ज्ञान और आनन्द का समन्वय प्रतिष्ठित किया गया है।

पुरुषार्थ के प्रकार

पुरुषार्थ के सिद्धान्त के अनुसार चार पुरुषार्थ बनाए गए हैं-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। प्रस्तुत इकाई में इन चारों पुरुषार्थों का विवेचन करके सामाजिक व्यवस्था में उनके समाजशास्त्रीय महत्व को स्पष्ट किया गया है।

1. **धर्म :** धर्म को सभी पुरुषार्थों में सर्वप्रमुख माना गया है। इसके बिना अन्य किसी भी पुरुषार्थ को समुचित रूप से पूरा नहीं किया जा सकता है। धर्म से तात्पर्य है वह धारण किया जा सके, अर्थात्

NOTES

जीवन में उतारा जा सके। पुरुषार्थ के रूप में धर्म का सामाजिक महत्व है। प्रत्येक आश्रम में व्यक्ति को धर्म के अनुरूप आचरण करना चाहिए। धर्म दो प्रकार का है सामान्य धर्म व स्वधर्म। सामान्य धर्म को अपनाकर व्यक्ति आदर्श आचार संहिता के अनुसार सही मार्ग पर चलता है और संयम, संतोष, उदारता, क्षमा, अहिंसा आदि गुणों को आत्मसात् करता है। सामान्य धर्म को "मानव धर्म" भी कहा जाता है। मनुस्मृति में सामान्य धर्म के 10 लक्षण बताते हुए कहा गया-

धृतिः क्षमा दमोऽस्त्लेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीविधा सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

स्वधर्म को विशिष्ट धर्म भी कहा जाता है, क्योंकि यह एक विशेष व्यक्ति का अपना धर्म है। गीता में उक्त है कि "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मों भयावहः", अर्थात् अपने धर्म के लिए मर जाना भी श्रेयस्कर है, लेकिन दूसरे के धर्म का पालन करना एक गंभीर दोष है। स्वधर्म के अन्तर्गत वर्ण ध र्म, आश्रम धर्म, कुल धर्म, राज धर्म, युग धर्म, मित्र धर्म तथा गुरू धर्म प्रमुख हैं।

आपत्तिकाल में सामान्य और विशेष धर्म में कुछ परिवर्तन कर लेने पर भी व्यक्ति दोषी नहीं माना जाता। आपद्धर्म का निर्वाह उतने ही अंश में उचित माना गया है जितने अंश में कोई विपत्ति व्यक्ति पर हो।

2. **अर्थ:** दूसरा महत्वपूर्ण पुरुषार्थ अर्थ है। अर्थ शब्द को अनेक अर्थों में प्रयोग किया गया है। श्री पी. प्रच. प्रभु के अनुसार "अर्थ का तात्पर्य उन सभी भौतिक साधनों से है जो सांसारिक समृद्धि प्राप्त करने के लिए आवश्यक है।" ऋग्वेद के अनुसार पुरुषार्थ के रूप में अर्थ का तात्पर्य उन सभी भौतिक वस्तुओं से हैं, जिनकी गृहस्थी चलाने, परिवार बसाने तथा धार्मिक कार्यों को पूरा करने के लिए आवश्यकता पड़ती है। डॉ. कपाड़िया के अनुसार "अर्थ" मानव के प्राप्त करने के सहज-स्वभाव को इंगित करना है जिसके कारण व्यक्ति धन संचय, धन उपभोग तथा उससे प्राप्त सुख व अन्य प्रवृत्तियों को दर्शाता है। इन सभी विचारों के आधार पर कहा जा सकता है कि अर्थ उन सभी भौतिक पदार्थों तथा साधनों से संबंधित है जिनके द्वारा व्यक्ति अपना तथा अपने परिवार का भरण-पोषण करता है तथा विभिन्न सांसारिक दायित्वों की पूर्ति करता है।

3. **काम :** पुरुषार्थों में "काम" का भी महत्वपूर्ण स्थान है। एक पुरुषार्थ के रूप में "काम" का अर्थ दो रूपों में प्रदर्शित किया गया है-एक संकुचित अर्थ और दूसरा व्यापक अर्थ। संकुचित अर्थ में काम का तात्पर्य इन्द्रियों की संतुष्टि से संबंधित इच्छाओं से हैं। परन्तु हिन्दू जीवन शैली में यौन सुख को कम महत्व दिया गया है। यही कारण है कि हिन्दू विवाह के तीन उद्देश्यों में "रति" को सबसे निम्न स्थान दिया गया है। धर्म तथा सन्तानोत्पत्ति को रति के तुलनात्मक रूप में अधिक प्रमुखता दी गई है व्यापक अर्थ में काम का तात्पर्य उन सभी इच्छाओं से माना गया है जो इन्द्रियों की सन्तुष्टि से संबंधित हैं और जो मनुष्य को भौतिक सुख की ओर प्रेरित करती हैं। "काम" का यह पहलू मानव की भावुकता तथा सौन्दर्यात्मक अभिवृत्तियों से संबंधित है। इस अर्थ में काम के अन्तर्गत वे सभी लक्षण समाविष्ट हैं जिन्हें मन के उद्वेगों में देखा जा सकता है। इच्छा, प्रेरणा, उद्दीपक, चालक इत्यादि सभी मनोवैज्ञानिक तत्वों को "काम" के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है।

4. **मोक्ष :** मोक्ष को जीवन का अन्तिम तथा सर्वोपरि पुरुषार्थ माना गया है। हिन्दू दर्शन में माना गया है कि "अर्थ" तथा "काम" जीवन के लिए अनिवार्य तो हैं परन्तु ये शाश्वत सुख के आधार नहीं हो सकते। स्थायी सुख केवल तभी संभव है जब मनुष्य जन्म मरण के चक्र से छूटकर ब्रह्म में लीन हो

जाए। यही पूर्ण सन्तुष्टि का आधार है। इसी स्थिति को मोक्ष कहते हैं, और यही प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का अन्तिम लक्ष्य है।

NOTES

शिव गीता के अनुसार मोक्ष कहीं पर विद्यमान कोई पदार्थ नहीं है। न ही विचरण करके इसके पास तक पहुंचा जा सकता है। मन की अज्ञानता का हास तथा ज्ञान प्राप्ति का अलौकिक सुख ही मोक्ष कहलाता है। गीता में कहा गया है कि बाह्य सुख-दुख की आशा न कर जो अन्तःकरण में ही सुखी हो जाए, वह योगी ब्रह्म रूप हो जाता है और उसे ही ब्रह्म में मिल जाने पर मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्ष प्राप्ति के साध न के रूप में प्रमुख रूप से तीन मार्ग बताए गए हैं-कर्म मार्ग, ज्ञान मार्ग एवं भक्ति मार्ग। कर्म मार्ग के अन्तर्गत व्यक्ति अपने कर्मों को सुनिश्चित तथा निर्धारित कर, धर्मानुकूल आचरण करता है और मोक्ष प्राप्त करता है। ज्ञान मार्ग के अन्तर्गत व्यक्ति अपने विचारों के आधार पर ईश्वर के अव्यक्त स्वरूप में अपने मन को स्थिर कर लेता है। इस मार्ग पर चल कर सुख-दुख, जन्म-मरण, हानि-लाभ के प्रति समभाव रखकर मोक्ष प्राप्ति करता है। भक्ति मार्ग के रास्ते पर चलकर ईश्वर को साकार मानकर उसकी पूजा-अर्चना कर स्वयं को समर्पित करता है। इस प्रकार वह मोक्ष का अधिकारी बन जाता है।

पुरुषार्थ का समाजशास्त्रीय महत्व

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि चारों पुरुषार्थ परस्पर संबंधित हैं और इनमें से किसी भी पुरुषार्थ को दूसरे की अपेक्षा कम या अधिक महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता है। डॉ. पी. एच. प्रभु ने पुरुषार्थ के समाजशास्त्रीय महत्व को उजागर करते हुए उसे भारतीय सामाजिक जीवन का एक मनोवैज्ञानिक आध र बताया है। मनोवैज्ञानिक इसलिए है कि उसके माध्यम से व्यक्ति मानसिक सन्तुष्टि प्राप्त करके जीवन के उच्चतर आदर्श को प्राप्त करने का प्रयास करता है। नैतिक आधार इसलिए है कि विभिन्न पुरुषार्थों के फलस्वरूप ही समाज में मानवीय गुणों और श्रेष्ठ जीवन का विकास किया जा सका है। पुरुषार्थ का सिद्धान्त व्यक्तिगत स्वतंत्रता को प्रोत्साहित करने के साथ-साथ सामाजिक नियंत्रण की भी व्यवस्था करता है। व्यक्ति और समाज में समुचित ताल-मेल तथा समन्वय बनाए रखने में पुरुषार्थ का वास्तविक समाजशास्त्रीय महत्व है। कहा जा सकता है कि संसार में शायद ही कोई ऐसी व्यवस्था रही है जो सांसारिक और पारलौकिक जीवन में इतना व्यावहारिक समन्वय स्थापित कर सके। वर्तमान काल में हालांकि अर्थ और काम को अधिक महत्व मिल रहा है तथा धर्म और मोक्ष जीवन के लक्ष्य के रूप में प्रधानता खो चुके हैं। परन्तु फिर भी सामाजिक व्यवस्था में इन चारों पुरुषार्थों का अपना-अपना महत्व बना रहा है और बना रहेगा।

bdkÃ&5

o.kZ dh vo/kkj.kk] o.kZ dk dk;Z] eyHkwr fl)kar] vkJe ,oa lLdkj

वर्ण व्यवस्था हिन्दुओं के सामाजिक जीवन में व्यवस्था और संगठन बनाए रखने का मूल आधार रही हैं। इसी व्यवस्था के कारण हिन्दू समाज में आज तक सामाजिक स्तरीकरण, सामाजिक नियन्त्रण, सामाजिक सहभागिता विद्यमान है। वर्ण व्यवस्था ने भरतीय समाज में राजनीतिक व धार्मिक क्षेत्र को तो प्रभावित किया ही है, वहीं इस व्यवस्था ने लोगों के मानसिक व बौद्धिक क्षेत्र को भी प्रभावित किया है। भारतीय समाज की उन्नति में इस व्यवस्था ने पर्याप्त योगदान दिया है। प्राचीन भारतीय समाज की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बनाने में इस व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। आर्यों का सामाजिक जीवन वर्णाश्रम व्यवस्था पर ही आधारित था। भारतीय साहित्य और संस्कृति की सुरक्षा एवं विकास में इस व्यवस्था का योगदान रहा है। वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य सामाजिक संगठन, सुव्यवस्था, विकास समृद्धि आदि के लिए समाज को चार भागों में बाँटना था।

वैदिक युग में आर्यों ने कार्य विभाजन के आधार पर समाज को चार भागों में बाँटा, जिनमें ब्राह्मण का स्थान सर्वप्रथम रखा। इसके बाद क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र वर्ण आते हैं।

वर्ण का अर्थ

वर्ण व्यवस्था भारतीय सामाजिक संगठन की वह आधारशिला है। जिसके अनुसार सामाजिक स्तरीकरण की एक सुनियोजित नीति के आधार पर सम्पूर्ण समाज को चार कार्यात्मक भागों में विभाजित किया गया। साथ ही प्रत्येक भाग के सदस्यों के कर्तव्य निश्चित कर दिए गए थे। भारत में सामाजिक स्तरीकरण की इसी व्यवस्था को वर्ण-व्यवस्था की संज्ञा दी गई है।

साधारणतया 'वर्ण' तथा 'जाति' की धारणा का प्रयोग समान अर्थों में ही कर दिया जाता है। वास्तविकता यह है कि वर्ण-व्यवस्था एक वृहत् व्यवस्था है जिसमें सम्पूर्ण समाज को कार्यात्मक रूप से चार बड़े समूहों में विभक्त किया गया था जबकि जाति व्यवस्था एक ऐसा संगठन है जिसका निर्माण हजारों जातियों के संस्मरण द्वारा हुआ है। हट्टन के अनुसार "जाति और वर्ण को बिल्कुल पृथक दो धाराओं के रूप में समझा जाना चाहिए।"

वर्णों की उत्पत्ति के विषय में अत्यधिक मतभेद हैं। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के अनुसार एक ऐसे विराट पुरुष (ब्रह्मा) की कल्पना की गयी है जिसके मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उदर अथवा जंघा से वैश्य और पैरों से शूद्र वर्ण की उत्पत्ति हुई। उत्तर वैदिक काल में रचित वृहदारण्यक उपनिषद् तथा छान्दोग्य उपनिषद् में भी वर्णों की उत्पत्ति का उल्लेख मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार कर्म तथा पुनर्जन्म के बीच घनिष्ठ संबंध है, व्यक्ति अपने पूर्वजन्म में जिस प्रकार के कर्म करता है उसे वैसे ही "गुण" अर्थात् स्वभावगत विशेषताएँ प्राप्त होती हैं, कर्म और गुण का यही संयोग उसे एक विशेष वर्ण की सदस्यता प्रदान करता है।

वर्ण व्यवस्था के विवेचन में सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि प्रारम्भिक काल में वर्ण-व्यवस्था का आध जन्म था अथवा कर्म? डा. राधाकृष्णन के अनुसार वर्ण के अन्तर्गत आनुवंशिक क्षमताओं का महत्व होते हुए भी, यह प्रमुख रूप से एक कर्म प्रधान व्यवस्था है। डा घुरिये के अनुसार वर्ण का वास्तविक संबंध "रंग" से है। उनका कहना है प्रारम्भ में भारत में दो ही वर्ण थे-आर्य और आर्य और दस्यु। आर्यों ने द्रविड़ों को परास्त करके स्वयं को 'द्विज' वर्ण के रूप में प्रतिष्ठित किया जबकि द्रविड़ों को दस्यु के रूप में अपने से बहुत निम्न स्थिति प्रदान की। कालान्तर में जब आर्यों अथवा द्विजों की संख्या में वृद्धि हो गई तथा उनके कर्म भी एक दूसरे से भिन्न हो गए, तब विभिन्न गुणों के आधार पर ही यह द्विज वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीन वर्णों में विभाजित हो गया।

डा. पाणिक्कर ने अत्यधिक प्रभावपूर्ण रूप से वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत जन्म के आधार की कटु आलोचना की है उनके विचार में यदि वर्णों का निर्धारण जन्म से ही होता तब विभिन्न वर्गों के पेशों में कोई भी परिवर्तन नहीं होना चाहिए था। परन्तु प्राचीन साहित्य इस कथन की पुष्टि करता है कि ब्राह्मण अध्ययन और धर्म के कार्यों के अतिरिक्त औषधि, शस्त्र निर्माण और प्रशासन संबंधी व्यवस्था भी करते रहे हैं। बौद्ध ग्रन्थ "जातक" में ब्राह्मणों का उल्लेख कहीं-कहीं व्यापारियों और आखेटकों के रूप में भी मिलता है। पाणिक्कर के मत में भारत का सामाजिक संगठन प्राचीनतम काल से ही अगणित उपजातियों के आधार पर खड़ा है, चार वर्णों की किसी संगठित व्यवस्था पर नहीं।

सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट होता है कि वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत जन्म और कर्म का विवाद अत्यधिक गहरा है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह व्यवस्था न तो पूर्णतया जन्म पर आधारित थी और न ही कर्म पर।

NOTES

वर्णों के कार्य

ब्राह्मण : समाज के चारों वर्णों में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च था। इनको अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे। इनको विद्वान, देवता तुल्य व धर्म गुरू की संज्ञा प्राप्त थी। ब्राह्मण ही अन्य वर्गों के कर्तव्यों का निध रिण व मार्ग दर्शन करते थे।

धर्म शास्त्रों के अनुरूप वेदों का अध्ययन-अध्यापन यज्ञ और हवन करना, दान प्राप्त करना आदि कार्य ब्राह्मणों द्वारा किए जाते थे। समाज में ब्राह्मणों को इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त थी कि उनको राजा से भी ऊँचा माना जाता था। राजा द्वारा ब्राह्मणों को दण्ड देना उचित नहीं माना जाता था। मनुस्मृति में किसी भी स्थिति में मृत्यु दण्ड नहीं देने के बारे में बताया गया है। ब्राह्मणों को कर मुक्त रखा जाता था। समाज में आदर प्राप्त करने के पीछे उनका उच्च चरित्र, ज्ञान व सादा जीवन व्यतीत करना बताया जाता है। ब्राह्मणों का सबसे महत्वपूर्ण धर्म इन्द्रियों पर संयम रखना है। गीता के एक श्लोक के अनुसार

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्

अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि, इन्द्रियों का दमन, पवित्रता, धर्म के लिए कष्ट सहना, क्षमावान होना, ज्ञान का संचय करना तथा परम तत्व का अनुभव करना भी ब्राह्मणों के परम धर्म हैं।

क्षत्रिय : समाज में दूसरा महत्वपूर्ण स्थान क्षेत्रियों का था। ये समाज में शान्ति, व्यवस्था, प्रशासन का संचालन, बाहरी आक्रमणों से रक्षा, यज्ञ करना, दान देना, प्रजा के लिए सार्वजनिक कार्य करना आदि करते थे। इनका मुख्य कृत्य सैनिक कार्य करना होता था। क्षत्रिय लोग वीरता, शौर्य आदि के सूचक माने जाते थे। गीता में क्षत्रियों के सात कर्मो का उल्लेख किया गया है। ये हैं शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्ध से न भागना, दान देना और स्वाभिमान।

वैश्य : समाज में तीसरा स्थान वैश्य को प्राप्त था। कृषि, पशुपालन और व्यापार संबंधी कार्य वैश्यों के प्रमुख कर्य थे। इसके अतिरिक्त ये लोग यज्ञ व दान करने के भी अधिकारी थे। इनको वेदों के अध्ययन की भी अनुमति प्राप्त थी। मनुस्मृति में वैश्यों के सात कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है। ये इस प्रकार हैं पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना, व्यापार करना, ब्याज पर धन देना तथा कृषि करना।

शूद्र : मनु के अनुसार शूद्रों का एक मात्र धर्म अपने से उच्च तीनों वर्णों की बिना किसी ईर्ष्या भाव के सेवा करना है। शूद्र को किसी प्रकार भी धन संग्रह, अध्ययन अथवा उच्च वर्णों के व्यवसाय नहीं करने चाहिए। महाभारत में कहा गया है कि धर्मात्मा शूद्र राजा की आज्ञा लेकर धार्मिक कृत्य कर सकता है। परन्तु सामान्यतः उसे धार्मिक कार्यों से दूर ही रहना चाहिए। अन्य वर्णों का यह धर्म है कि वे शूद्रों का भरण पोषण करते रहें और उन्हें जीवन की आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करें। इस प्रकार देखा जा सकता है कि समाज में इनकी दशा चिंतापूर्ण थी। इनको हीन समझा जाता था। इन पर कई निर्योग्यताएँ लादी गई थी। ये समाज में उपेक्षापूर्ण जीवन यापन करते थे।

वर्ण व्यवस्था का महत्व अथवा मूलभूत सिद्धान्त

वर्ण व्यवस्था अत्यधिक विवादास्पद रही है। अनेक पश्चिमी विद्वानों ने इसे असमानता पर आधारित पक्षपातपूर्ण व्यवस्था माना है। यद्यपि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वास्तविक वर्ण व्यवस्था भारत में प्रभावी रूप से कभी भी प्रचलित नहीं रही, परन्तु इसके सैद्धान्तिक महत्व को समझना अनिवार्य है। वर्ण व्यवस्था के समाजशास्त्रीय महत्व को निम्न बिन्दुओं के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है।

1. **सामाजिक संघर्षों पर नियंत्रण एवं शक्ति सन्तुलन :** वर्ण व्यवस्था का आधारभूत कार्य समाज में अनावश्यक प्रतियोगिता पर नियंत्रण रखकर पारस्परिक संघर्षों से बचाना था। इस व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न शक्तियाँ कुछ व्यक्तियों या समूहों में केन्द्रित न होकर समाज के विभिन्न स्तरों में विकेन्द्रित हो गई।

2. **श्रम विभाजन और विशेषीकरण :** वर्ण व्यवस्था को श्रम विभाजन एवं विशेषीकरण के क्षेत्र में एक सर्वोत्तम प्रयास माना जा सकता है इसके द्वारा व्यक्ति को आरंभ से ही उस व्यवसाय का प्रशिक्षण मिलना आरंभ हो जाता था। जिसका निर्वाह उसकी कुल परम्परा में होता आया था। सम्भवतः इसी कारण अतीत में भारतीय समाज ज्ञान, वीरता, वाणिज्य तथा सेवा के क्षेत्रों में अग्रणी था।

3. **समानता :** वर्ण व्यवस्था समता की रीति पर आधारित रही है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत समाज का चार वर्णों के रूप में कार्यात्मक विभाजन तो हुआ ही परन्तु प्रत्येक वर्ण की सेवाओं को सामाजिक दृष्टि से समान महत्व दिया गया।

4. **गतिशीलता :** वर्ण व्यवस्था एक ऐसी लचीली व्यवस्था रही है जिसके आधर पर अपूर्व सामाजिक विकास की संभावना बनी। नियंत्रित गतिशीलता के आधार पर इस व्यवस्था ने सामाजिक विकास में महत्त्पूर्ण योगदान दिया।

5. **संस्कृति का हस्तान्तरण :** भारतीय समाज प्राचीनकाल से ही विभिन्न प्रजातीय समूहों का संगम बना रहा। ऐसी स्थिति में वर्ण-व्यवस्था के द्वारा अलग-अलग वर्णों के रूप में विभिन्न प्रजातीय समूह संगठित हुए। इस प्रकार पृथक-पृथक प्रजातीय समूहों को एक ओर रक्त के आधार पर विशिष्टता बनाने का अवसर मिला, तो दूसरी ओर अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं को सरलता से पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित करने का।

वर्ण व्यवस्था के अपकार्य

सैद्धान्तिक रूप में वर्ण व्यवस्था के अनेक लाभ बताये जा सकते हैं। परन्तु व्यावहारिक रूप में यदि निष्पक्षता से देखें तो वर्ण व्यवस्था अनेक दोषों से युक्त पाई जाती है। इसी कारण हिन्दू समाज अगणित जातियों में विखण्डित हुआ। समाज में सामुदायिक भावना पर भी कुठाराघात हुआ तथा राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधाएँ उपस्थित हुई।

निम्नलिखित दोषों के विवेचन के द्वारा वर्ण व्यवस्था की दुर्बलताओं को समझा जा सकता है-

1. **नैतिकता के दोहरे स्तर :** शास्त्रों का तर्क है कि स्वभाव संबंधी गुण जन्मजात अथवा वंशानुगत होते हैं, और इसीलिए विभिन्न वर्गों के अधिकार व कर्तव्य भिन्न होना उचित है। यह तर्क न्यायपूर्ण तथा तर्कसंगत स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार कहा जा सकता है कि वर्ण-व्यवस्था का आधार ही पक्षपातपूर्ण है तथा नैतिकता के दोहरे मापदण्डों पर आधारित है।

2. **मानवीय सिद्धान्तों की अवहेलना :** आज सभी विचारक यह मानते हैं कि सामाजिक न्याय, समानता, स्वतंत्रता और सत्य सामाजिक व्यवस्था की स्थिरता के मूल आधार हैं; किन्तु वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत इन सभी की उपेक्षा स्पष्ट है।

3. **शूद्रों का शोषण :** वर्ण व्यवस्था में समाज के एक बड़े भाग को 'शूद्र' और 'अन्त्यज' कहकर इसका जो अमानवीय शोषण तथा कालान्तर में निर्योग्यताएँ लादकर जो तिरस्कार किया गया, वह

निश्चित रूप से लज्जास्पद है। इसी के कारण कालान्तर में जातीय तनाव व संघर्ष उत्पन्न हुए।

4. **एकाधिकार की सामाजिक रीति:** वर्ण व्यवस्था ने भारतीय समाज में चेतना तथा जागरूकता का ह्रास किया। आरम्भ में शक्तिसम्पन्न लोगों ने अधिकारों को स्वयं नियंत्रित कर लिया। बाद में दूसरे समूहों के उच्च स्थिति तक पहुँचने के मार्ग को बाधित किया। इस प्रकार सामाजिक प्रगति अवरूद्ध हुई।

अन्त में यह कहना उचित होगा कि कर्मवाद, भाग्य, पुनर्जन्म तथा मोक्ष जैसे विश्वासों ने वर्ण व्यवस्था को न केवल सशक्त किया, अपितु उसे दीर्घजीवी बनाकर स्थायित्व प्रदान किया। वर्तमान युग में शिक्षा, संचार, तार्किकता तथा समानता आदि के विकास के कारण इस व्यवस्था को स्वीकार्यता नहीं मिल सकती। वर्ण व्यवस्था के पुनः लौटने की संभावना नगण्य है।

आश्रम एवं संस्कार : अवधारणा आश्रम व्यवस्था

परम्परागत हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में भोग और त्याग के समन्वय की अद्भुत व्यवस्था है आश्रम व्यवस्था। आश्रम व्यवस्था हिन्दू सामाजिक संगठन का एक मूल आधार है। डॉ. पी. एच. प्रभु के शब्दों में "हिन्दुओं के द्वारा सोची तथा सुनियोजित की गई आश्रम व्यवस्था विश्व के सामाजिक विचारों के संपूर्ण इतिहास में एक अपूर्व देन है।" आश्रम व्यवस्था के माध्यम से व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करते हुए सामाजिक उन्नति में भी योगदान दे सकता है। एक आदर्श हिन्दू के लिए सम्पूर्ण जीवन ज्ञान प्राप्ति एवं आत्मानुशासन का काल है। इस अवधि में चार विभिन्न अवस्थाओं में रहकर उसे प्रशिक्षण प्राप्त-करना पड़ता है। यही आश्रम व्यवस्था है।

डा. के. एम. कापड़िया के सटीक शब्दों में, "हिन्दू आश्रम व्यवस्था में पुरुषार्थ सिद्धान्त की वास्तविक अभिव्यक्ति की गई है। "पुरुषार्थ चार माने गए हैं-धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। इन सभी दायित्वों का निर्वाह व्यक्ति द्वारा तभी संपन्न किया जा सकता है जब वह अपना मानसिक, शारीरिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास करे। विभिन्न आश्रमों में रहते हुए व्यक्ति स्वयं में इन सब गुणों का विकास करता हुआ जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति के लिए स्वयं को योग्य बनाता है। आश्रम व्यवस्था के द्वारा व्यक्ति अर्थ तथा काम का उपभोग करते हुए धर्म तथा मोक्ष को भी प्राप्त करता है। इसे एक नैतिक-मानसिक व्यवस्था के रूप में देखा जा सकता है।

आश्रम व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्त इस प्रकार हैं

1. **ऋण-**व्यक्ति पर पाँच प्रकार के ऋण होते हैं (1) देव ऋण (2) ऋषि ऋण (3) पितृ ऋण (4) अतिथि ऋण और (5) जीव ऋण। इनमें से तीन ऋण (ऋणत्रय) महत्वपूर्ण हैं जबकि बाद के दोनों ऋण गौण हैं। विभिन्न आश्रमों का विभाजन इस प्रकार किया गया है जिससे व्यक्ति व्यवस्थित रूप से इन ऋणों से उऋण हो सके, क्योंकि इसके बिना मोक्ष प्राप्ति संभव नहीं है।

2. **पंच महायज्ञ-**विभिन्न ऋणों से उऋण होने के लिए किए गए प्रयत्न यज्ञ कहलाते हैं। ऋणों की संख्या के अनुरूप ही यज्ञों की संख्या भी पाँच है (1) देव यज्ञ (2) ऋषि यज्ञ (3) पितृ ऋण (4) अतिथि यज्ञ (5) जीव यज्ञ। ये सभी यज्ञ आश्रम व्यवस्था के महत्वपूर्ण आधार हैं, क्योंकि विभिन्न आश्रमों में रहकर ही व्यक्ति इन यज्ञों की पूर्ति उचित रूप से कर सकता है।

3. **पुरुषार्थ-**आश्रम व्यवस्था का यह सबसे महत्वपूर्ण आधार है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के वास्तविक अर्थ को जाने बिना व्यक्ति का विकास असंभव है। आश्रम व्यवस्था के दायित्वों का

निर्वाह भी इन्हीं चार पर निर्भर है। सभी आश्रमों का प्रमुख उद्देश्य विभिन्न पुरुषार्थों को ही व्यवस्थित रूप से पूरा करना है।

4. **संस्कार-**आश्रम व्यवस्था का अन्तिम आधारभूत सिद्धान्त विभिन्न संस्कारों के माध्यम से व्यक्तिगत जीवन का परिष्कार करके व्यक्तित्व का विकास करना है। हिन्दू जीवन पद्धति में मौलिक रूप से 42 संस्कारों को माना गया है। इनमें से 16 संस्कार अधिक महत्वपूर्ण है। आश्रम व्यवस्था में संस्कारों का समावेश होने के कारण ही प्रत्येक आश्रम सांसारिकता और आध्यात्मिकता के बीच सामन्जस्य स्थापित करता है।

आश्रमों का विभाजन

ऋग्वेद में "जीवेम शरदः शतम्" की कामना की गई है। इस आधार पर आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को 100 वर्ष का मानकर इसे 25-25 वर्ष के चार आश्रमों में विभाजित किया गया है (1) ब्रह्मचर्य आश्रम (2) गृहस्थ आश्रम (3) वानप्रस्थ आश्रम (4) संन्यास आश्रम। ये चारों आश्रम इस प्रकार से परस्पर सम्बद्ध है कि एक आश्रम के दायित्वों को पूरा किये बिना दूसरे आश्रम के दायित्वों का सरलतापूर्वक निर्वाह नहीं किया जा सकता। महाभारत में वेदव्यास ने कहा है कि जीवन के चार आश्रम व्यक्तित्व के विकास की चार सीढ़ियाँ है जिन पर क्रम से चढ़ते हुए व्यक्ति 'ब्रह्म' की प्राप्ति करता है।

1. **ब्रह्मचर्य आश्रम-**ब्रह्मचर्य का आरम्भ बालक के उपनयन संस्कार शुरू हो जाता है। इस संस्कार के उपरान्त बालक शिक्षा प्राप्ति हेतु गुरू के पास चला जाता है तथा गुरू की सेवा में रहकर 25 वर्ष की आयु तक ज्ञान प्राप्ति करता है। इस अवधि में वह प्रेम, त्याग, शिष्टाचार, स्वावलंबन, सहन शीलता, सहिष्णुता, सदाचार जैसे उच्च गुणों का विकास करता है। आहार में सात्विक भोजन व गुरू तथा स्वयं के लिए भिक्षा से और वन से आहार की व्यवस्था करता है। ब्रह्मचर्य आश्रम के अंतर्गत बालक अपने भावी जीवन के लिए ज्ञान व विवेक का अर्जन करता है। ताकि भावी जीवन वह एक सम्पूर्ण सामाजिक प्राणी बनकर मानव समाज की सेवा में अर्पण कर सके।

2. **गृहस्थाश्रम-**ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति पर गुरू से आज्ञा पाकर बालक अपने परिवार में लौटता है। वहीं से गृहस्थाश्रम प्रारम्भ हो जाता है। गृहस्थाश्रम के अंतर्गत धर्म, अर्थ और काम, तीनों पुरुषार्थों की पूर्ति करनी होती है। पितृ ऋण, देव ऋण एवं ऋषि ऋण चुकाना होता है। इसी काल में उसे ब्रह्म, देव, ऋषि, मनुष्य एवं भूत, पाँचों यज्ञ करने पड़ते हैं। मनु ने चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम को श्रेष्ठ बताया है। गृहस्थाश्रम ही सामाजिक जीवन के सभी कार्यो को निर्वाह करने का मार्ग व साध न है। इसी आश्रम में रहकर व्यक्ति धर्म का पालन करता है, कर्म करता है तथा विवाह द्वारा सन्तान प्राप्ति व काम पूर्ति करता है, ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम एवं सन्यासाश्रम इन तीनों का पालन करने वालों की आवश्यकताओं की पूर्ति भी गृहस्थाश्रम के द्वारा ही की जाती है।

3. **वानप्रस्थाश्रम-**गृहस्थाश्रम के सभी उत्तरदायित्वों की पूर्ति के उपरान्त 50 वर्ष के बाद 75 वर्ष तक का काल वानप्रस्थाश्रम का होता है। इस काल में व्यक्ति अपने परिवार का त्याग कर जंगल में चला जाता था, वहाँ वह कुटिया बनाकर एकान्त में निवास करता था। यहाँ पर रहकर वह वेदों का अध्ययन करता था। यज्ञ, हवन आदि धार्मिक क्रियाएँ करते हुए ईश्वर की आराधना में लीन रहता था। इस आश्रम में व्यक्ति में संयम व सभी प्राणियों के लिए दया व प्रेम की भावना उत्पन्न होती थी। यह काल व्यक्ति में आत्म बोध का काल होता था।

4. **सन्यासाश्रम-**वानप्रस्थाश्रम के उपरान्त व्यक्ति सन्यासाश्रम में प्रवेश करता है। यह काल व्यक्ति के

जीवन के अन्तिम कदम मोक्ष प्राप्ति में मदद करता है। इस आश्रम में व्यक्ति जीवन के सभी कर्तव्यों को त्याग कर एकान्त में ईश्वर भक्ति करता है। भिक्षा के माध्यम से अपनी उदरपूर्ति करता है। इस आश्रम में व्यक्ति में कोई मोह, क्रोध की भावना नहीं होती थी बल्कि दया, सत्य एवं संयम का निवास होता था। उसके पास कोई सम्पत्ति नहीं होती थी। सभी प्राणियों के उपकार की सोचता था।

इस व्यवस्था का मुख्य ध्येय सामाजिक जीवन का व्यवस्थित रूप से संचालन करना था, ताकि व्यक्ति अपने ज्ञान में वरिण के साथ-साथ अपने अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति कर सके।

संस्कार : अवधारणा

प्राचीन काल से भारतीय समाज ने अपनी सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए विभिन्न संस्थाओं ने कई नियमों का विकास किया, फलस्वरूप प्राचीन काल से अब तक के भारतीय समाज ने विश्व में अपनी पहचान बना रखी है। भारतीय संस्कृति में हिन्दू धर्म का अत्यधिक महत्व रहा है। वेदों, रामायण, महाभारत, उपनिषदों आदि में धर्म का उल्लेख किया गया है। संक्षेप में भारतीय समाज को धर्म पर आध ारित माना जा सकता है, धर्म के पालन के लिए यज्ञों, ऋणों, संस्कारों, वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था आदि का उल्लेख किया गया है।

संस्कार का अर्थ

संस्कार शब्दा का प्रयोग भिन्न अर्थों में किया गया है जिनमें शिक्षा, संस्कृति, प्रशिक्षण, सौजन्य, पूर्णता, परिष्करण, आभूषण आदि सम्मिलित हैं।

संस्कार के अर्थ को वीर मित्रोदय ने बताया है कि यह एक विलक्षण योग्यता है जो शास्त्र सम्मत क्रियाओं के संपादन से उत्पन्न होती है। इस प्रकार संस्कार के द्वारा व्यक्तियों को समाज के मूल्यों प्रतिमानों एवं आदर्शों से परिचित कराया जाता है तथा उनके अनुरूप व्यवहार करने को तैयार किया जाता है। संस्कार-वे कार्य हैं जो मनुष्य को उपयोगी बनाते हैं। संस्कार व्यक्ति के परिष्कार, शुद्धि एवं प्रशिक्षण से जुड़े हैं तथा उसे सामाजिक-सांस्कृतिक प्राणी बनाने में महत्वपूर्ण हैं।

हिन्दू जीवन में प्रमुख संस्कार

हिन्दू जीवन में संस्कारों की संख्या को लेकर अत्यधिक भिन्नता है। एक ओर गौतम धर्मसूत्र में कुल 40 संस्कारों का वर्णन है तो दूसरी ओर मनुस्मृति, बाराह, गृह्यसूत्र, पारासर गृह्यसूत्र तथा बोधायान गृह्यसूत्र में इनकी संख्या 13 है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में यह संख्या केवल 11 ही निर्धारित की गई है। ऋषि दयानन्द ने विविध संस्कारों को समन्वित कर सोलह संस्कारों का विधान किया है। निम्नलिखित में से प्रमुख चौदह संस्कारों का उल्लेख किया जा रहा है।

1. **गर्भाधान संस्कार**-हिन्दू संस्कारों में सर्वप्रथम संस्कार गर्भाधान संस्कार है। "जिस कर्म के द्वारा पुरुष स्त्री में अपना बीज स्थापित करता है, उसे गर्भाधान कहते है", प्रजनन कार्य को उद्देश्यपूर्ण एवं सुसंस्कृत बनाने हेतु गर्भाधान संस्कार किया जाता है। हिन्दू समाज में पितृ ऋण से मुक्ति के लिए सन्तानोत्पति को अनिवार्य बताया गया है। इस ऋण की मुक्ति के बिना व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इस धारणा ने गर्भाधान संस्कार के महत्व को बढ़ा दिया है।

2. **पुंसवन**-गर्भाधान के निश्चित होने पर तीसरे माह पुंसवन संस्कार किया गया है। पुंसवन शब्द का अर्थ पुत्र संतान को जन्म देने की कामना है। वैदिक काल में युद्ध एवं धार्मिक कार्यों का अत्यधि क महत्व

था। पुरुषों की संख्या बढ़ाने के उद्देश्य से यह संस्कार अति महत्वपूर्ण माना जाता था। पुत्र संन्तान को जन्म देने वाली स्त्री को समाज में प्रतिष्ठा मिलती थी। यह संस्कार गर्भ में स्थित शिशु की मंगल कामना से संबंधित है।

3. **सीमन्तोन्नयन-**यह गर्भ में स्थित शिशु के सुरक्षित रहने की कामना के निमित किया जाता था। इस संस्कार में गर्भवती स्त्री के केशों (सीमन्त) को उपर उठाया (उन्नयतन) किया जाता था। यह संस्कार गर्भाधान के तीसरे या चौथे माह में किया जाता था। इस संस्कार के द्वारा गर्भवती और उसके पति के कर्तव्यों का निर्धारण भी किया जाता था, ताकि गर्भस्थ शिशु पर कोई दुष्प्रभाव न पड़े। पति को गर्भवती पत्नी की इच्छाओं की पूर्ति करनी होती थी।

   याज्ञवल्क्य के अनुसार गर्भिणी स्त्री की इच्छा पूर्ति करने से गर्भ दोषयुक्त हो जाता है। गर्भिणी स्त्री के भी कर्तव्य बताए गए थे जो कि उसे अनिवार्य रूप से पालन करने चाहिए, उसे हाथी, घोड़े, सीढ़ियां व पहाड़ पर नहीं चढ़ना चाहिए, कष्ट प्रद भारी कार्य नहीं करने चाहिए।

4. **जातकर्म संस्कार-**पुत्र जन्म पर यह संस्कार सम्पन्न किया जाता है। इस संस्कार में बालक के दीर्घ जीवन की कामना की जाती है। यह संस्कार वर्तमान समय में किसी न किसी रूप में सम्पन्न किया जाता है।

5. **नामकरण संस्कार-**बच्चे के जन्म के दसवें या बारहवें दिन यह संस्कार किया जाता है। इस संस्कार के अवसर पर हवन, पूजन किया जाता है। मित्रों, नातेदारों को आमन्त्रित किया जाता है। इस समय बालक का नाम रखा जाता है। उसके जन्म समय, नक्षत्र, आदि को ध्यान में रखकर नाम रखा जाता है।

6. **निष्क्रमण संस्कार-**शिशु के विधि-विधान पूर्वक प्रथम बार घर से बाहर ले जाने को निष्क्रमण संस्कार की संज्ञा दी गई। इस अवसर पर पिता बालक को बाहर ले जाता था तथा मन्त्रोच्चारण के साथ सूर्य का दर्शन कराता था।

7. **अन्नप्राशन संस्कार-**बालके के छः माह का होने पर उसे पहली बार अन्न खिलाया जाता था। यही अन्नप्राशन संस्कार है। बालक को दूध, दही, शहद, घी, भात आदि का मिश्रित भोजन खिलाया जाता था। इस संस्कार के अवसर पर भोजन तैयार करते समय वैदिक मंत्रों का उच्चारण किया जाता था। इस संस्कार का महत्व यह था कि उचित समय पर बालक को माँ के दूध पीने से अलग किया जाए ताकि उसका शारीरिक विकास सही रूप से हो सके।

8. **चूड़ा-करण संस्कार-**इस संस्कार को केशोच्छेदन या मुण्डन संस्कार भी कहा जाता है। शिशु के जन्म के पहले या तीसरे वर्ष यह संस्कार किया जाता था। तीसरे वर्ष किऐ जाने पर इसे अधिक उचित माना जाता था। वेद उच्चारण के साथ नाई के द्वारा चोटी को छोड़कर केश मुंडवा दिए जाते थे। इस संस्कार के पीछे स्वास्थ्य एवं सौंदर्य की भावना निहित थी। पहले यह संस्कार घरों में किया जाता था। वर्तमान में यह संस्कार देवालयों में किया जाने लगा है।

9. **कर्णभेद संस्कार-**बालक के तीन अथवा पाँच वर्ष के होने पर कान छेदे जाते थे। इसे कर्णभेद संस्कार कहते हैं। कानों को छेदने के लिए सुनार को बुलाया जाता था। चाँदी, सोने या ताँबे की सुई का प्रयोग किया जाता था, वैदिक मंत्रों के उच्चारण के साथ यह संस्कार किया जाता था, यह संस्कार स्वास्थ की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण माना जाता है।

NOTES

10. **विद्यारम्भ संस्कार**-बालक के पाँच वर्ष की आयु होने पर विद्यारम्भ संस्कार सम्पन्न किया जाता था। इसे अन्ताराम्भ या अक्षर लेखन संस्कार भी कहते हैं। गुरू पूर्व दिशा की ओर बैठकर पश्चिम की ओर मुंह करके बैठे हुए बालक को अक्षर लिखना सिखाता है। इस अवसर पर ब्राह्मणों को भोजन व दान दिया जाता था, वे बालक को आशीर्वाद प्रदान करते थे ताकि उसके ज्ञान में वृद्धि हो।

11. **उपनयन संस्कार**-बालक को शिक्षा के लिए गुरू के पास ले जाना उपनयन संस्कार है। अथर्ववेद में उपनयन शब्द का प्रयोग 'ब्रह्मचारी को ग्रहण करने' के अर्थ में लिया गया है। इस संस्कार के अंतर्गत बालक के उपनयन संस्कार की आयु उसके वर्ण के आधार पर निश्चित की गई थी। गृहस्थ सूत्रों के अनुसार ब्राह्मण बालक का उपनयन संस्कार आठवें वर्ष, क्षत्रिय का ग्यारहवें वर्ष एवं वैश्य का बारहवें वर्ष में माना गया है।

12. **समावर्तन संस्कार**-इस संस्कार को दीक्षान्त संस्कार भी कहते हैं। इस समय बालक की शिक्षा पूर्ण हो जाती है। वह गुरू को गुरु-दक्षिणा प्रदान करके घर लौटता था। इस संस्कार के उपरान्त ही बालक विवाहोपरान्त गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था।

13. **विवाह संस्कार**-यह संस्कार सबसे महत्वपूर्ण संस्कार माना जाता है। इस संस्कार के साथ ही बालक ब्रह्मचर्य आश्रम से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। पत्नी के अभाव में हिन्दू जीवन शैली में व्यक्ति अपूर्ण माना गया है। पत्नी प्राप्त करके वह चार पुरुषार्थों-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति कर पाता है। विवाह के पश्चात् ही वह ऋणों से उऋण होता है तथा पंच महायज्ञ कर पाता है। हिन्दू विवाह को एक धार्मिक संस्कार माना गया है-सामाजिक संविदा नहीं।

    वर्तमान में सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ अनेक संस्कार लुप्त हो चुके हैं। परन्तु फिर भी विवाह तथा अन्त्येष्टि जैसे संस्कार अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। हिन्दू संस्कार मानव विकास की एक क्रमिक योजना है जिसकी सहायता से व्यक्ति एवं समाज के बीच सर्वोत्तम समन्वय बनाए रखना संभव हो सकता था। इस दृष्टिकोण से संस्कारों का महत्व प्रमुख रूप से सामाजिक है, धार्मिक नहीं।

14. **अन्त्येष्टि संस्कार**-यह संस्कार मनुष्य की मृत्यु पर सम्पन्न किया जाता है। यह धार्मिक क्रियाओं द्वारा सम्पन्न किया जाता है तथा मृतक के लिए स्वर्ग व मोक्ष की कामना की जाती है। यह संस्कार अन्तिम संस्कार माना जाता था। इससे स्पष्ट है कि हिन्दू जीवन में न केवल इस लौकिक जीवन का महत्व है, बल्कि परिवार में सुख-शान्ति एवं कल्याण पर भी बल दिया गया है।

स्व-प्रगति की जाँच करें :

1. कर्म की अवधारणा स्पष्ट करें।
2. पुरूषार्थ की अवधारणा स्पष्ट करें।
3. वर्ण की अवधारणा स्पष्ट करें।
4. संस्कार का अर्थ स्पष्ट करें।

सारांश

परम्परागत हिन्दु समाजिक व्यवस्था में योग और त्याग के समन्वय की अद्भुत व्यवस्था है आश्रम व्यवस्था। आश्रम व्यवस्था हिन्दू सामाजिक संगठन का एक मूल आधार है। डॉ पी. एच. प्रभु के शब्दों में हिन्दुओं के द्वारा सोची तथा सुनियोजित की गई आश्रम व्यवस्था विश्व के सामाजिक विचारों के सम्पूर्ण इतिहास में एक अपूर्ण देने हैं। एक आदर्श हिन्दू के लिए सम्पूर्ण जीवन ज्ञान प्राप्ति एवं आत्यानशासन का काल है। इस अवधी में चार विभिन्न अवस्थाओं में रहकर उसे प्रशिक्षण प्राप्त करना पड़ता है।

स्वप्रगति की जाँच के उत्तर देखें :

1. कर्म का सिद्धान्त व्यक्ति को दिशा देता है, उसे सामाजिक दायित्वों के निर्वाह की प्रेरणा प्रदान करता है और भविष्य के प्रति आशावान बनाता है। कर्म की अवधारणा ने पिछली अनेक शताब्दियों से

लोगों को स्वधर्म का पालन करने, सामाजिक नियंत्रण बनाए रखने और सामाजिक संगठन को स्थिरता प्रदान करने मे अपूर्व योग दिया है।

2. पुरुषार्थ की अवधारणा दो विरोधी परन्तु अनिवार्य लक्ष्यों में समन्वय स्थापित करने में महत्वपूर्ण है। हिन्दू जीवन में आध्यात्मिकता तथा सांसारिकता को एक दूसरे का पूरक माना जाता रहा है। एक ओर मोक्ष को जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानकर त्याग को प्रोत्साहन दिया गया है। दूसरी ओर व्यक्ति को अनेक पारिवारिक तथा आर्थिक दायित्व सौंपकर उसे समूह से अभियोजन करने के निर्देश दिए गए। व्यक्ति को सभी कर्तव्यों को तथा सम्पूर्ण समाज और विभिन्न समूहों के प्रति अपने उत्तरदायित्व को निष्पादन करने के लिए ही पुरुषार्थ की व्यवस्था का निर्माण हुआ।

3. वर्ण व्यवस्था हिन्दुओं के सामाजिक जीवन में व्यवस्था और संगठन बनाए रखने का मूल आधर रही है। इसी व्यवस्था के कारण हिन्दू समाज में आज तक सामाजिक स्तरीकरण, सामाजिक नियन्त्रण, सामाजिक सहभागिता विद्यमान है। वर्ण व्यवस्था ने भरतीय समाज में राजनीतिक व धार्मिक क्षेत्र को तो प्रभावित किया ही है, वहीं इस व्यवस्था ने लोगों के मानसिक व बौद्धिक क्षेत्र को भी प्रभावित किया है। भारतीय समाज की उन्नति में इस व्यवस्था ने पर्याप्त योगदान दिया है। प्राचीन भारतीय समाज की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बनाने में इस व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। आर्यों का सामाजिक जीवन वर्णाश्रम व्यवस्था पर ही आधारित था। भारतीय साहित्य और संस्कृति की सुरक्षा एवं विकास में इस व्यवस्था का योगदान रहा है। वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य सामाजिक संगठन, सुव्यवस्था, विकास समृद्धि आदि के लिए समाज को चार भागों में बाँटना था।

   वैदिक युग में आर्यो ने कार्य विभाजन के आधार पर समाज को चार भागों में बाँटा, जिनमें ब्राह्मण का स्थान सर्वप्रथम रखा। इसके बाद क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र वर्ण आते हैं।

4. संस्कार शब्दा का प्रयोग भिन्न अर्थो में किया गया है जिनमें शिक्षा, संस्कृति, प्रशिक्षण, सौजन्य, पूर्णता, परिष्करण, आभूषण आदि सम्मिलित हैं।

   संस्कार के अर्थ को वीर मित्रोदय ने बताया है कि यह एक विलक्षण योग्यता है जो शास्त्र सम्मत क्रियाओं के संपादन से उत्पन्न होती है। इस प्रकार संस्कार के द्वारा व्यक्तियों को समाज के मूल्यों प्रतिमानों एवं आदर्शों से परिचित कराया जाता है तथा उनके अनुरूप व्यवहार करने को तैयार किया जाता है।

   संस्कार-वे कार्य हैं जो मनुष्य को उपयोगी बनाते हैं। संस्कार व्यक्ति के परिष्कार, शुद्धि एवं प्रशिक्षण से जुड़े हैं तथा उसे सामाजिक-सांस्कृतिक प्राणी बनाने में महत्वपूर्ण हैं।

अभ्यास प्रश्न

1. भारतीय समाज में कर्म की अवधारणा तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर विस्तार से प्रकाश डालें।
2. पुरुषार्थ का क्या अर्थ है? इसके प्रकारों का वर्णन करें।
3. वर्ण की अवधारणा तथा अर्थ समझाएं। इसके कार्यों तथा मूलभूत सिद्धांतों की व्याख्या करें।
4. आश्रम व्यवस्था पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
5. संस्कार की अवधारणा पर विस्तार से चर्चा करें।

ekMîy&3

NOTES

सांस्कृतिक बहुवाद
(Cultural Pluralism)

इस अध्याय के अन्तर्गत :

- परिचय
- बहुवाद की परिभाषा और अर्थ
- समाजशास्त्र में बहुवाद
- संस्कृतिक बहुवाद
- संस्कृति के एकीकरण के सिद्धान्त
- संरूपणात्मक दृष्टिकोण एवं सांस्कृतिक बहुवाद

अध्याय के उद्देश्य :

इस अध्याय के अध्ययन के उपरांत आप जान सकेंगे :

- बहुवाद की पिरभाषा और अर्थ
- समाजशास्त्र में बहुवाद की भूमिका
- सांस्कृतिक बहुवाद समझ
- संस्कृति के एकीकरण के सिद्धान्त
- संरूपणात्मक दृष्टिकोण एवं सांस्कृतिक बहुवाद

bdkÃ&6

cgokn dh vo/kkj.kk] lekt'kkL= es cgokn] lkL—frd cgokn

NOTES

विश्व की संस्कृतियों में भारतीय समाज की संस्कृति अति प्राचीन है। इसकी संस्कृति की उत्पत्ति एवं विकास का अध्ययन भारतीय विद्या, इतिहास, मानवशास्त्र तथा समाजशास्त्र आदि अनेक विज्ञान करते रहे हैं। इन विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि भारतीय समाज और संस्कृति में विभिन्न प्रजातियों, जातियों, जनजातियों, भाषायी समूहों, धर्मों, संस्कृतियों की बहुलता का सम्मिश्रिण विद्यमान है। इन्हीं विशेषताओं के कारण विद्वानों ने भारतीय समाज को सांस्कृतिक बहुलता, विविधता और एकता वाला समाज आदि के रूप में अध्ययन एवं वर्णित किया है समाजशास्त्रियों ने भी भारतीय समाज की इन्हीं विशेषताओं का अध्ययन करने के लिए विशिष्ट पक्ष एवं दृष्टिकोण अपनाए हैं। कुछ समाजशास्त्रियों ने भारतीय समाज और संस्कृति का युग-युग में विकास देखा है तो अन्यों ने इसकी एकता और विविधता का विवेचन किया है। कुछ समाजशास्त्रियों ने भारतीय समाज को समझने के लिए 'सांस्कृतिक बहुवाद : एकता और विविधता' शीर्षक के अन्तर्गत अध्ययन और विश्लेषण करने का प्रयास किया है। आपने भारतीय समाज के विकास की विवेचना करने के साथ-साथ यथास्थान स्पष्ट संकेत दिए हैं कि भारतीय समाज में सांस्कृतिक बहुवाद का विकास विभिन्न कालों में कैसे-कैसे होता रहा है। इन सब पक्षों का अध्ययन करने से पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि सांस्कृतिक बहुवाद की अवधारणा एवं इससे सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं को समझा जाए। इस अध्याय में इसी लक्ष्य की पूर्ति हेतु बहुवाद की परिभाषा और अर्थ, समाजशास्त्र में बहुवाद, तथा सांस्कृतिक बहुवाद की सविस्तार व्याख्या एवं सिद्धान्त का विवेचन किया गया है।

बहुवाद की परिभाषा एवं अर्थ (Meaning and definition of Pluralism)-बहुवाद का शाब्दिक अर्थ है-बहु अर्थात् अनेक तथा वाद अर्थात् सिद्धान्त। पूर्ण शाब्दिक अर्थ हुआ अनेक सिद्धान्त। वह विचारधारा या दर्शन जो अन्तिम सत्य के लिए दो से अधिक सिद्धान्तों को मानता है, बहुवाद कहलाता है। बहुवाद के पूर्ण अर्थ को समझने के लिए शब्दकोशों, विश्वकोश तथा विद्वानों के विचारों का अध्ययन अग्र पृष्ठों में किया जा रहा है-

1. **ऑक्सफोर्ड शब्दकोश** में बहुवाद का अर्थ दर्शन की वह व्यवस्था बताया गया है जो अन्तिम सत्य के लिए एक से अधिक सिद्धान्तों को मानता है।

2. **रेण्डम हाउस शब्दकोश** में बहुवाद का सामान्य अर्थ किसी भी स्थिति या लक्षण का बहुवचन या एकाधिक होना बताया गया है। बहुवाद का दार्शनिक अर्थ वह सिद्धान्त बताया गया है जिसमें मौलिक सारवस्तु, सार विषय या सिद्धान्त दो से अधिक हों। जैसे एकत्ववाद में एक कारक और द्वैतवाद में दो कारक होते हैं तथा बहुवाद में दो से अधिक कारक होते हैं। इस कोश में बहुवाद उस सिद्धान्त को भी बताया गया है जिसमें मौलिक सारवस्तु या सिद्धान्त चाहे मात्र एक हो लेकिन उसमें अनेक विशिष्ट और सुस्पष्ट कारक विद्यमान होते हैं।

3. **चैम्बर शब्दकोश** में बहुवाद उस दर्शन को बताया गया है जो सत्त्व के एक से अधिक सिद्धान्तों (एकत्ववाद का विरोधी) अथवा दो से अधिक सिद्धान्तों (एकत्ववाद और द्वैतवाद का विरोध 7) को मान्यता प्रदान करता है। इस शब्दकोश में बहुवाद समाज की वह स्थिति बताई गई है जिसमें विभिन्न प्रजातियाँ, समूह आदि अपनी प्रथाओं को सुरक्षित रखते हैं अथवा समान शक्ति वाले होते हैं।

4. **कॉल्लीन कामवुल्ड इंगलिश लेंग्वेज शब्दकोश** में इसे एक औपचारिक शब्द बताते हुए अर्थ स्पष्ट किया है कि बहुवाद में एक ही समाज, व्यवस्था या दर्शन में विभिन्न लोगों, मतों या सिद्धान्तों

के अनेक प्रकारों के अस्तित्व विद्यमान होते हैं।

5. **एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका** के अनुसार बहुवाद वह दार्शनिक सिद्धान्त है जो विशिष्ट प्रश्नों के अनेक अनुकूल उत्तर देता है तथा विचारों में सम्भावित संयोग इतिहास के दर्शन को देखने का लोकप्रिय तरीका भी प्रदान करता है।

NOTES

6. **इन्टरनेशनल एनसाइक्लोपीडिया** ऑफ दा सोशल साइन्सेज के अनुसार बहुवादी समाज उचित एवं तर्कयुक्त स्वतन्त्र, धार्मिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, व्यावसायिक और आर्थिक समतियों के प्रकारों वाला होता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन एवं वर्णित विशेषताओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि जब किसी सिद्धान्त में सभी प्रकार के परिणामों, निष्कर्षों एवं प्रभावों का कारण, एक कारक, चर अथवा तत्व माना जाता है तो ऐसा सिद्धान्त एकत्ववाद या अद्वैतवाद कहलाता है। इसी प्रकार जब किसी सिद्धान्त में सभी प्रकार के परिणामों के कारण दो से अधिक तत्वों, कारकों, चरों अथवा चालकों के आधार पर निर्णय करता है ऐसे सिद्धान्त को बहुवाद या बहुतत्ववाद कहते हैं। बहुवाद को एकत्ववादी सिद्धान्तों पर एक प्रहार कभी कहा जा सकता है। बहुवाद को एकत्ववाद का विरोधी, विपक्षी एवं विपर्याय मानना इसको संकीर्ण एवं नकारात्मक अर्थ प्रदान करना है। सकारात्मक दृष्टिकोण से बहुवाद स्वतन्त्र, धार्मिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, व्यावसायिक और आर्थिक आदि विचारों का वह समूह है जो समाज के बहुमुखी व्यवस्था एवं संरचना को मान्यता प्रदान करते हुए उसके बहुमुखी विकास की योजना प्रस्तुत करता है।

समाजशास्त्र में बहुवाद (Pluralism in Sociology)

अन्य विज्ञानों की तरह समाजशास्त्र में भी बहुवाद का उदय एवं विस्तार एकत्ववाद के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में देखा जा सकता है। इससे सम्बन्धित प्रमुख समाजशास्त्रियों सम्प्रदायों एवं विद्वानों के विचार निम्न हैं-

1. **कॉस्ट के विचार (Views of Comte)-**ऑगस्त कॉम्ट द्वारा समाजशास्त्र विषय की स्थापना को अन्य सामाजिक विज्ञानों-अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि के द्वारा समाज का किसी एक पक्ष के अध्ययन की प्रतिक्रिया का परिणाम कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। प्रकार्यात्मक सिद्धान्त बहुवादी है तथा समाजशास्त्र में इसका जो प्रभाव देखा जा रहा है उसका श्रेय ऑगस्त कॉम्ट को ही जाता है। आपने समाजशास्त्रीय अन्वेषण के एक भाग-सामाजिक स्थिरता का अध्ययन निश्चित किया है जो प्रकार्यवादी है। कॉम्ट के शब्दों में, "स्थिरता समाज में विभिन्न भागों की परस्पर क्रिया तथा प्रतिक्रिया की खोज से सम्बन्धित है। "आपका कहना है कि समाज की सभी संस्थाएँ विश्वास और नैतिकता आदि का पूर्ण के रूप में परस्पर सम्बन्धित होती है। प्रकार्यात्मक सिद्धान्त में इकाई का पूर्ण से, पूर्ण का इकाई से तथा इकाइयों के परस्पर अन्तः सम्बन्धों का सामान्यीकरण किया जाता है। यह दृष्टिकोण बहुवादी है।

2. **स्पेन्सर के विचार (Views of Spencer)-**ऑगस्त कॉम्टे के बाद हर्बर्ट स्पेन्सर ने समाजशास्त्र में प्रकार्यात्मक बहुवादी सिद्धान्त को आगे बढ़ाया। स्पेन्सर ने 'प्रिन्सीपल्स ऑफ सोशियोलॉजी' (1877) में समाज एवं संस्कृति के सम्बन्ध में लिखा है कि जिस संरचना में तत्व भिन्न-भिन्न गुणों वाले होते हैं अथवा संरचना में आन्तरिक विभेदीकरण अधिक होता है वहाँ पर तत्वों में अधिक मात्रा में पारस्परिक निर्भरता होती है। आपने यह भी लिखा है कि विभिन्न तत्व संरचना में अधिक मात्रा में एकीकरण बनाए रखते हैं तथा उनमें आन्तरिक असन्तुलन कम होता है। इस प्रकार स्पेन्सर ने

सामाजिक संरचना एवं संस्कृति के सन्तुलन और विकास में अनेक सारतत्वों, कारकों तथा लक्षणों को सन्तुलन एवं निपुणता के कारण बताकर बहुवाद को समाजशास्त्र में आगे बढ़ाया।

NOTES

3. **दुर्खीम के विचार (Views of Durkheim)**-अत्याधुनिक प्रकार्यवाद एक बहुवाद के रूप में स्पेन्सर की तुलना में इमाइल दुर्खीम (1858 1917) का अधिक ऋणी है। बहुवाद को दुर्खीम की पुस्तकें द डिविजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी तथा द रूल्स ऑफ सोशियोलॉजिकल मेथड्स एवं लेखों में देख सकते हैं। आपने अपनी श्रम-विभाजन की पुस्तक के द्वितीय खण्ड में श्रम के विभाजन के प्रकार्य और उसके कारणों में अन्तर स्पष्ट किया है तथा श्रम के विभाजन के अनेक समाजशास्त्रीय तत्वों पर प्रकाश डाला है। आपके अनुसार श्रम के विभाजन का कारण नैतिक सघनता का बढ़ना है। नैतिक सघनता जनसंख्या के दबाव के कारण बढ़ती है। जनसंख्या का दबाव बढ़ने से सामाजिक अन्तः क्रिया बढ़ती है, इससे सरल खण्डात्मज समाज द्वारा निर्मित नियन्त्रण टूट जाते हैं। प्रतिस्पर्धा और विरोध को कम करने तथा नियन्त्रित करने के लिए विशेषीकृत प्रकार्यों को अपनाया जाता है जिससे व्यक्ति एक-दूसरे पर आश्रित हो जाते हैं और इसके परिणामस्वरूप समाज के सदस्य परस्पर सहयोग करते हैं। इस प्रकार दुर्खीम श्रम के विभाजन, विशेषीकरण तथा सहयोग द्वारा जैविक एकता का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं जो बहुवादी है।

4. **वेबर के विचार (Views of Webese)**-मैक्स वेबर की मान्यता है कि समाज के विभिन्न लक्षण एवं तत्व परस्पर एक-दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते हैं। समाज की किसी भी घटना के परिणामों से सम्बन्धित किसी एक तत्व या कारक को कारण नहीं ठहराया जा सकता है। समाज में विद्यमान सभी कारक एक-दूसरे से इतने घनिष्ट रूप से गुम्फित होते हैं कि उनको कारण और प्रभाव के रूप में अलग करना असम्भव है। वेबर ने अपने ये विचार मार्क्स के आर्थिक निर्णायकवाद या एकत्ववाद के विरुद्ध प्रकट किए हैं। वेबर का सुझाव है कि समाज के अध्ययन की सुविधा के लिए किसी एक कारक को कारण मानकर अध्ययन किया जा सकता है। परन्तु यह निष्कर्ष देना कि अमुक कारक समाज से सम्बन्धित परिणामों अथवा परिवर्तनों का निर्णायक है गलत, तर्कहीन और अवैज्ञानिक होगा। वेबर ने मार्क्स के आर्थिक एकत्ववाद की कटु आलोचना ही नहीं की थी बल्कि आपने अपने विश्वविख्यात अन्वेषद 'द प्रोटेस्टेण्ट एथिक एण्ड द स्प्रिट ऑफ केपिटलिज्म' (1905) में सिद्ध कर दिया कि समाज की आर्थिकी का निर्णयक धर्म, जादू, तर्कवाद या परम्परावाद है तथा आधुनिक पूँजीवाद की उत्पत्ति और विकास स्वयं प्रोटेस्टेण्ट धर्म के कारण हुआ है। वेबर ने समाजशास्त्र में बहुवाद का समर्थन मार्क्स के एकत्ववववाद के विरुद्ध किया है।

5. **प्रकार्यवादियों के विचार (Views of Functionalists)**-प्रकार्यवादियों के दो भागों में बाँटकर निम्नलिखित देखा जा सकता है 5.1 मर्टन के अग्रह प्रकार्यवादी और 5.2 मर्टन के विचार।

   5.1 मर्टन के अग्रज प्रकार्यवादी (Predecessor Functionalists of Merton)-रेडक्लिफ-ब्राउन, मैलिनोव्स्की, किंग्स्ले डेविस, मूर, क्लूखन आदि भी बहुवाद के समर्थक रहे हैं। मर्टन के अनुसार इन विद्वानों के अध्ययनों, पुस्तकों, विचारों तथा सिद्धान्तों में समाज की प्रकार्यात्मक एकता, सार्वभौमिक प्रकार्यात्मकता और अपरिहार्यता को देखा जा सकता है। समाज की प्रकार्यत्मक एकता के सम्बन्ध में रेडक्लिफ-ब्राउन और मैलिनोव्स्की का कहना है कि सामाजिक संरचना की विभिन्न इकाइयाँ समाज में एकता बनाए रखती हैं। मैलिनोवस्की सार्वभौमिक प्रकार्यवाद के सन्दर्भ में लिखते हैं कि, "प्रत्येक इकाई, प्रत्येक स्थान पर, कोई-न-कोई महत्वपूर्ण कार्य करती है।" विभिन्न प्रकार्यवादी विशेष रूप में डेविस और मूर लिखते

NOTES

हैं कि सामाजिक संरचना में इकाइयाँ तथा उनके कार्य अपरिहार्य हैं तथा इकाई एवं उसके कार्य को संरचना से अलग नहीं किया जा सकता है। निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र में बहुवाद का कट्टर समर्थन प्रकार्यवादियों में देखा जा सकता है जो समाज और संस्कृति के प्रत्येक तत्व को महत्वपूर्ण मानते हैं।

5.2 **मर्टन के विचार (Views of Merton)-**आर. के मर्टन ने सोशियल थ्योरी एण्ड सोशियल स्ट्रक्चर में जो प्रकार्यात्मक रूपावली दी है वह बहुवाद का उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है। इसमें आपने समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के निर्माण के लिए सामाजिक संरचना के विभिन्न तत्वों के वैज्ञानिक अध्ययन को प्रकार्य, अकार्य और दुष्कार्य, तथा प्रकार्य और दुष्कार्य को पुनः प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कार्यों में विभाजित किया है। आपकी मान्यता है कि अध्ययन के अन्तर्गत सामाजिक व्यवस्था में प्रत्येक तत्व या संस्था का अध्ययन करना चाहिए जिसे उपर्युक्त वर्णित प्रकार्यों की योजनानुसार किसी-न-किसी रूप में अवलोकित किया जाएगा। इस प्रकार से आप सामाजिक संरचना में सभी इकाइयों, तत्वों आदि को परिणामों के लिए महत्वपूर्ण मानते हैं।

6. **सोरोकिन के विचार (Views of Sorokin)-**सोरोकिन ने बहुवाद के पक्ष में अपने विचार कॉनटेम्पोरेरी सोशियोलॉजिकल थ्योरिज में व्यक्त किए हैं। आपने मार्क्स के आर्थिक निर्णायकवाद की व्याख्या और आलोचना शीर्षक के अन्तर्गत लिखा है कि अनेक अध्यायों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि समाज के सम्बन्ध में मार्क्स का एकत्ववाद मान्य नहीं है। एस्पिनाज, दुर्खीम, पी. हूवेलिन, थर्नवाल्ड, मैलिनोव्स्की, हर्बट और माउस्स के अध्ययनों की शृंखलाओं ने स्पष्ट कर दिया है कि आदिम समाजों तक में उत्पादन की तकनीक तथा सम्पूर्ण आर्थिक जीवन को समकालीन धर्म, जादू, विज्ञान तथा अन्य बौद्धिक घटनाओं में अलग नहीं कर सकते। आपने वेबर के उपर्युक्त विचारों को भी बहुवाद के समर्थन में तथा मार्क्स की आलोचना में उद्धृत किया है। सोरोकिन का कहना है कि समाज में परिवर्तन या परिणाम का कोई एक कारक कारण, चर या चालक नहीं होता है बल्कि अनेक कारक मिलकर किसी परिणाम को प्रस्तुत करते हैं।

7. **लास्की के विचार (Views of Laski)-**हेराल्ड जे. लास्की (1893-1950) ने समाज की प्रकृति और संघात्मक विशेषताओं के कारण ही राज्य की सम्प्रभुता के एकत्ववाद का विरोध किया तथा राजनैतिक बहुवाद की स्थापना की थी। सामान्यतया सभी बहुवादियों का मत है कि समाज की प्रकृति और संगठन संघात्मक है। समाज में अनेक समुदाय होते हैं जिनका निर्माण मानव की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता है। इसी प्रकार समाज में अनेक आध्यात्मिक संस्थाएँ होती हैं जो लोगों की आध्यात्मिक जिज्ञासा की पूर्ति करती हैं। लास्की ने अपनी पुस्तक ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स में लिखा है कि चर्च, मजदूर सभा, मित्र-मण्डल, राजनैतिक दल, व्यावसायिक सभाएँ आदि कितनी ही समितियाँ हैं जो व्यक्ति का कल्याण करती हैं। आपने लिखा है कि, "राज्य मानवीय संस्थाओं के अनेक रूपों में केवल एक है। "जब समाज का स्वरूप संघात्मक है तो सत्ता भी संघात्मक होनी चाहिए। आपने समाज से सम्बन्धित अनेक सारतत्वों को महत्व दिया है तथा समाज से सम्बन्धित संस्थाओं एवं समितियों के सम्बन्ध में बहुवादी दृष्टिकोण अपनाया है। लास्की ने बहुवाद के सिद्धान्त की स्थापना समाज को संघात्मक सिद्ध करके की है। समाज के संघात्मक स्वरूप की स्थापना आपने ऐतिहासिक नैतिक, सामाजिक आदर्शवादी, मनोवैज्ञानिक, वैधानिक

और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोणों से अध्ययन करके की है। समाज संघात्मक है इसलिए सिद्धान्त भी बहुवादी होने चाहिये।

8. **मैकीवर के विचार (Views of MacIver)**-आर. एम मैकीवर (1882-1970) भी लास्की की भाँति एकतत्ववादी प्रभुसत्ता के घोर आलोचक हैं। मैकीवर के बहुवादी विचार उनकी पुस्तक द मॉडर्न स्टेट, 1926 में देखे जा सकते हैं। आपके अनुसार समाज में अनेक सामाजिक विधाएँ जैसे परिवार, चर्च, क्लब आदि होती हैं। इसी प्रकार समाज में अनेक सामाजिक शक्तियाँ रीति-रिवाज, प्रतिस्पर्धा आदि होती हैं। राज्य इनको सुरक्षित तथा संशोधित तो कर सकता है परन्तु इनका निर्माण नहीं कर सकता है। समाज में प्रत्येक समिति अपने सदस्यों के द्वारा संगठित होती है तथा उसका उद्देश्य सीमित होता है। आपने लिखा है कि विभिन्न प्रकार की समितियों की व्यवस्था, उनके विविध रूप, कार्य प्रणालियाँ, उद्देश्य आदि से मिलकर ही समाज का निर्माण होता है। राज्य भी एक ऐसी ही समिति है तथा समाज का एक अंग मात्र है। आप राज्य की एकत्ववादी प्रभुसत्ता का विरोध करते हैं। राज्य का स्वरूप एक सेवक की भाँति है स्वामी की भाँति नहीं और कोई भी सेवक अपने स्वामी से बड़ा नहीं होता। आपने समाज की परिभाषा में इसके विविध तत्वों तथा लक्षणों पर प्रकाश डाला है। आपके अनुसार समाज की परिभाषा इस प्रकार है, "समाज रीतियों तथा कार्य प्रणालियों की, सत्ता तथा पारस्परिक सहयोग की, अनेक समूहों तथा विभाजनों की, मानव व्यवहार के नियन्त्रणों तथा स्वतन्त्रताओं की एक व्यवस्था है इस सदैव परिवर्तनशील जटिल व्यवस्था को हम समाज करते है। यह समाजिक सम्बन्धों का जाल है और यह हमेशा बदलता रहता है।" निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि समाज और संस्कृति की जटिल समाजों तथा संस्कृतियों को समझा जा सकता है।

सांस्कृतिक बहुवाद (Cultural Pluralism)

समाजशास्त्र में समाज तथा संस्कृति से सम्बन्धित बहुवाद की विचारधारा लगभग समान है। उपर्युक्त वर्णित समाज से सम्बन्धित बहुवाद अक्षरशः सांस्कृतिक बहुवाद भी है। इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक बहुवाद से सम्बन्धित मानवशास्त्रियों तथा सामाजिक मानवशास्त्रियों जैसे टॉयलर, स्पेन्सर, मैलिनोवस्की, रेडिक्लिफ-ब्राउन, रूथ बेनेडिक्ट, क्रोबर आदि के विचार भी महत्वपूर्ण हैं। सांस्कृतिक बहुवाद को संस्कृति के संवर्द्धन के सिद्धान्तों जैसे-उद्विकास के बहुमार्गी सिद्धान्त, प्रसारवाद तथा इसके विभिन्न प्रकार जैसे-पर संस्कृति-ग्रहण, संस्कृति अन्तः ग्रहण, अन्तर-संस्कृतिकरण, प्रतिपरसंस्कृति-ग्रहण, तथा संस्कृति के एकीकरण के सिद्धान्त-प्रकार्यवाद में देखा जा सकता है। इन विभिन्न सांस्कृतिक बहुवाद से सम्बन्धित सिद्धान्तों एवं विचारों का संक्षिप्त एवं सारगर्भित विवेचन अग्र पृष्ठों में प्रस्तुत है-

1. टॉयलर के विचार (Views of Tylor)-ई. बी. टॉयलर ने सांस्कृतिक बहुवाद से सम्बन्धित विचार अपनी कृति 'प्रिमिटिव कल्चर' में प्रस्तुत किए हैं। सर्वप्रथम आपने सांस्कृतिक बहुवाद को संस्कृति की इस परिभाषा में व्यक्त किए हैं, "संस्कृति वह जटिल समग्रता है, जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा एवं इसी प्रकार की अन्य क्षमताएँ एवं आदतें सम्मिलित हैं जिन्हें मनुष्य समाज का सदस्य होने के कारण प्राप्त करता है।" इस परिभाषा के अनुसार संस्कृति अनेक तत्वों की जटिल व्यवस्था है। इस प्रकार के बहुवाद को सांस्कृतिक निर्धारणवादी नहीं मानते हैं। डी. एन. मजूमदार तथा टी. एन. मदन ने लिखा है कि सांस्कृतिक निर्धारणवादी आर्थिक संगठन तथा समाज का निर्णायक संस्कृति को मानते हैं। प्रारम्भ में क्रोबर सांस्कृतिक निर्धारणवाद को मानते थे बाद में अपने अपना दृष्टिकोण अधिजैविक अपनाया तथा लिखा कि, "संस्कृति अधिजैविक ही नहीं, अधि

मानसिक और अधिसामाजिक भी है। "इनके अनुसार, "मानव संस्कृति का निर्माता भी सम्भवतः उतना ही है जितना कि दास और वाहक है।" इन मतों से यह स्पष्ट होता है कि संस्कृति, व्यक्ति और समाज परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं और एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं जो संस्कृति का बहुवादी दृष्टिकोण कहा जा सकता है।

2. स्पेन्सर के विचार (Views of Spencer)-हर्बर्ट स्पेन्सर ने समाज एवं संस्कृति के सम्बन्ध में जो प्रकार्यात्मक बहुवादी विचार दिए हैं उनका विवेचन उपर्युक्त पृष्ठों में समाजशास्त्र में बहुवाद के अन्तर्गत किया जा चुका है। स्पेन्सर ने समाज, संस्कृति, धर्म आदि से सम्बन्धित जो उद्विकासीय सिद्धान्त प्रतिपादित किया है उसमें भी सांस्कृतिक बहुवाद सम्बन्धी विचारधारा देखी जा सकती है। स्पेन्सर ने लिखा है, "उद्विकास तत्व का समन्वय एवं उससे सम्बन्धित गति है, जिसके दौरान ये तत्व एक अनिश्चित, असम्बद्ध समानता से निश्चित सम्बद्ध भिन्नता में बदलता है।" आपने यही नियम समाज और संस्कृति पर लागू किया है। आपकी मान्यता है कि सभी संस्कृतियाँ एवं समाज एक निश्चित विकास क्रम से होकर गुजरते हैं। यह समाज एवं संस्कृतियों का विकास सरल से जटिल, समानता से असमानता, अनिश्चितता से निश्चितता अर्थात् 'अनिश्चित असम्बद्ध समानता' से 'निश्चित सम्बद्ध भिन्नता' की ओर होता है। इस निपुणता की सांस्कृतिक अवस्था में सभी तत्व जीव में विभिन्न कोषिकाओं की ओर होता है। इस निपुणता की सांस्कृतिक अवस्था में सभी तत्व जीव में विभिन्न कोषिकाओं की तरह परस्पर सम्बन्धित होते हैं। स्पेन्सर ने लिखा है कि इस निपुणता की अवस्था में सभी तत्व परस्पर संगठित होते हैं तथा एक-दूसरे से सम्बन्धित होने के कारण इनमें अनुकूलनता का गुण भी अधिकतम होता है। सारांशतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि स्पेन्सर के ये विचार समाज एवं संस्कृति के बहुवाद का समर्थन करते हैं।

3. स्टीवर्ड के विचार (Views of Steward)-नव उद्विकासवादी स्टीवर्ड का मत है कि विश्व की समस्त संस्कृतियों का विकास विभिन्न प्रदेशों तथा क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न रहा है। इस बहुमार्गी उद्विकास का कारण आपने परिस्थितियों की भिन्नता बताया है। आपने पेरू, अमरीका, मैसोपोटामिया, मिश्र और चीन आदि संस्कृतियों के अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष निकाला कि विभिन्न संस्कृतियों ने भिन्न-भिन्न मार्गों से उद्विकास करके समान अवस्था को प्राप्त किया है। आपने कहा कि मरुस्थल, हिम प्रदेशों के मैदानों और वनों की संस्कृतियों के विकास का क्रम भी परिस्थितियों की भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न रहा है। स्टीवर्ड संस्कृति के विकास को बहुमार्गी बताते हैं जो एक प्रकार से बहुवाद का समर्थन है।

4. प्रसारवादियों के विचार (Views of Diffusionists)-सांस्कृतिक बहुवाद को प्रसारवादियों की विचारधारा में देखा जा सकता है जो इस प्रकार है प्रसारवादियों का मानना है कि जब विभिन्न सांस्कृतिक समूहों का परस्पर सम्पर्क होता है तो उनमें एक-दूसरे के धर्म, प्रथा, कानून, रीति-रिवाज, भाषा, वस्त्र, कला, भोजन, बर्तन आदि वस्तुओं का परस्पर आदान-प्रदान होता है। जब दो या अधि क समूह, एक-दूसरे के समीप में निवास करते हैं तो उनमें पारस्परिक सम्बन्ध अवश्य स्थापित होता है तथा वह सांस्कृतिक आदान-प्रदान को प्रोत्साहित करता है। अधिक शारीरिक निकटता होने पर सांस्कृतिक प्रसार के अवसर बढ़ जाते हैं और इससे एक स्थान की संस्कृति के तत्व दूसरे स्थानो पर फैलते हैं। इसे ही प्रसारवाद के नाम से जाना जाता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि एक संस्कृति का प्रसार कई स्थानों पर हुआ है, संस्कृति के प्रसार की विशेषताएँ इस प्रकार हैं-(1) साधारणतया प्रसार 'उच्च संस्कृति' से 'निम्न संस्कृति' की ओर होता है। (2) प्रसार की स्थिति में सांस्कृतिक

तत्वों में ऐसे परिवर्तन आ जाते हैं। जिससे वे स्वयं को नवीन पर्यावरण के अनुरूप बना सकें। (3) कोई भी सांस्कृतिक समूह दूसरे सांस्कृतिक समूह की संस्कृति को भी उसी समय ग्रहण करता है जब उसके लिए उपयोगी और अर्थपूर्ण हो। (4) सांस्कृतिक प्रसार के परिणामस्वरूप ग्रहण करने वाले समूह में सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन हो सकते हैं। अनेक बार प्रसारित होने वाले सांस्कृतिक तत्व अपने आप ही दूसरे समूह में घुलमिल जाते हैं और अनेक बार यह कई परिवर्तनों के लिए उत्तरदायी होते हैं। (5) सांस्कृतिक प्रसार में कुछ बाधाएँ हाती हैं। यातायात एवं संचार का अभाव, रेगिस्तान, पहाड़, समुद्र एवं सम्पर्क का अभाव। प्रसारवादियों ने संस्कृतियों के इतिहास की रचना उनके प्रसार का पता लगाकर, करने का प्रयत्न किया है। इन्होंने समस्त विश्व की संस्कृति सम्बन्धी समानताओं की खोज की तथा सांस्कृतिक तत्वों के एक स्थान से दूसरे स्थान पर फैलने के कारणों की भी खोज की। इसके लिए समस्त संस्कृतियों के स्थान की रचना की गई तथा प्राचीनकाल में उनके सम्पर्क को देखा गया। प्रत्येक प्रसारवादी की अपनी-अपनी व्याख्या है, मुख्य रूप से बहुवाद से सम्बन्धित प्रसारवाद के निम्नलिखित सम्प्रदाय हैं-

4.1 जर्मन प्रसारवाद (Germann or Kulturkreise Diffusion School)-इस सम्प्रदाय का जन्म 20वीं सदी के प्रारम्भ में हुआ। इसे 'कल्चर क्रीज' भी कहा जाता है। कल्चर का अर्थ संस्कृति और क्रीज से है अर्थात् 'संस्कृति-चक्र' जो विभिन्न स्थानों पर प्रारम्भ हुए। इन्होंने संस्कृति का उद्विकास भी माना और प्रसार भी। इनके मत में कई स्थानों पर भिन्न-भिन्न समय पर संस्कृति का उद्विकास हुआ और उसके बाद जिन स्थानीय समूहों में सम्बन्ध स्थापित हुआ उनमे संस्कृति तत्व-समूहों का प्रसार भी होता गया और इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानों से समय-समय पर संस्कृति-चक्र उठते गए। यह सम्प्रदाय सांस्कृतिक बहुवाद में विश्वास रखता है तथा सांस्कृतिक बहुलता के विकास का पता लगाने के लिए संस्कृति-चक्र के इतिहास का भी पता लगाने की कोशिश करते हैं जिससे उनसे स्थापित हुए सम्बन्ध का व प्रसार का पता चल सके। इसलिए इस सम्प्रदाय को संस्कृति-इतिहास-सम्प्रदाय भी कहा जाता है।

इस सम्प्रदाय के समर्थकों में एंकरमैन और ग्रेवनर आदि प्रमुख हैं तथा उनके अगुआ फादर शिमिट है। ग्रेवनर ने सांस्कृतिक प्रसार को ज्ञात करने की दो विधियों की बात की है-(1) स्वरूप, और (2) संख्या। जब कभी दो सांस्कृतिक समूहों में संस्कृति-तत्वों की समानता दिखाई दे तो उनके स्वरूप और संख्या में कितनी समानता है, इसे ज्ञात किया जाना चाहिए। इस आधार पर यह ज्ञात किया जा सकेगा कि प्रसार हुआ अथवा नहीं। जितनी अधिक समानताएँ होंगी, प्रसार की उतनी ही अधिक सम्भावनाएँ होंगी।

4.2 अमेरिकन प्रसारवाद (American Diffusion School)-इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक फ्रेंज बोआस तथा क्लार्क विसलर हैं। पूर्व प्रसारवादियों ने प्रसार के तथ्यों को एकत्र करने का प्रयास किया किन्तु फ्रेंज बोआस ने 'प्रसार क्यों होता है?' इस पर प्रकाश डाला। फ्रेंज बोआस ने यह विचार किया कि किसी एक नियन्त्रित क्षेत्र का नक्शा बनाकर संस्कृति-तत्वों का का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाना चाहिए और फिर उसका साध रणीकरण किया जाना चाहिए। वहाँ के पर्यावरण, खाद्य सामग्री के साधन, भाषा, गृह-निर्माण, धर्म, सामाजिक संगठन, भौतिक संस्कृति और कला में यदि समानताएँ पाई जाती हैं तो उसे सांस्कृतिक क्षेत्र घोषित किया जा सकता है। यह सम्प्रदाय भी सांस्कृतिक बहुवाद की विचारध रा का समर्थन करता है तथा सांस्कृतिक बहुलता का अध्ययन करता है।

बोआस की नियन्त्रित क्षेत्र पद्धति का विकास विसलर ने किया। उन्होंने अमरीका और अफ्रीका के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों को निश्चित कर उसका अध्ययन किया। जैसे-उत्तरी अमेरिका में एस्किमो-संस्कृति क्षेत्र, उत्तरी-पश्चमी तट संस्कृति क्षेत्र, केलिफोर्निया व कोलम्बिया पठार आदि का निर्धारण कर वहाँ की परिस्थितियों, भोजन के साधन, गृह निर्माण, कला एवं ध र्म आदि सभी तत्वों की समानताओं पर प्रकाश डाला और निष्कर्ष निकाला कि प्रत्येक संस्कृति क्षेत्र में संस्कृति-तत्व एवं संस्कृति-तत्व-समूह का कोई केन्द्र होता है जहाँ से संस्कृति का प्रसार होता है। प्रसार होते समय ये संस्कृति-तत्व पर्यावरण के अनुसार परिवर्तित भी होते रहते हैं और उस पर्यावरण में ये विशिष्टता भी प्राप्त कर लेते हैं।

विसलर का यह भी मानना है कि अभौतिक संस्कृति के तत्व कुछ दूरी तय करने पर ध धले पड़ने लगते हैं तथा विभिन्न स्थानों के पर्यावरण के अनुसार उन तत्वों में मिल जाते हैं, जो उनकी विशेषता नहीं है। प्रत्येक संस्कृति क्षेत्र में वितरण का एक केन्द्र बिन्दु तय किया जा सकता है तथा उस संस्कृति क्षेत्र की सीमाएँ निर्धारित की जा सकती हैं। सीमा पर पहुँचकर ये तत्व हल्के पड़ जाते हैं और उनमें विदेशी संस्कृति की विशेषताएँ आ जाती हैं। संस्कृति के प्रसार या बहुलता के विकास में पहाड़ व समुद्र आदि बाधाएँ हैं। फिर भी संस्कृति का प्रसार होता रहता है। जहाँ पर दो संस्कृति क्षेत्र मिलते हैं उसे विसलर सीमान्त संस्कृति-क्षेत्र कहते हैं। इस स्थान पर दोनों क्षेत्रों की विशेषताएँ मिलती हैं।

4.3 पर-संस्कृति ग्रहण सम्प्रदाय (School of Acculturation)-प्रसारवादियों की मान्यता थी कि जब संस्कृति तत्व या संस्कृति तत्व समूह दूसरी संस्कृति में फैल जाते हैं तो उसे संस्कृति-प्रसार कहते हैं अर्थात् एक संस्कृति तत्व के समूह का दूसरे संस्कृति समूह से सम्पर्क होने पर प्रसार होता है। किन्तु कभी-कभी एक संस्कृति दूसरी संस्कृति के बहुसंख्यक संस्कृति-तत्वों एवं संस्कृति-तत्व समूहों को ग्रहण कर लेती है अथवा पूर्व संस्कृति द्वारा दूसरी संस्कृति के प्रभाव के कारण जीवन के सम्पूर्ण तरीकों को ग्रहण कर लिया जाता है तो इस विधि को पर-संस्कृति ग्रहण (Acculturation) कहा जाता है।

पर-संस्कृति ग्रहण भी एक प्रकार से संस्कृति का प्रसार ही हैं। अन्तर मात्र यह है कि संस्कृति प्रसार में थोड़े-से संस्कृति-तत्वों या संस्कृति-तत्व समूहों का प्रसार होता है, जबकि पर-संस्कृति ग्रहण में अनेक तत्व समूह एक संस्कृति द्वारा ग्रहण किये जाते हैं अर्थात् दोनों में मात्रा का अन्तर है। लिण्टन, रेडफील्ड, हरस्कोविट्स तथा बील्स आदि ने पर-संस्कृति ग्रहण को परिभाषित किया है।

हरकोविट्स का कहना है कि जब बच्चे को सांस्कृतिक प्रथाओं के अनुरूप बनाया जाता है तो इस प्रक्रिया को सांस्कृतिकरण (Enclturation) कहते हैं। यदि संस्कृतियों में आपस में संस्कृति-तत्वों या तत्व-समूहों का आदान-प्रदान होता है तो इस प्रक्रिया को 'पारस्परिक संस्कृति ग्रहण' (Transculturation) कहा जाता है। जब तक संस्कृति केवल दूसरी संस्कृति के तत्व समूहों को ग्रहण ही करती है, उसे कुछ देती नहीं, तो इस प्रक्रिया को पर-संस्कृति ग्रहण कहा जाता है। किन्तु विशुद्ध पर-संस्कृति ग्रहण बहुत कम देखने को मिलता है। पर-संस्कृति ग्रहण आत्मसात् के उद्देश्य की पूर्ति साधन है। कभी-कभी पर-संस्कृति ग्रहण के द्वारा संस्कृतियों में आत्मसात् (Assimilation) हो जाता है। किन्तु प्राय: होता यह है कि जिस संस्कृति पर दूसरी संस्कृति थोपी जाती है, वह एक स्थिति विशेष में पहुँचकर स्वयं की संस्कृति के प्रति

जागरूक होकर दूसरी संस्कृति के प्रति विद्रोही हो जाती है। क्योंकि पर-संस्कृति ग्रहण में दूसरी संस्कृति को कोई महत्व ही नहीं रहता अर्थात् वह समाप्त हो जाती है। कोई संस्कृति ऐसा नहीं चाहती। एक स्थिति में आकर वह प्रबल संस्कृति के प्रति विद्रोही हो जाती है, इसे 'पर-संस्कृति ग्रहण प्रतिक्रिया' अथवा 'विरोधी सांस्कृतिक प्रतिक्रिया' (Conra-Acculturation) कहा जाता है। संथाल, खासी, चिन, लुशियान और नागा आदि जनजातियों में आज भी विद्रोह के स्वर मुखरित हैं। नागा समस्या 'पर-संस्कृति-ग्रहण' की ही देन है। अनेक जनजातियाँ इसके कारण अपना अस्तित्व खो चुकी हैं। जब एक समूह अपनी संस्कृति को खो देता है, तो वि-संस्कृतिकरण (De Culturation) कहते हैं और जब नये संस्कृति-तत्वों को अपनाता है तो उसे नव-संस्कृतिकरण (Neo-Culturation) कहा जाता है। उपर्युक्त सभी संस्कृति के प्रसार के प्रकार सांस्कृतिक बहुलता के विकास और अध्ययन में सहायक हैं।

5. संस्कृति के एकीकरण के सिद्धान्त एवं सांस्कृतिक बहुवाद (Integration Theory of Culture and Cultural Pluralism) किसी संस्कृति के अंतर्गत अनेक इकाइयाँ अथवा तत्व पाए जाते हैं अर्थात् संस्कृति की संरचना अनेक सांस्कृतिक प्रतिमानों, संकुलों एवं तत्वों से होती है किन्तु तत्वों अथवा प्रतिमानों में एक पारस्परिक सम्बद्धता एवं आत्मनिर्भरता पाई जाती है जिसके परिणामस्वरूप संस्कृति में एक प्रकार का सन्तुलन पाया जाता है सन्तुलन से आशय यह है कि संस्कृति की विविध इकाइयाँ एक-दूसरे से सम्बन्धित होकर कार्य करती है साथ ही इन सांस्कृतिक तत्वों के सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढाँचों के अन्तर्गत व्यवस्थित प्रकार से एक-दूसरे से सम्बद्धता होती है। सांस्कृतिक तत्वों की इसी व्यवस्थित सम्बद्धता को संस्कृति का एकीकरण कहा जाता है। संस्कृति का एकीकरण तथा संगठन किस प्रकार कार्य करता है, कैसे सम्भव होता है और किस प्रकार बना रहता है, इसके विषय में संगठनवादियों ने अध्ययन किए हैं। इन्होंने सांस्कृतिक तत्वों के प्रकार्य पर जोर दिया है। इन संगठनवादियों ने अध्ययन किए हैं। इन्होंने सांस्कृतिक तत्वों के प्रकार्य पर जोर दिया है। इन संगठनवादियों की मान्यता यह है कि प्रत्येक संस्कृति-तत्व किसी-न-किसी प्रकार के प्रकार्य से सम्बन्धित रहता है, साथ ही अन्य सांस्कृतिक तत्वों से भी वह सम्बद्ध रहता है। इसीलिए उस तत्व का संस्कृति में अस्तित्व पाया जाता है। संस्कृति-तत्वों के प्रकार्य के कारण ही वे परस्पर एकीकृत हो पाते हैं-इसी को सांस्कृतिक संगठन अथवा एकीकरण की संज्ञा दी जाती है। यह एकीकरण अत्यधिक दृढ़ न होकर कुछ लचीला होता है। यह संगठन किस प्रकार कार्य करता है तथा कैसे अपने अस्तित्व को बनाए रखता है। इसके विषय में विभिन्न मत हैं जो सम्प्रदाय के रूप में है जिनमें से प्रमुख सम्प्रदाय प्रकार्यवादी, संरूपणात्मक एवं लयात्मक हैं जिनकी विस्तार से व्याख्या निम्नलिखित रूप में की जा सकती है-

5.1 प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण एवं सांस्कृतिक बहुवाद (Functional Approach and Cul-tural Pluralism) प्रकार्यवादियों के मतानुसार संस्कृति के प्रत्येक तत्व एक-दूसरे से सम्बद्ध व परस्पर अन्योन्याश्रित रहते हैं और प्रत्येक तत्व का कोई-न-कोई कार्य अवश्य होता है। इस कार्य को सम्पूर्ण करके ही वह तत्व संस्कृति के संगठन को बनाए रखने में अपना सहयोग देता है। इस प्रकार संस्कृति के संगठन को विधिवत् चलाने के लिए संस्कृति-तत्व द्वारा दिया जाने वाला योगदान ही उस तत्व का प्रकार्य है। प्रकार्यवाद का प्रयोग सर्वप्रथम दुर्खीम ने अपनी रचनाओं में किया, किन्तु प्रकार्यवादी दृष्टिकोण के प्रवर्तकों में मैलिनोव्स्की एवं रैडक्लिफ-ब्राउन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मैलिनोव्स्की सांस्कृतिक बहुवाद में विश्वास रखते थे। आपके मत में संस्कृति एक साधन है-इसके द्वारा मानव अपने शारीरिक

NOTES

और मानसिक एवं अन्तिम रूप से बौद्धिक अस्तित्व को बनाए रखने में सफल होता है। मानव की अनेक आवश्यकताएँ (जैसे-आर्थिक, सामाजिक व मानसिक आदि) होती हैं-इन्हीं आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वह संस्कृति (जिसमें धर्म, भाषा, कला, साहित्य एवं भौतिक व अभौतिक वस्तुएँ सम्मिलित हैं) का निर्माण करता है और उसके द्वारा अपने समस्त शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक अस्तित्व को बनाए रखता है। इसका अर्थ है कि संस्कृति की प्रत्येक इकाई किसी-न-किसी रूप में कार्यरत रहती है जैसे-एक मेज व्यक्ति के खाना खाने, पढ़ने, सामान रखने व कमरे की शोभा बढ़ाने आदि अनेक कार्य करती है। यह इकाई संस्कृति की अन्य इकाइयों से सम्बद्ध होती है (जैसे कुर्सी, व्यक्ति, सामान, भोजन आदि)। इस तरह संस्कृति की विभिन्न इकाइयाँ परस्पर सम्बद्ध होकर कार्यरत रहती हैं, किसी भी पृथक् इकाई का कोई अस्तित्व नहीं होता है-प्रत्येक इकाई का प्रत्येक के साथ प्रकार्यात्मक सम्बन्ध होता है-किन्तु प्रश्न है कि यह सम्बन्ध क्यों होता है इसका प्रत्युत्तर है कि चूँकि व्यक्ति की आवश्यकताएँ भी अलग-अलग न होकर परस्पर सम्बन्धित होती हैं, इसी कारण इन आवश्यकताओं को पूरा करने के साधन अर्थात् संस्कृति की विविध इकाइयाँ भी अन्तः सम्बन्धित हैं। संस्कृति के संगठन का उद्देश्य मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन उपलब्ध कराना है। यही मैलिनोव्स्की का सांस्कृतिक बहुवाद है।

विविध सांस्कृतिक तत्व संयुक्त रूप में रहकर इन उपर्युक्त आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, प्रत्येक समाज में इन सांस्कृतिक तत्वों के प्रकार तथा स्वरूप भिन्न-भिन्न होते हैं। इसी कारण प्रत्येक समाज का सांस्कृतिक ढाँचा भी अलग-अलग होता है। किन्तु मानव की प्राणिशास्त्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति प्रत्येक समाज में अवश्य ही की जाती है। आवश्यकताओं की नियमित पूर्ति की योजना की सफलता इकाइयों के संगठन पर निर्भर करती है अर्थात् यदि इकाइयाँ

असम्बद्ध रहती हैं तो योजना की सफलता असम्भव है और यदि इकाइयाँ परस्पर सम्बद्ध हैं तो उनमें एक प्रकार का संगठन मिलता है। इस प्रकार मैलिनोव्स्की के अनुसार अपने-अपने कार्यों में संलग्न इन सांस्कृतिक तत्वों का समग्र रूप ही संस्कृति है। इस प्रकार मैलिनोव्स्की सांस्कृतिक तत्वों के कार्यों को अत्यधिक महत्व प्रदान करते हैं। मजूमदार एवं मदन के अनुसार मैलिनोवस्की सांस्कृतिक बहुवाद के कट्टर समर्थक हैं।

प्रकार्यवादियों ने संस्कृति के बहुवाद में संस्कृति के तत्वों के कार्यों को अत्यधिक महत्ता प्रदान की है। इसमें संस्कृति की प्रकृति एवं विशेषताओं को विशेष महत्व दिया गया है।

5.2 संरूपणात्मक दृष्टिकोण एवं सांस्कृतिक बहुवाद (Contigurational Approach and Cultural Pluralism)

5.2.1 राल्फ लिंटन (Ralph Linton) ने संस्कृति को संरूपणात्मक रूप में देखा है। जिसमें सांस्कृतिक बहुवाद स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। लिण्टन के अनुसार संस्कृति सीखे हुए व्यवहारों का एक संरूपण या परिणाम है, संस्कृति के विविध तत्व परस्पर इस प्रकार संगठित होते हैं कि ये सब तत्व एक साथ मिलकर किसी समाज की संस्कृति को एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान करते हैं। प्रत्येक समाज की एक परम्परा या व्यवहार होता है जिनके आधार पर ही एक संस्कृति को दूसरी संस्कृति से अलग पहचाना जाता है।

5.2.2 रूथ बैनेडिक्ट ने संस्कृति-प्रतिमानों (Culture Patterns) की अवधारणा को विकसित किया। मान्यता है कि संस्कृति में संगठन (Integration) इसकी अन्तर्वस्तु (Content) के विविध भागों के स्थाई अथवा अर्द्ध-स्थाई रूप में स्थिति हो जाने पर होता है-अर्थात् बैनेडिक्ट का मानना है कि प्रत्येक संस्कृति में कुछ महत्वपूर्ण बड़े खण्ड होते हैं-इन खण्डों के भी छोटे-छोटे उपखण्ड होते हैं। ये उपखण्ड एक विशिष्ट तरीके से मिलकर ही बड़े खण्ड़ को निर्मित करते हैं और बड़े खण्ड मिलकर सम्पूर्ण संस्कृति का एक विशिष्ट प्रारूप बनाते हैं जिसे संरूपण कहा जाता है। अथात् बैनेडिक्ट के मतानुसार संस्कृति के ये बड़े-बड़े और महत्वपूर्ण खण्ड (जो अन्य अनेक उपखण्डों का सम्बद्ध रूप है) ही संस्कृति-प्रतिमान कहे जाते हैं। ये भिन्न-भिन्न प्रतिमान मिलकर एक बहुत बड़ा प्रतिमान बनाते हैं, जिसे सम्पूर्ण संस्कृति कहा जाता है। इस प्रकार संस्कृति का निर्माण अनेक प्रतिमानों के मिलने से होता है। आपने संस्कृति के प्रतिमानों को बहुगुणीय तत्वों के आधार पर निर्मित किया है उन्हें सांस्कृतिक बहुवाद के सन्दर्भ में देख सकते हैं।

5.2.3 रोबर्ट रेडफील्ड (Raber Redfield) ने सांस्कृतिक एकीकरण को प्रकट करने के लिए 'जीवन का प्रकार' (Style of Life) की अवधारणा विकसित की। रेडफील्ड का मानना है कि प्रत्येक संस्कृति का अपना एक विशिष्ट तरीका होता है जिससे सम्पूर्ण संस्कृति प्रभावित होती है। वह ढंग संस्कृति के प्रत्येक पक्ष (रहन-सहन, विचार-विमर्श, भोजन आदि) को प्रभावित करता है जिससे संस्कृति में एकीकरण जन्मता है–अतः किसी समाज की संस्कृति को समझने के लिए वहाँ के 'जीवन के प्रकार' को समझना आवश्यक होगा।

5.3 लयात्मक दृष्टिकोण या सांस्कृतिक लय एवं सांस्कृतिक बहुवाद (Thematic Approach or Culture Theme and Cultural Pluralism) – सांस्कृतिक लय के सिद्धान्त के प्रतिपादक मोरिस ओपलर (Morris Opler) हैं। ओपलर ने बैनेडिक्ट के विचारों की आलोचना की। उन्होंने बैनेडिक्ट के संस्कृति संरूपण के सिद्धान्त की आलोचना की और कहा कि संस्कृति संगठन के दो ही आधार-(अपोलोनियन और डायोनिशियन) नहीं होते, वरन् अनेक होते हैं-बैनेडिक्ट के सिद्धान्त की कमी को दूर करने के लिए इन्होंने 'सांस्कृतिक लय' का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। आपके मत में सांस्कृतिक संगठन के कारक केवल दो ही नहीं, अनेक होते हैं और विभिन्न संस्कृतियों में अलग-अलग होते हैं। प्रत्येक संस्कृति में मनुष्य के व्यवहारों में कुछ-न-कुछ विशेषताएँ होती हैं। इन विशेषताओं का कारण संस्कृति में पाये जाने वाले लय (Themes) होते हैं। लय वे सामान्य प्रेरणाएँ हैं जिनके कारण एक समाज के व्यक्तियों में विभिन्न प्रकार के विशिष्ट व्यवहार पाये जाते हैं। जिस प्रकार प्रत्येक संगीत की एक लय होती है। जिसके कारण उस संगीत के विभिन्न अंगों में एक संगठन बना रहता है और सम्पूर्ण संगीत को एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान होता है, उसी भाँति प्रत्येक संस्कृति में कुछ लय होती है। जो उस संस्कृति के विभिन्न अंगों को संगठित करती है। ओपलर ने चिरिकाहुआ अपाची (Chiricahua Apache) संस्कृति का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है, "पुरुष स्त्रियों की तुलना में शारीरिक, मानसिक और नैतिक सभी विषयों में अधिक श्रेष्ठ होते हैं" इस लय की उपस्थिति वहाँ के लोगों के अधिकांश व्यवहारों में देखी जा सकती है। माँ के गर्भ का बच्चा यदि अधिक सजीव है तो वहाँ के लोग यह भविष्यवाणी करते हैं कि गर्भ का वह बच्चा लड़का है। उस भाँति वहाँ की स्त्रियाँ शीघ्र उत्तेजित हो जाती हैं, मन में स्थिरता नहीं होती इस कारण वे पारिवारिक कलह उत्पन्न करने वाले कार्य कर सकती हैं। उनमें कामवासना अधिक होती है। राजनैतिक जीवन में भी लयात्मकता देखी जा सकती है। सभी जनजातीय नेता पुरुष हैं और प्रमुख

स्व-प्रगति की जाँच करें :

1. बहुवाद के सम्बन्ध में मर्टन के विचार प्रस्तुत करें।
2. बहुवाद के सम्बन्ध में लास्की के विचार स्पष्ट करें।
3. रोबर्ट रेडफील्ड ने सांस्कृति एकीकरण के सम्बन्ध में जो धारणा प्रकट की उसे स्पष्ट करें।

पदों पर नियुक्त हैं। रास्ते में पुरुष स्त्रियों से आगे चलते हैं। भोज के अवसर पर पुरुषों के लिए विशेष स्थान निर्धारित होता है। घर आये पुरुष अतिथि का विशेष ध्यान रखा जाता है। मनोरंजनात्मक अवसरों में भी सांस्कृतिक लय का ध्यान रखा जाता है। स्त्रियाँ सामाजिक उत्सवों में नाचती गाती नहीं हैं। सामूहिक खेल में वे भाग नहीं ले सकती। इस प्रकार प्रत्येक संस्कृति में मनुष्य के व्यवहारों में भिन्नता का कारण भिन्न-भिन्न लय है। 'लय' को एक प्रकार की प्रेरणा कहा जा सकता है, जो भौतिक और अभौतिक दोनों की प्रकार की संस्कृतियों को एक विशिष्टता प्रदान करती है। ओपलर लय की परिभाषा इस प्रकार देते हैं, "लय घोषित किया हुआ या कहा हुआ एक स्वयंसिद्ध सिद्धान्त या स्थिति है, जो प्रायः व्यवहार को नियन्त्रित या प्रेरित करती है जो एक समाज में स्वीकृत हो जाती है या स्पष्ट रूप से प्रोत्साहन पाती है।" इस प्रकार ओपलर के विचार बैनेडिक्ट के विचारों से भिन्न हैं। ओपलर लय को किसी विशिष्ट प्रकार तक ही सीमित नहीं मानते हैं। इनके मत से लय में कई प्रकार की विशेषताएँ हो सकती हैं और लय भी कई प्रकार की हो सकती है। यह लय संस्कृति के तत्वों में संगठन बनाये रखती है। इस प्रकार सांस्कृतिक लय का सिद्धान्त सांस्कृतिक बहुवाद का समर्थन तथा व्याख्या करता है।

सारांश

सांस्कृतिक बहुवाद को समाजशास्त्रियों, मानवशास्त्रियों एवं सामाजिक मानवशास्त्रियों ने अपने-अपने सिद्धान्तों में अनेक प्रकार से प्रस्तुत किया है। इन उपर्युक्त वर्णित सिद्धान्तों की सहायता से सांस्कृतिक बहुलता का क्रमबद्ध एवं वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है। संस्कृति को एकत्ववाद से समझना कठिन है तथा बहुवाद द्वारा समझना तथा वैज्ञानिक है।

स्वप्रगति की जाँच के उत्तर देखें :

1. **मर्टन के विचार (Views of Merton)**-आर. के मर्टन ने सोशियल थ्योरी एण्ड सोशियल स्ट्रक्चर में जो प्रकार्यात्मक रूपावली दी है वह बहुवाद का उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है। इसमें आपने समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के निर्माण के लिए सामाजिक संरचना के विभिन्न तत्वों के वैज्ञानिक अध्ययन को प्रकार्य, अकार्य और दुष्कार्य, तथा प्रकार्य और दुष्कार्य को पुनः प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कार्यों में विभाजित किया है। आपकी मान्यता है कि अध्ययन के अन्तर्गत सामाजिक व्यवस्था में प्रत्येक तत्व या संस्था का अध्ययन करना चाहिए जिसे उपर्युक्त वर्णित प्रकार्यों की योजनानुसार किसी-न-किसी रूप में अवलोकित किया जाएगा। इस प्रकार से आप सामाजिक संरचना में सभी इकाइयों, तत्वों आदि को परिणामों के लिए महत्वपूर्ण मानते हैं।

2. **लास्की के विचार (Views of Laski)**-हेराल्ड जे. लास्की (1893-1950) ने समाज की प्रकृति और संघात्मक विशेषताओं के कारण ही राज्य की सम्प्रभुता के एकत्ववाद का विरोध किया तथा राजनैतिक बहुवाद की स्थापना की थी। सामान्यतया सभी बहुवादियों का मत है कि समाज की प्रकृति और संगठन संघात्मक है। समाज में अनेक समुदाय होते हैं जिनका निर्माण मानव की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता है। इसी प्रकार समाज में अनेक आध्यात्मिक संस्थाएँ होती हैं जो लोगों की आध्यात्मिक जिज्ञासा की पूर्ति करती हैं। लास्की ने अपनी पुस्तक ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स में लिखा है कि चर्च, मजदूर सभा, मित्र-मण्डल, राजनैतिक दल, व्यावसायिक सभाएँ आदि कितनी ही समितियाँ हैं जो व्यक्ति का कल्याण करती हैं। आपने लिखा है कि, "राज्य मानवीय संस्थाओं के अनेक रूपों में केवल एक है। "जब समाज का स्वरूप संघात्मक है तो सत्ता भी

संघात्मक होनी चाहिए। आपने समाज से सम्बन्धित अनेक सारतत्वों को महत्व दिया है तथा समाज से सम्बन्धित संस्थाओं एवं समितियों के सम्बन्ध में बहुवादी दृष्टिकोण अपनाया है। लास्की ने बहुवाद के सिद्धान्त की स्थापना समाज को संघात्मक सिद्ध करके की है। समाज के संघात्मक स्वरूप की स्थापना आपने ऐतिहासिक नैतिक, सामाजिक आदर्शवादी, मनोवैज्ञानिक, वैधानिक और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोणों से अध्ययन करके की है। समाज संघात्मक है इसलिए सिद्धान्त भी बहुवादी होने चाहिये।

3. **रोबर्ट रेडफील्ड (Raber Redfield)-**ने सांस्कृतिक एकीकरण को प्रकट करने के लिए 'जीवन का प्रकार' (जलसम व स्पमि) की अवधारणा विकसित की। रेडफील्ड का मानना कि प्रत्येक संस्कृति का अपना एक विशिष्ट तरीका होता है जिससे सम्पूर्ण संस्कृति प्रभावित होती है। वह ढंग संस्कृति के प्रत्येक पक्ष (रहन-सहन, विचार-विमर्श, भोजन आदि) को प्रभावित करता है जिससे संस्कृति में एकीकरण जन्मता है अतः किसी समाज की संस्कृति को समझने के लिए वहाँ के 'जीवन के प्रकार' को समझना आवश्यक होगा।

अभ्यास प्रश्न

1. सांस्कृतिक बहुवाद से आप क्या समझते हैं? समाजशास्त्र में बहुवाद पर भिन्न विचारकों का मत स्पष्ट करें।
2. सांस्कृतिक बहुवाद पर अलग-अलग समाजशास्त्रियों के मतों की समीक्षा कीजिए।
3. प्रसारवाद की परिभाषा दें एवं इसके विभिन्न संप्रदायों के सांस्कृतिक बहुवाद से सम्बन्धित विचारों की समीक्षा कीजिए।

ekMîy&4

NOTES

ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय
(Rural and Urdan Community)

इस अध्याय के अन्तर्गत :

- परिचय
- ग्रामीण समुदाय और इसकी विशेषताएँ
- नगरीय समुदाय और इसकी विशेषताएँ
- ग्रामीण और नगरीय समुदाय में अन्तर

अध्याय के उद्देश्य :

इस अध्याय के अध्ययन के उपरांत आप जान सकेंगे :

- ग्रामीण समुदाय और इसकी विशेषताएँ
- इन दोनों के बीच में अन्तर
- सामाजिक जीवन के आधार पर
- पारिवारिक आधार पर
- नियंत्रण के आधार पर
- विशेषीकरण के आधार पर
- मनोवैज्ञानिक आधार पर
- आर्थिक जीवन के आधार पर
- सांस्कृतिक जीवन के आधार पर

bdkÃ&7 xkeh.k leqnk;] fo'k"krk,] uxjh; leqnk;] fo'k"krk,¡ xkeh.k ,o uxjh; leqnk; e vUrj

भारतीय समाज मुख्य रूप से एक ग्रामीण समाज। हमारे देश की 76.27 प्रतिशत जनंसख्या ग्रामों में निवास करती है, देश की लागत 70 प्रतिशत जनसंख्या खेती के द्वारा अपनी आजीविका उपार्जित करती है तथा कुल राष्ट्रीय आय का 50 प्रतिशित हिस्सा ग्रामों से प्राप्त होता है। सच तो यह है कि सम्पूर्ण विश्व में मानवसभ्यता का इतिहास ग्रामों के विकास से ही जुड़ा हुआ है। आरम्भ में, मनुष्य का जीवन जब पूरी तरह घुमन्तू था और विभिन्न मानव समूह के द्वारा ही अपनी उदर-पूर्ति करते थे। तब ग्राम जैसे किसी समुदाय का अस्तित्व नहीं था। इसके पश्चात् मनुष्य ने जब से पशु-पालन और कृषि के द्वारा आजीविका उपार्जित करने के लिए सामूहिक जीवन व्यतीत करना आरम्भ किया तभी से ग्रामों की स्थापना होना आरम्भ हो गयी। आज मनुष्य ने अपने बुद्धि-बल तथा नयी प्रौद्योगिकी के द्वारा भौतिक क्षेत्र में बहुत अधि क प्रगति कर ली है। लेकिन इतिहास इस बात का साक्षी है कि सभ्यता की इस दौड़ में अन्ततः वे समाज की जीवित रह सकेंगे जो ग्राम प्रधान तथा कृषि प्रधान हैं वास्तव में ग्राम ही किसी समाज में सच्चे प्रतिनिधि होते है। तथा ग्रामों के सगंठन पर ही समाज की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की आधारित होती हैं। इस दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि ग्रामीण की अवधारणा तथा विशेषताओं को समझकर इसकी नगरीय समुदाय से भिन्नता स्पष्ट की जाए।

ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय (Rural and Urdan Community)

साधारण रूप से 'ग्राम' एक बहुत सरल शब्द समझा जाता है। लेकिन इसे परिभाषित करना एक कठिन कार्य है कुछ व्यक्ति यह मानते है कि गाँव का तात्पर्य 'किसानों की बस्तियों से है' क्योंकि अनेक दूसरे विद्वानों के अनुसार किसी भी उस क्षेत्रीय में मूह को गाँव का जा सकता हैं जहाँ थोड़े से व्यक्ति प्राथमिक सम्बन्धों में बंधे हों और खेती के द्वारा आजीविका उपार्जित करते हों। रेडफील्ड (Redfield) का विचार हैं कि गाँव का तात्पर्य किसी विशेष स्थानीय क्षेत्र से नहीं होता बल्कि गाँव एक जीवन-विधि (Way of life) है। इसका तात्पर्य है कि जिस स्थान पर भी लोग एक दृढ़ सामुदायिक भावना से बंधे रहकर परम्परागत ढंग से व्यवहार करते हैं। उस स्थान को एक गाँव कहा जा सकता है अनेक विद्वानों ने कुल जनंसख्या तथा जनसंख्या में घनत्व के आधार पर गाँव को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। साध ारणतया यह समझा जाता हैं कि जिस स्थान पर 3,000 अथवा इससे कम व्यक्ति निवास करते हैं। उसे एक गाँव कहा जा सकता है।

वास्तव में उपयुक्त विचारों में से किसी भी आधार पर गाँव को परिभाषित करना बहुत कठिन है। भारत में बहुत से गाँवों की जनसंख्या 50,000 से भी अधिक है। इसी प्रकार अधिकांश गाँवों ने सभी व्यक्ति कृषि के द्वारा ही आजीविका उपार्जित नहीं करते बल्कि अनेक उद्योगों और दूसरे व्यवसायों के द्वारा भी आजीविका उपार्जित करते है। इस विधि में गाँव के कुछ प्रमुख विशेषताओं के आधार पर ही परिभाषित किया जा सकता है। इस आधार पर संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि गाँव वह समुदाय है जिसमें व्यक्तियों के सम्बन्ध सरल, प्राथमिक तथा परम्परागत होते हैं। एवं जिसके अन्तर्गत उत्पादन का उद्देश्य व्यक्तियों द्वारा अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरा करना होता है।

उपयुक्त रूप में गाँव का विकास किस प्रकार हुआ? इसे आगबर्न ने तीन प्रमुख स्तरों द्वारा स्पष्ट है (क) सबसे पहला स्तर शिकार करने और भोजन संकलित करने का स्तर था। इस स्तर पर लोग छोटे-छोटे समूहों में हमेशा स्थान परिवर्तन करते रहते थे। चारों और शक्ति का साम्राज्य था। जंगली जानवरों को मारकर और पौधों की खाने योग्य जड़ों को खाकर ही व्यक्ति अपना पेट भरते थे। इस स्तर पर गाँव किसी समुदाय का

NOTES

अस्तित्व नहीं था। (ख) दूसरा स्तर पशु-पालन का स्तर था जिसमें पशुओं कों मारने के स्थान पर उनको पालकर रखना आरम्भ हो गया। स्थान परिवर्तन में कुछ कमी हो जाने के कारण लोगों ने साथ-साथ मिलकर रहना आरम्भ कर दिया। इस समय पारिवारिक जीवन को एक स्पष्ट रूप अवश्य मिलने लगा था लेकिन लोगों के बीच अधिक सहयोग विकसित न हो सकने के कारण गाँवों की स्थापना नहीं हो सकी थी। (ग) तीसरे स्तर में लोगों ने एक स्थान पर स्थाई रूप से रहकर खेती के द्वारा आजीविका उपार्जित करना आरम्भ कर दिया। इसके फलस्वरूप गाँवों में न तो किसी के पास व्यक्तिगत सम्पत्ति होती थी। और न ही लोगों के व्यवहारों को नियन्त्रित करने के लिए नियमों की कोई सामान्य व्यवस्था थी। कुछ समय बाद जब व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना बढ़ने लगी तो खेती का कार्य व्यक्तिगत रूप से किया जाने लगा। ऐसे गाँवो को हम मध्यकालीन गाँव कहते हैं। आधुनिका गाँवों की नींव तब पड़ी जब कृषि में श्रम विभाजन और विशेषीकारण को महत्व दिया जाने लगा। यह स्तर गाँवों के वर्तमान रूप से सम्बन्धि त है।

ग्रामीण समुदाय (Rural Community)

जिस प्रकार विभिन्न विद्वानों ने 'ग्राम' शब्द को भिन्न-भिन्न प्रकार से स्पष्ट किया है उसी प्रकार 'ग्रामीण' शब्दों के विवेचन में भी भिन्नता देखने को मिलती है। किस स्थान अथवा किस विशेषता को ग्रामीण माना जाए? यह एक जटिल प्रश्न हैं यदि हम किसी विशेष क्षेत्र को 'ग्रामीण क्षेत्र' कहे तो यह कठिनाई सामने आती हैं कि उसी क्षेत्र के अन्दर एक-दूसरे से बहुत भिन्न विशेषताएँ प्रदर्शित करने वाले लोग साथ-साथ रहते हैं यदि हम कुछ प्रमुख विशेषताओं को ग्रामीण शब्द से सम्बन्धित मानें तो एक ही स्थान पर इन विशेषताओं में बहुत अधिक भिन्नता पाई जाती हैं। यदि सामाजिक और आर्थिक पिछड़ेपन को आधार माना जाए तो अनेक ऐसे समूहों को भी ग्रामीण कहा जा सकता है जो नगरों में निवास करते है। लेकिन सामाजिक और आर्थिक स्तर पर वह बहुत पिछड़े हुए होते है। इस समस्या का समाधान करते हुए मैकाइवर का कथन है कि "ग्रामीण शब्द किसी भौगिलिक स्थिति को स्पष्ट नहीं करता बल्कि यह सामुदायिक जीवन के एक विशेष स्वरूप को स्पष्ट करता है।" यह स्वरूप क्या है? इसे बताते हुए लैण्डिस (Landis) ने लिखा है कि जिस समूह में निम्नलिखित तीन विशेषताएँ पाई जाती हों उसी समूह को 'ग्रामीण' कहा जा सकता है:

(क) वह समूह जो प्रत्यक्ष रूप से प्रकृति पर निर्भर हो,

(ख) जिसका आकार सीमित हो, तथा

(ग) जिसमें सदस्यों के बीच घनिष्ठ और प्राथमिक सम्बन्ध पाये जाते हों।

इस प्रकार यह यदि निष्कर्ष निकलता है कि 'ग्रामीण' शब्द एक ऐसी विशेषता का बोध कराता है। जिसमें प्रकृति पर निर्भरता, सम्बन्धों में घनिष्ठता तथा छोटे आकार जैसे तत्वों का समावेश हो। इस अवधारणा के आधार पर ग्रामीण समुदाय को परिभाषित करना सरल हो जाता है।

मैरिल तथा एलरिज (Merrill and Elidge) के शब्दों में "ग्रामीण समुदाय एक ऐसा समुदाय है जिसमें व्यक्ति और संस्थाएँ एक छोटे से केन्द्र के चारों ओर संगठित होती है तथा जिसकें अन्तगर्त सभी सदस्य सामान्य और प्राथमिक हितों द्वारा एक-दूसरों से बंधे रहते हैं।" सामान्य शब्दों में कहा जा सकता है कि ग्रामीण समुदाय ग्रामीण पर्यावरण में स्थित व्यक्तियों का कोई भी वह छोटा अथवा बड़ा समूह है जो प्रत्यक्ष रूप से प्रकृति पर निर्भर होता हैं कृषि के द्वारा अपनी आजीविका उपार्जित करता है, प्राथमिक सम्बन्ध को अपने लिए आवश्यक मानता है तथा एक दृढ़ सामुदायिकता की भावना से बंधा रहता है।

ग्रामीण समुदाय की विशेषताएँ (Characteristics of Village Community)

भारतीय ग्रामीण समुदाय की अनेक विशेषताएँ संसार के दूसरे ग्रामीण समाजों के ही समान है लेकिन इसमें कुछ ऐसी विशेषताओं का भी समावेश है, जिन्हें भारतीय ग्रामीण समुदाय की मौलिक विशेषताएँ कहा जा सकता है। यह सच है कि हमारे ग्रामीण समुदाय की विशेषताओं में समय-समय पर अनके परिवर्तन होते रहे है, लेकिन इसके बाद भी परिवर्तन की यह प्रक्रियाएँ यहाँ के ग्रामीण जीवन को अधिक प्रभावित नहीं कर सकी। भारतीय ग्रामीण समुदाय में आज जो विशेषताएँ विद्यमान है, उन्हें संक्षेप में निम्नलिखित रूप से समझा जा सकता है:

(1) **छोटा आकार-**दूसरे समुदायों की तुलना में भारतीय ग्रामीण समुदाय का आकार बहुत छोटा है। यहाँ ग्रामीण समुदाय के छोटे आकार का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि इस समय भारत के कुल 5.76 लाख गाँवों में से लगभग 60 प्रतिशत गाँव ऐसे है जिनमें से प्रत्येक की जनसंख्या एक-एक हजार से भी कम है। वास्तव में जब कभी भी एक गाँव की जनसंख्या में वृद्धि होती है तो वह अवसर दो छोटे-छोटे गाँवों में विभाजित हो जाता हैं। इसी विशेषता के आधार पर रॉबर्ट रेडफील्ड ने भारतीय ग्रामीण समुदाय को 'लघु समुदाय' (Little Community) के रूप में स्पष्ट किया है ग्रामीण समुदाय में न तो आर्थिक विकास के अधिक उपलब्ध है और न ही गाँव के मुखिया के द्वारा अधिक जनसंख्या पर नियन्त्रण रखा जा सकता है। इसके फलस्वरूप भी ग्रामीण समुदाय का आकार छोटा ही बना रहता हैं।

(2) **कृषि ही मुख्य व्यवसाय-**हमारे ग्रामीण समुदाय की एक प्रमुख विशेषता इसकी अधिकांश जनंसख्या का कृषि पर निर्भर होना है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ग्रामीण समुदाय में अन्य व्यवसायों के द्वारा आजीविका उपार्जिता नहीं की जाती बल्कि इसका तात्पर्य केवल यह है कि ग्रामीण समुदाय के अधिकांश व्यक्ति कृषि के द्वारा ही अपनी आजीविका प्राप्त करते है। इस सम्बन्ध में एक विशेष बात यह है कि संसार के दूसरे देशों में जहाँ ग्रामीण के कृषि पर निर्भरता कम हुई है वहाँ भारत में ग्रामीण समुदाय की खेती पर निर्भरता निरन्तर बढ़ती जा रही है।

(3) **परिवार का महत्व-**भारत में ग्रामीण समुदाय में परिवार सबसे महत्वपूर्ण इकाई है। इसका तात्पर्य है कि यहाँ व्यक्ति की प्रतिष्ठा तथा मान-सम्मान का निर्धारण उसके परिवार की पृष्टभूमि में ही होता है। सामाजिक और धार्मिक उत्सवों के समय परिवार का सम्मानित होना अथवा बदनाम होना ही उसके सदस्यों की स्थिति को भी प्रभावित करता है। सच्चिदानन्द ने लिखा है कि "भारत के कृषक समाज में व्यक्ति की पहचान उसके विस्तृत परिवार के ही सन्दर्भ में होती है। "गाँवों में आज भी व्यक्ति उन्हीं कार्यों को करते हैं जिन्हें परिवार द्वारा उचित समझा जाता हैं व्यक्ति के विवाह सम्बन्धों, व्यवसाय और ऐच्छिक संगठनों की सदस्यता का निर्धारण करने में परिवार की भूमिका ही सबसे महत्वपूर्ण होती है। यहाँ तक कि व्यक्ति की राजनैतिक क्रियाएँ भी परिवार के बड़ों-बूढ़ों से प्रभावित होती है।

(4) **धर्म का महत्व-**भारत के ग्रामीण समुदाय में धर्म का महत्व आज भी सर्वोपरि है। साधारणतया ग्रामीण समुदाय का कोई भी सदस्य ऐसा व्यवहार नहीं कर सकता जिसे धर्म-विरोधी समझा जाता हो। प्रत्येक व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि वह अपने धार्मिक नियमों, परामपरागत विश्वासों और प्रथाओं के अनुसार व्यवहार करेगा। इसके फलस्वरूप गाँव में जो व्यक्ति जितनी अधिक धार्मिक बातें कर सकता है। उसे उतना ही बड़ा ज्ञानी और सिद्ध पुरूष समझा जाता है। सम्भवतः इसी कारण भारतीय गाँवों में आज स्थानीय देवी-देवताओं की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। धर्म के

परम्परागत स्वरूप ने ही एक ऐसी भाग्यवादियों को प्रोत्साहन दिया है जो व्यक्ति को और अधिक धर्मभीरू बना देती है।

(5) जीवन में महत्व-अन्य समुदायों की तुलना में ग्रामीण समुदाय का जीवन आज भी बहुत कुछ स्थिर अथवा अपरिवर्तनशील है। औद्योगिकरण तथा नगरीकरण के कारण जहाँ दूसरे समुदायों का रूप तेजी से बदल रहा है, वहाँ भारत के ग्रामीण समुदाय में आज भी परम्परागत जीवन शैली को ही अच्छा समझा जाता है। इसके फलस्वरूप भारतीय ग्रामों में परम्पराएँ, प्रथाएँ, धार्मिक विश्वास और आदर्श नियम आज भी इतने महत्वपूर्ण है कि व्यक्ति सरलता से उनकी अवहेना करने का साहस नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में, हमारा ग्रामीण समुदाय आज भी परम्पराओं से बंधा हुआ है।

(6) श्रम के विशेषीकरण का अभाव-भारतीय ग्रामीण समुदाय में अधिकांश व्यक्ति किसी विशेष क्षेत्र में प्रशिक्षित नहीं होते है। उन्हें अपने जीवन से सम्बन्धित लगभग सभी कार्यों का कुछ ज्ञान अवश्य होता हैं। उदाहरण के लिए ग्रामीण समुदाय में एक व्यक्ति इल चलाना, फसल बोना, सिंचाई करना, खाद बनाना, फसल को बाजार में बेचना, हल और बैलगाड़ी की मरम्मत करना जैसे सभी कार्य स्वयं ही कर लेता है। स्त्रियाँ अपने बच्चों का पालन-पोषण करने और परिवार से सम्बन्धित दूसरे दायित्वों को निभाने के साथ ही कृषि कार्य में भी सहयोग देती है। पशुओं खेत-खलिहान और फसल की देख-रेख करने का काम भी स्त्रियों और बच्चों द्वारा ही होती है। इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय ग्रामीण समुदाय का जीवन एक सामान्य जीवन है, विशेषीकृत जीवन नहीं है।

(7) सरल जीवन-ग्रामीण जीवन की यह एक सामान्य किन्तु आधारभूत विशेषता है। ग्रामीण चाहे कितना ही कठिन परिश्रम क्यों न करें, उन्हें जीवन की अनिवार्य सुविधाएँ भी कठिनता से ही मिल पाती हैं यह अभावग्रस्त जीवन उन्हें स्वयं ही सरल बना देता है। इस सरल जीवन के कारण नगरीय मनोवृत्ति वाले कुछ लोग ग्रामीण समुदाय को अकसर पिछड़ा हुआ मान लेते है, लेकिन यह ध्यान रखना आवश्यक है कि सरल जीवन और सरल विचार ग्रामीण समुदाय का पिछड़ापन न होकर उनकी संस्कृति का एक अंग है।

(8) सामाजिक जीवन में समरूपता-भारत के ग्रामीण समुदाय की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह समरूपता (homogeneity) से युक्त समुदाय है। इसका तात्पर्य है कि एक गाँव में भले ही अनेक धर्मों, जातियों और व्यवसाय से सम्बन्धित लोग साथ-साथ रहते हों, लेकिन उनके विचारों, मनोवृत्तियों, कार्य करने के ढंगों और उत्सवों को मनाने में अधिक भिन्नता देखने को नहीं मिलती। आर्थिक आधार पर भी कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकांश ग्रामीण का जीवन लगभग एक समान पाया जाता हैं समानता की यही विशेषता ग्रामीणों में एक दृढ़ सामुदायिकता की भावना को विकसित करती हैं।

(9) गतिशीलता की कमी-ग्रामीण समुदाय में स्थानीय और सामाजिक गतिशीलता का आज भी बहुत अभाव हैं। ग्रामीण व्यक्ति यह जानते है कि अपने गाँव से दूर जाकर वे अधिक आजीविका उपार्जित कर सकते हैं लेकिन इसके बाद भी वे साधारणतया अपने गाँव को छोड़ना नहीं चाहते। सामाजिक क्षेत्र में तरह-तरह के परिवर्तनों को शंका की दृष्टि से ही नहीं देखते बल्कि परिवर्तन को धर्म विरोध 7 भी समझते है। साधारणतया गाँव में व्यक्ति को एक बार जो सामाजिक स्थिति मिल जाती है। उसमें सरलता से कोई परिवर्तन नहीं होता। यहाँ कोई व्यक्ति न तो बार-बार अपना व्यवसाय बदलता है और न ही उसकी मनोवृत्तियों में अधिक परिवर्तन होता है।

(10) जाति-व्यवस्था का प्रभाव-भारतीय ग्रामीण समुदाय में व्यक्तियों के पारम्परिक व्यवहारों को निर्धारित करने में आज भी जाति-प्रथा का प्रभाव सबसे अधिक है। यहाँ आज भी आपसी सम्बन्ध ों का निर्धारण जाति के आधार पर ही होता है। लोगों के बीच खान-पान के सम्बन्ध जातिगत नियमों से प्रभावित होते है। गाँव में जाति पंचायतें आज भी विद्यमान है। जो व्यक्ति जाति के नियमों का उल्लंघन करता है। इसे इन जाति पंचायतों द्वारा सामाजिक बहिष्कार, जाति-भोज अथवा प्रायश्चित आदि के रूप में दण्ड दिया जाता है। जाति-प्रथा के कारण ही ग्रामीण समुदाय में हरिजनों को उनके वास्तविक अधिकार प्राप्त नहीं हो सके है।

(11) जजमानी प्रथा का प्रभाव-भारतीय ग्रामों में विभिन्न जातियों के पास्परिक सम्बन्धों का निध रिण करने में जजमानी प्रथा का भी महत्वपूर्ण योगदान है। जन्म, विवाह, मृत्यु तथा अनेक दूसरे उत्सवों और त्यौहारों के अवसरों पर ब्राह्मण, माली, धोबी, नाई, तेली, जुलाहा आदि जातियाँ संयुक्त से जजमान को अपनी सेवाएँ प्रदान करती है। सभी जातियों की सेवा के बदले अनाज, भोजन और वस्त्र देने का प्रचलन आज भी गाँवों में बना हुआ है। कुछ लोग यह समझते है। कि भारत के ग्रामीण समुदाय के विकास में जजमानी व्यवस्था बहुत बाधक है लेकिन वास्तव में भारत जैसे निर्धन ग्रामीण समुदाय के लिए यह प्रथा आज भी उपयोगी प्रतीत होती है।

(12) संयुक्त परिवार-प्रणाली भारतीय के ग्रामीण समुदाय में संयुक्त परिवारों के प्रधानता है। इन परिवारों में दो-तीन पीढ़ियों तक के रक्त सम्बन्धी साथ-साथ रहते हैं। और परिवार के सभी कार्यों में संयुक्त रूप से हाथ बँटाते हैं। परिवार में कर्ता का स्थान सर्वोच्च होता है और सभी सदस्य उसके आदेशों कापालन करना अनिवार्य समझते हैं। यह संयुक्त परिवार प्रणाली ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था और सामाजिक जीवन की अनेक विशेषताओं में परिवर्तन हो जाने के बाद भी संयुक्त परिवार प्रणाली को एक उपयोगी व्यवस्था के रूप में देखा जा रहा है।

(13) जनमत की प्रधानता-हमारे ग्रामीण-हमारे ग्रामीण समुदाय में व्यक्तिगत विचारों की तुलना में सामूहिक विचारों के अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है। इसका तात्पर्य है कि व्यक्ति के व्यवहार गाँव के अन्य लोगों की इच्छाओं और आकांक्षाओं से ही प्रभावित होते हैं। एक ग्रामीण व्यक्ति हमेशा इस बारे में सचेत रहता है कि उसके बारे में गाँव के अन्य लोग क्या सोचते हैं और उससे किन-किन कार्यों को करने की आशा रखते है। गाँव में व्यक्ति की प्रतिष्ठा का निर्धारण भी जनमत के आधार पर ही होता है। यही कारण है कि अप्रत्यक्ष रूप से 'पंच परमेश्वर' की धारणा को ग्रामीण समुदाय में बहुत महत्वपूर्ण समझा जाता है।

(14) अशिक्षा और भाग्यवादिता-भारतीय ग्रामीण समुदाय आज भी बहुत अशिक्षित और भाग्यवादी है। खेती की प्रकृति स्वयं इस प्रकार की है कि इसके लिए न तो शिक्षा को आवश्यक समझा जाता है और न ही इसके द्वारा शिक्षा दिलाने के लिए व्यक्ति साधन जुटा पाता है। अशिक्षा की दशा से भाग्यवादिता को स्वयं ही प्रोत्साहन मिलने लगता है। यहाँ बच्चों के जन्म, फसल की स्थिति, बीमारियों और आकस्मिक विपत्तियों के कारण व्यक्ति का भाग्य ही समझा जाता है। यह सच है कि भारत में सभी लोग कर्म की धारणा से किसी न किसी रूप में अवश्य प्रभावित होते हैं लेकिन ग्रामीण समुदाय में कर्मफल की धारणा, स्वर्ग और नरक तथा ईश्वरीय न्याय सम्बन्धी विश्वासों का जितना प्रभाव है वैसा किसी दूसरे समुदाय में देखने को नहीं मिलता।

ग्रामीण समुदाय की उपर्युक्त विशेषताओं से स्पष्ट होता है कि यह विशेषताएँ बहुत कुछ सीमा तक अपने परम्परागत रूप को बनाए हुए है। इसी के फलस्वरूप भारतीय ग्रामीण समुदाय को एक परम्परागत और

स्थिर समुदाय के रूप में परिभाषित कर दिया जाता है।

ग्रामीण समुदाय (Rural Community)

भारतीय ग्राम एक लम्बी अवधि तक अपनी परम्परागत विशेषताओं को बनाए रखने के बाद आज परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजर रहे है। ग्रामीण जीवन में होने वाले इन परिवर्तनों को कुछ विद्वान केवल सामान्य स्थिति के रूप में देखते हैं लेकिन अनेक व्यक्ति ऐसा महसूस कर रहे है कि इन परिवर्तनों के फलस्वरूप ग्रामीण समुदाय विघटित हो रहा है भारत में जब ब्रिटिश शासन आरम्भ हुआ तो यहाँ एक नई शासन व्यवस्था, न्याय व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था की स्थापना होने के कारण गाँवों पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। इसके पश्चात भूमि व्यवस्था में परिवर्तन होने के कारण गाँव पंचायतों के अधिकार कम होने लगे। औद्योगीकरण तथा नगरीकरण ने बाद में अनेक ऐसे परिवर्तन उत्पन्न किए जिन्हें परम्परागत ग्रामीण समुदाय के लिए उपयुक्त नहीं कहा जा सकता था। इन विभिन्न परिस्थितियों के अन्तर्गत भारतीय ग्रामीण समुदाय में स्पष्ट होने वाले कुछ प्रमुख परिवर्तनों को निम्नलिखित रूप से समझा जा सकता है :

(1) सर्वप्रथम, आज ग्रामीण समुदाय में व्यक्तियों की मनोवृत्तियों और सामाजिक मूल्यों में व्यापक परिवर्तन हुए है। परम्परागत रूप से गाँवों में प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्थिति को पूर्व जन्म के कर्मों और भाग्य का परिणाम मानता था। आज धर्म निरपेक्षता तथा समताकारी व्यवस्था के कारण अधिकांश ग्रामीण अपनी वर्तमान दशा को भाग्य का परिणाम मानने को तैयार नहीं है बल्कि वे इसके लिए एक आन्दोलनकारी प्रवृत्ति अपना रहे है। इस दशा ने अनेक कृषक आन्दोलनों और कृषक असन्तोष को जन्म दिया है।

(2) ग्रामीण समुदाय में संयुक्त परिवार व्यवस्था का आज भी उपयोगी समझा जाती हैं लेकिन इसके रूप में बहुत परिवर्तन हो गए है। गाँव में परिवार के कर्ता को आज न तो अधिनायकवादी अधि कार मिले हुए है और न ही परिवार के सदस्य कर्ता के आदेशों का पालन करना जरूरी समझते हैं। परिवार में स्त्रियों को भी पहले से अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई है। परिवार के सदस्यों के अधिकारों का निर्धारण भी परम्परा के द्वारा नहीं होता बल्कि प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता और कुशलता को महत्व दिया जाने लगा है।

(3) कुछ समय पहले तक भारतीय ग्रामीण के आधार समुदाय में सभी लोगों के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण जाति के नियमों के आधार पर होता था। आज गाँवों में ऊँची और नीची जातियों के पारस्परिक सम्बन्ध बहुत बड़ी सीमा तक बदल चुके हैं। यह सच है कि उच्च जातियाँ अभी भी निम्न जातियों के लोगों की पंचायतों और दूसरे महत्वपूर्ण पदों पर जाने से रोकने की कोशिश करती है; लेकिन ऐसा होना सदैव आवश्यक नहीं होता। निम्न जातियों में भी सामाजिक दौर आरम्भ हो गए हैं। कुछ समय पहले तक ग्रामीण समुदाय में ऐसे संबंधों का नितान्त अभाव था।

(4) औद्योगीकरण के फलस्वरूप गाँव से लाखों लोग आजीविका की खोज में प्रतिदिन नगरों की ओर जाते हैं। और काम के बाद पुनः गाँव में लौट आते हैं। ऐसे लोग नगरों की विशेषताओं का गाँवों में प्रचार कर देते हैं। इसी का परिणाम है कि ग्रामीण समुदाय में भी अब दिखावटी सम्बन्धों के वृद्धि होती जा रही है। ग्रामीण में व्यक्तिगत स्वार्थ की प्रधानता हो जाने के कारण परम्परागत सहयोग का भी अभाव दिखाई देने लगा है।

(5) परम्परागत रूप से गाँव में सभी जातियों के पारस्परिक सम्बन्ध जजमानी व्यवस्था के आधार पर निर्धारित होते थे। आज प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के लिए अपनी सेवाएँ एक कर्तव्य के रूप में न देकर

बल्कि एक समझौते के रूप में देना चाहता है। ऐसी सेवा के बदले व्यक्ति को मिलने वाला पुरस्कार यदि कम होता है तो वह तुरन्त सेवाएँ देना बन्द कर देता है। इसके फलस्वरूप ग्रामीण समुदाय में कोई ऐसी शक्ति शेष नहीं रह गई है जो सभी जातियों के लोगों को एकता के सूत्र में बाँध सके।

(6) विभिन्न राजनैतिक दलों के प्रभाव के आज ग्रामीण समुदाय में गुटबन्दी और परस्पर वैमनस्य ने गम्भीर समस्याओं का रूप धारण कर लिया हैं यह गुटबन्द मारपीट और मुकदमेबाजी के रूप में ही देखने को नहीं मिलती बल्कि इसने गाँवों के राजनैतिक जीवन को भी बहुत विषाक्त कर दिया है। सच तो यह है कि आज ग्रामीण समुदाय जातिवाद पर आधारित एक गुट समाज बन गया है जिसमें नैतिक मूल्यों का कोई स्थान नहीं रह गया है।

(7) गाँवों में नेतृत्व का एक ऐसा रूप विकसित हो रहा है जो समाज सुधार अथवा ग्रामीण विकास से अधिक प्ररित नहीं है। इस नेतृत्व में राजनैतिक और आर्थिक लाभ प्राप्त करने की भावना ही सर्वप्रमुख है। इसके फलस्वरूप आज प्रत्येक गाँव स्वयं से एक-दूसरे से पृथक समुदाय बनता जा रहा है तथा सभी गाँवों के बीच किस न किसी प्रकार का विरोध और पृथकता देखने को मिलती है।

इन सभी परिवर्तनों से स्पष्ट की होता है कि जिन विशेषताओं को हम बहुत अधिक लम्बे समय तक भारतीय ग्रामों की मौलिक विशेषताएँ मानते आ रहे थे, उनमें आज व्यापक परिवर्तन उत्पन्न हो गए है। इसके बाद भी यह सच है कि दूसरे समुदायों की तुलना में भारतीय ग्राम आज भी परम्पराओं से प्रभावित हैं तथा अधिकांश ग्रामीण नये परिवर्तनों के अपने लिए अधिक उपयोगी नहीं मानते।

नगरीय समुदाय (Urban Community)

आज सभी विद्वान यह स्वीकार करने लगे है कि समुदाय का स्वरूप ही व्यक्ति की यह वास्तविक परिस्थिति है जिसमें उसके व्यक्तित्व का एक विशेष ढंग से विकास होता है। जिस प्रकार पेड़-पौधों का फलना-फूलना, असमय मुर्झा जाना अथवा एक स्वथ्य आकार ग्रहण करना उनके चारों ओर की प्राकृतिक दशाओं पर निर्भर होता है, उसी प्रकार मुनष्य के व्यक्तित्व का विकास भी उसी ढंग से होता है जिस प्रकार के लोगों और सामाजिक मूल्यों के बीच वह रहता है। व्यक्ति के चारों ओर समुदाय से सम्बन्धि त जो सामाजिक विशेषताएँ विद्यमान होती है उन्हें व्यक्ति की 'सामाजिक परिस्थिति' कहा जाता है। वास्तव में नगर और गाँव एक-दूसरे से इसलिए भिन्न है कि उनकी सामाजिक परिस्थिति एक-दूसरे से पूर्णताया भिन्न होती है। इस दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि सामाजिक जीवन की सम्पूर्णता को समझने के लिए हम ग्रामीण समुदाय के साथ ही नगरीय समुदाय की अवधारणा और विशेषतओं को भी स्पष्ट करे। इन विशेषताओं को समझने के पश्चात् ही नगरीय समुदाय का ग्रामीण समुदाय से अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है।

साधारण नगर का तात्पर्य एक ऐसे बड़े और हित प्रधान समुदाय से समझा जाता है जिसमें अधिकांश व्यक्ति परिवर्तनशील जीवन व्यतीत करते हों। वास्तव में यह विचार इतना सामान्य हैं कि केवल इसी की सहायता से नगर की प्रकृति को समझ सकना बहुत कठिन है नगर क्या है? इसे विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न आधारों पर स्पष्ट कने का प्रयत्न किया है।

विलकॉक्स (Willcox) ने जनसंख्या के आधार पर नगरीय समुदाय को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "नगर का तात्पर्य उस क्षेत्र से है जहाँ प्रति वर्गमील में जनसंख्या का घनत्व 1,000 व्यक्यिों से अलग हो तथा जहाँ कृषि न की जाती हो।"

क्वीन (Quinn) ने वैद्यानिक आधार पर नगर को परिभाषित करते हुए कहा है कि "नगर का तात्पर्य

कानून द्वारा निर्धारित उस क्षेत्र से है जिसमें एक निश्चित आकार वाली जनसंख्या निवास करती है तथा जिसकी सीमाओं के अन्दर व्यवस्था स्थापित करने का कार्य राज्य द्वारा अधिकृत एक स्थानीय सत्ता द्वारा किया जाता है।" कानूनी आधार पर दी गई यह परिभाषा राजनैतिक अध्ययन के लिए उपयोगी हो सकती है लेकिन समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से इका कोई महत्व नहीं है।

किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) का कथन है कि "नगर के निर्धारण में जनसंख्या का घनत्व अथवा किसी स्थानीय सत्ता को महत्वपूर्ण तत्व नहीं माना जा सकता। इसका कारण यह है कि नगर कुछ विशेष प्रकार की सामाजिक विशेषातओं से बनने वाला समुदाय है इसका तात्पर्य है कि किसी स्थान पर जनसंख्या का घनत्व चाहे 1,000 से अधिक हो अथवा कम, यदि वहाँ पर नगरीय मनोवृत्तियाँ पाई जाती हो तो उस स्थान को नगर कहा जाएगा।" डेविस ने भारत का उदाहरण देते हुए बताया है कि यहाँ बहुत से गाँवों में जनसंख्या का घनत्व अनेक नगरों से भी अधिक है। लेकिन फिर भी ऐसे गाँवों को नगर नहीं कहा जा सकता।

लूमिस (C. P. Loomis) के अनुसार "नगर एक ऐसी इकाई है जिसे उसके समीपवर्ती क्षेत्रों से जनसंख्या के आधार और घनत्व, व्यवसाय की प्रकृति तथा सामाजिक सम्बन्धों की प्रकृति जैसी विशेषताओं के आधार पर पृथक किया जा सकता है।" यह परिभाषा स्पष्ट करती है कि वास्तव में नगर एक जीवन-विधि है। इस जीवन-विधि में औपचारिक तथा हित प्रधान सम्बन्धों का विशेष स्थान है। इसके अतिरिक्त नगर को ग्रामीण समुदाय से पृथक करने में जनसंख्या का आकार और घनत्व की भी अवहेलना नहीं की जा सकती है।

वास्तव में नगर जैसे जटिल और परिवर्तनशील समुदाय को किसी एक परिभाषा के द्वारा ही नहीं समझा जा सकता। नगरी समुदाय को समझने के लिए इसकी विशेषताओं पर ध्यान देना आवश्यक है। इस दृष्टिकोण से कहा जा सकता है। कि "नगर सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक भिन्नताओं से युक्त वह बड़ा समुदाय है, जहाँ व्यक्तिवादिता, प्रतिस्पर्द्धा और घनी आबादी के कारण नियन्त्रण के औपचारिक साध नों के द्वारा संगठन की स्थापना की जाती है।"

नगरीय समुदाय की विशेषताएँ (Characteristics of Urban Community)

विभिन्न विद्वानों ने नगरों की सामाजिक संरचना तथा उसमें पाये जाने वाले सामाजिक-आर्थिक सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए इसकी अनेक विशेषताओं का उल्लेख किया है। इनमें से कुछ प्रमुख विशेषतओं को स्पष्ट करके नगरीय समुदाय की प्रकृति को सरलतापूर्वक समझा जा सकता है

(1) **बड़ा आकार**-दूसरे समुदायों की तुलना में नगर एक ऐसा समुदाय है जो आकार में बहुत बड़ा होता है। नगरों के बड़े आकार का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता हैं कि भारत में आज 150 से भी अधिक नगर हैं जिनकी जनसंख्या एक लाख से भी अधिक है। दूसरी ओर दस नगर ऐसे है जिनमें 20 लाख से भी अधिक व्यक्ति निवास करते है। अनके नगरों में जनसंख्या का घनत्व 15,000 प्रति वर्ग मील से भी अधिक है इससे नगरों के बड़े आकार और जनसंख्या की अधिकता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

(2) **जनसंख्या में विभिन्नता**-नगर का आकार ही बड़ा नहीं होता बल्कि यहाँ धर्म, व्यवसाय और जीवन-स्तर के आधार पर भी बहुत विषमता पाई जाती है एक ही नगर में विभिन्न भाषाओं, धर्मों, जातियों, वर्गों और क्षेत्रों के व्यक्ति साथ-साथ रहकर कार्य करते है। उनकी वेश-भूषा, जीवन-स्तर

और विचारों में भी बहुत अन्तर पाया जाता है। इसका अर्थ है कि नगर एक ऐसा समुदाय है जहाँ सभी लोगों को अपनी रुची का पर्यावरण मिल जाता है। व्यक्ति यहाँ पर किसी भी समूह का सदस्य बनने के लिए पूरी तरह स्वतन्त्र होता है।

(3) **आर्थिक क्रियाओं का केन्द्र-**आरम्भिक नगरों का विकास ही उन स्थानों पर हुआ जहाँ व्यक्ति आजीविका के साधनों को सरलतापूर्वक प्राप्त कर सकते थे। आज भी नगर आर्थिक कार्यों के केन्द्र है। यहाँ अधिकांश व्यक्ति बड़ी मात्रा में उत्पादन और एक-दूसरे से भिन्न व्यवसायों में लगे होते है। सुरक्षा, न्याय, परिवहन और संचार की अधिक सुविधाएँ होने के कारण सभी साहसी और कुशल व्यक्ति नगरों में ही स्थायी रूप से रहना पसन्द करते है। आर्थिक क्रियाओं का केन्द्र होने के कारण ही नगरों की जनसंख्या में लगातार वृद्धि होती जा रही है।

(4) **आर्थिक विषमता-**यह सच है कि नगरों में व्यक्ति की जाति, धर्म अथवा विचारों को कोई महत्व नहीं दिया जाता लेकिन आर्थिक आधार पर नगरों की सम्पूर्ण जनसंख्या कुछ वर्गों में विभाजित होती है। एक ओर कुछ व्यक्ति उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार करके इतना लाभ प्राप्त कर लेते हैं। कि धीरे-धीरे सम्पूर्ण राजनीति और अर्थव्यवस्था पर उनका अधिकार हो जाता है। इसके बिल्कुल विपरीत दूसरी ओर कठिन शारीरिक श्रम करने वाला वह मजदूर वर्ग है जिसे एक समय के भोजन पर ही सन्तोष करना पड़ता है। एक तीसरा माध्यम वर्ग नगरीय समुदाय की सबसे प्रमुख विशेषता है यह वर्ग वह है जिनकी आय बहुत सामान्य स्तर की होती है लेकिन उसकी महत्वाकांक्षाएँ और मनोवृत्तियों उसे उच्च वर्ग के समान जीवन व्यतीत करने के लिए प्ररित करती है। यह तीन वर्ग तरह-तरह के प्रयासों द्वारा अपनी स्थिति को मजबूत बनाने में लगे रहते है जिसके फलस्वरूप नगरीय समुदाय में एक स्पष्ट वर्ग विभाजन की दशा उत्पन्न हो जाती है।

(5) **स्थानीय पृथकता-**नगरीय समुदाय में श्रम विभाजन और विशेषीकरण के कारण प्रत्येक कार्य का स्थान पूरी तरह निर्धारित होता है यदि नगरों की क्षेत्रीय संरचना को देखना जाए तो स्पष्ट होता है कि नगर के बिल्कुल मध्य में सार्वजनिक जीवन से सम्बन्धित कार्यालय स्थित होते है। उनके चारों ओर प्रमुख व्यापारिक संस्थान, होटल, रेस्तरां तथा मनोरंजन के साधन उपलब्ध होते है। नगरों के मुख्य भाग में घनी बस्तियाँ होती है। जबकि नगर के बाहरी क्षेत्रों में धनी और प्रतिष्ठित व्यक्तियों के निवास स्थान पाये जाते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि नगरों मे स्थानीय पृथकता बहुत अधिक होती है।

(6) **श्रम विभाजन और विशेषीकरण-**नगरी समुदाय एक ऐसी जीवन विधि को स्पष्ट करता है जिसमे सभी व्यक्ति एक विशेष कार्य से योग्यता प्राप्त करके आजीविका उपार्जित करने का प्रयत्न करते हैं। एक वस्तु के विभिन्न हिस्सों का उत्पादन बहुत से व्यक्तियों द्वारा पारस्परकि सहयोग के द्वारा किया जाता है। इसका परिणाम वह होता है कि किसी भी कार्य को श्रम विभाजन के बिना पूरा करना बहुत कठिन हो जाता है। श्रम विभाजन और विशेषीकरण ही वह विशेषता है जो नगर में सभी व्यक्तियों और वर्गों को एक-दूसरे से जोड़े रखती है।

(7) **द्वितीयक सम्बन्ध-**द्वैतीयक सम्बन्ध वे है जो हित प्रधान होने के साथ ही अपने प्रकृति से दिखावटी होता है। वास्तव में नगरीय समुदाय से सभी व्यक्तियों की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एक-दूसरे से बहुत भिन्न होती है। इसके फलस्वरूप व्यक्ति उन ही लोगों से सम्बन्ध स्थापित करता है जिससे उसके स्वार्थों की पूर्ति हो सके। इसके फलस्वरूप यहाँ नियन्त्रण के द्वितीयक साधनों जैसे कानून, पुलिस और न्यायालयों द्वारा औपाचारिक की स्थापना की जाती है।

(8) व्यक्तिवादिता तथा प्रतिस्पर्द्धा-नगरी समुदाय के सभी व्यवहारों में व्यक्तिवादिता और प्रतिस्पर्द्धा देखने को मिलती है। डेविस का कथन है कि नगरीय समुदाय में व्यक्तिवादिता इस सीमा तक पायी जाती है कि व्यक्ति प्रत्येक क्षेत्र में अपने आपको सबसे अधिक चतुर और प्रभावशाली दिखाकर अधि क से अधिक लाभ प्राप्त करने की कोशिश करता है, चाहे उसके कार्यों से अन्य व्यक्तियों को हानि होने की आशंका ही क्यों न हो। यह दशा प्रतिस्पर्द्धा में वृद्धि करती है। नगरों में यह प्रतिस्पर्द्धा केवल आर्थिक क्षेत्र में ही देखने को नहीं मिलती। बल्कि सामाजिक सांस्कृतिक और पारिवारिक क्षेत्र में ही देखने को नहीं मिलती है। इसके फलस्वरूप नगरों में संघर्ष की मात्रा भी दूसरे समुदायों की तुलना में अधिक पायी जाती है।

(9) सामाजिक गतिशीलता-नगरीय समुदाय में स्थान परिवर्तन की अधिकता होने के साथ ही सामाजिक गतिशीलता भी अपनी चरम सीमा पर पाई जाती है। सामाजिक गतिशीलता का अर्थ व्यक्ति की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन होते रहना है। इसका तात्पर्य है कि जब कमी भी व्यक्ति अपनी कुशलता और प्रयत्नों से अधिक साधन-सम्पन्न बन जाता है तब उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी पहले से ऊँची हो जाती है। इसी तरह आर्थिक जीवन में असफल होने पर उसकी सामाजिक स्थिति भी गिर सकती है। सामाजिक स्थिति में होने वाले वह परिवर्तन समुदाय के जीवन को बहुत परिवर्तनशील और असुरक्षित बना देते है।

(10) हितों पर आधारित सहनशीलता-डेविस ने लिखा है कि सहनशीलता नगरीय समुदाय का एक प्रधान लक्षण हैं नगरवासियों में यह सहनशीलता उनके व्यक्तित्व का आन्तरिक गुण नहीं होता है। बल्कि यह सहनशीलता बहुत दिखावटी और स्वार्थों से भरी हुई होती है। सभी लोगों के स्वार्थं एक दूसरे से भिन्न होने के कारण व्यक्ति बाहर से अपने आपको बहुत नम्र, मृदुभाषी और सहनशील दिखाकर अपने अधिक से अधिक स्वार्थों को पूरा करने का प्रयत्न करते है। जिन लोगों से व्यक्ति को कोई हानि की आशंका नहीं होती, केवल उन्हीं पर अपना नियन्त्रण रखने का प्रयत्न करता है। इस विशेषता ने नगरीय समुदाय को एक औपचारिक समुदाय बना दिया है।

(11) शिक्षित और तर्क-प्रधान जीवन नगरीय समुदाय की एक ऐसी जीवन-विधि है जिसमें शिक्षा और तार्किकता का विशेष महत्व होता है। एक ओर नगरों में शिक्षा की सुविधाएँ अधिक होती है। तो दूसरे ओर यहाँ अन्ध-विश्वासों और रूढियों को कोई महत्व नहीं दिया जाता। साधारणतया नगरों के निवासी उन बातों पर विश्वास नहीं करते जिन्हें तर्क के द्वारा प्रमाणित न किया जा सकता हो। इसके फलस्वरूप यहाँ पराम्पराओं के प्रति उदासीनता पाई जाती है तथा परिवर्तन का उत्साहपूर्वक स्वागत किया जाता है।

(12) सामाजिक समस्याओं की अधिकता-आज हम जिन प्रमुख सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का सामना कर रहे है, उनमें से अधिकांश समस्याएँ नगरीय समुदाय से ही सम्बन्धित है। नगरीय समुदाय जिनता बड़ा होता है वहाँ वर्ग संघर्ष, बीमारी, बेकारी, निर्धनता, भ्रष्टाचार, वेश्यावृत्ति, मद्यपान तथा युवा तनाव जैसी समस्याएँ उतनी ही अधिक पाई जाती है। इनका कारण नगरों का एक विशेष पर्यावरण है, जो व्यक्ति में मानसिक तनावों और व्यक्तिवादिता को बढ़ाकर अपराधी व्यवहारों को प्रोत्साहन देता है। अपराध करने के बाद नगरों के कोलाहल में अपने आपको छिपा लोना एक साध रण सी बात है।

उपयुक्त विशेषताओं के अतिरिक्त व्यवसायों की अधिकता, अवसरों की प्रचुरता, गन्दी बस्तियाँ, मानसिक तनाव, परिवार के प्रति उदासीनता तथा परिवर्तनशीलता आदि भी नगरों की कुछ प्रमुख विशेषताएँ हैं।

इन्हीं विशेषताओं के आधार पर नगरीय समुदाय को एक विशेष, 'जीवन विधि' के रूप में परिभाषित किया जाता है।

ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय में अन्तर (Distinction between rural and urban Community)

ग्राम तथा नगर की विशेषताओं को समझ लेने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों समुदायों के प्रकृति एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। मैकाइवर का कथन है कि इस अवधारणा के रूप में नगर तथा ग्राम एक-दूसरे से भिन्न अवश्य दिखाई देते है लेकिन इनके बीच पाई जाने वाली भिन्नता को पूरी तरह स्पष्ट करना बहुत कठिन है। इसका कारण यह है कि सभी गाँवों और सभी नगरों की विशेषताओं एक दूसरें के बिल्कुल समान नहीं होती। कठिनाई यह है कि एक नगर के अन्दर भी सभी वर्गों और समूहों की विशेषताएँ अत्यधिक भिन्न होती है। यहाँ कुछ लोग पूरी तरह से नगरीय होते हैं जबकि नगर के बहुत से लोग अपनी विशेषताओं में पूर्णतया ग्रामीण होते हैं। इसके अतिरिक्त, वर्तमान दशाओं में नगरीय और ग्रामीण समुदाय की प्रकृति बहुत परिवर्तनशील भी हो गई है। जब कभी भी नगरीय समुदाय की सीमाओं का विस्तार होता है। तो अनेक समीपवर्ती गाँव भी नगरों का हिस्सा बन जाते है। इस स्थिति में यह समझना बहुत कठिन हो जाता है। कि नगर के किस हिस्से को 'ग्रामीण' कहा जाए और किसे 'नगरीय'? इसके पश्चात् भी विभिन्न विद्वानों ने ग्रामीण और समुदायों की भिन्नता को अनेक क्षेत्रों में स्पष्ट किया है। प्रोफेसर देसाई ने ग्रामीण तथा नगरीय समुदाय के बीच पाये जाने वाले अन्तर को 9 आधारों पर स्पष्ट किया है-(1) व्यवसाय सम्बन्धी अन्तर, (2) समुदायों के पर्यावरणों में भिन्न्ता, (3) समुदाय के आकार में अन्तर, (4) जनसंख्या के घनत्व में अन्तर (5) जनसंख्या की विशेषताओं में भिन्नता, (6) सामाजिक गतिशीलता में अन्तर (7) स्थान परिवर्तन के स्वरूप में भिन्नता, (8) सामाजिक स्तरीकरण से सम्बन्धि त भेद तथा (9) सामाजिक अन्तक्रियाओं की प्रकृति के अन्तर।

रिचार्ड डेवी (Richard Dewy) का कथन है कि नगरीय समुदाय को इसकी 5 प्रमुख विशेषताओं के आधार पर समझा जा सकता है। अर्थात्-

(1) नगरों में प्रत्येक के आधार पर स्थिति एक दूसरे के लिए अज्ञात होती है।

(2) सभी लोग श्रम-विभाजन के द्वारा अपनी आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करते है।

(3) जनसंख्या में सामाजिक और आर्थिक भिन्नता बहुत अधिक पाई जाती है।

(4) सभी लोग एक-दूसरे से द्वितीयक और हित प्रधान सम्बन्ध रखते है, तथा

(5) सभी लोग स्वतन्त्र रूप से अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने के प्रयत्नों में लगे रहते हैं।

ग्रामीण समुदाय नगरीय समुदाय से इसलिए भिन्न है कि गाँव की विशेषताएँ नगरों की इन पाँचों विशेषताओं से पूर्णतया विपरीत प्रकृति की होती है। रिचार्ड डेवी ने बहुत संक्षेप में ग्रामीण और नगरीय समुदायों के अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है लेकिन प्रस्तुत विवेचन में हम हम कुछ प्रमुख आधारों पर नगरीय और ग्रामीण समुदायों के बीच पाई जाने वाली भिन्नता को निम्नांकित रूप से स्पष्ट कर सकते है :

(I) सामाजिक जीवन के आधार पर भेद (Contrast on the Basis of Social Life)

सामाजिक जीवन का निर्माण सामाजिक स्तरीकरण, गतिशीलता, सामाजिक संगठन, सम्बन्धों के स्वरूप तथा सामुदायिक भावना आदि के द्वारा होता है। इन सभी विशेषताओं के आधार पर गाँव और नगर एक

दूसरे से भिन्न प्रतीत होते हैं।

NOTES

(a) सामाजिक स्तरीकरण (Social Stratification) का अर्थ उस व्यवस्था से है जिसके द्वारा समुदाय में सदस्यों को भिन्न-भिन्न सामाजिक स्थितियाँ प्राप्त होती है। ग्रामीण समुदाय में अधि कतर व्यक्ति कृषि पर निर्भर रहने के कारण समान आर्थिक स्थिति के होते हैं इसलिए आर्थिक आधार पर उनके बीच कोई स्पष्ट स्तरीकरण नहीं पाया जाता। इसके विपरीत नगरों में सामाजिक पद और सम्पत्ति के आधार पर सभी व्यक्ति कुछ बड़े-छोटे वर्गों में विभाजित हो जाते हैं। यही कारण है कि गाँवों में आर्थिक आधार पर सामाजिक दूरी (Social distance) जैसी कोई भावना नहीं पायी जाती जबकि नगरीय समुदाय में सामाजिक स्तरीकरण का प्रमुख आधार व्यक्ति आर्थिक स्थिति ही है।

(b) सामाजिक गतिशीलता (Social mobility) का रूप नगरीय तथा ग्रामीण समुदाय में बिल्कुल भिन्न है। गाँव का जीवन बहुत स्थिर है जबकि नगरीय जीवन में बहुत गतिशीलता पायी जाती है। इसका मुख्य कारण यह है कि ग्रामों में कृषि ही एकमात्र व्यवसाय है जिसे छोड़कर दूसरे स्थान पर जान सरल नहीं है। नगरों में एक व्यक्ति को सैकड़ो व्यवसायों में से किसी भी व्यवसाय को चुनने की स्वतन्त्रता रहती है और कुछ व्यवसायों की तो प्रकृति ही ऐसी होती है। जिसके कारण व्यक्ति की स्थिति कभी भी सुरक्षित नहीं रहती। वह एकाकए धनाढ्य अथवा निर्धन बन सकता है। इसके अतिरिक्त रुचियों और मनोवृत्तियों में भी शीघ्रता से परिवर्तन होते रहने के कारण नगर में व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति हमेशा बदलती रहती है।

(c) सामाजिक सम्बन्धों का क्षेत्र (Social relationships) ग्रामीण समुदाय में बहुत सीमित होता है लेकिन ये सम्बन्ध स्थायी और प्राथमिक होते है। इनकी स्थापना व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण न होकर एक स्वाभाविक आदत के रूप में होती हैं। इसके विपरीत नगरों में एक व्यक्ति भिन्न-भिन्न पृष्ठभूमि के हजारों व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करता है। इसके सम्बन्धों का क्षेत्र तो विस्तृत होता ही है लेकिन इनमें विविधता भी आ जाती हैं ऐसे सम्बन्धों की प्रकृति अस्थायी और औपचारिक हो जाती है।

(d) सामाजिक संगठन (Social organization) के क्षेत्र में भी नगर और गाँव एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं गाँवों में समाज का संगठन अनौपचारिक और 'बिना शर्त का' (Unconditional) होता है। जबकि नगरों में व्यक्ति को मिलने वाली स्थिति, भूमिका और नियन्त्रण की पद्धतियाँ इस प्रकार की होती हैं जिनसे कुछ विशेष, समूहों के स्वार्थों को पूरा किया जा सके। इसके पूर्णतया विपरीत गाँव में व्यक्ति अपने परिवार, परम्पराओं और प्रथाओं की पृष्ठभूमि में कार्य करता हैं और प्रत्येक कार्य के पीछे उसका अन्तिम उद्देश्य अपने सम्पूर्ण समूह का कल्याण करना होता है। इस प्रकार ग्रामीण सामाजिक संगठन सरल है। जबकि नगरीय जीवन अत्यधिक जटिल है।

(e) सामुदायिकता की भावना (Community sentiment) का नगरीय समुदाय में पूर्ण अभाव होता हैं एक ही स्थान पर हिन्दू, मुसलमान, जैन, सिक्ख, ईसाई और फारसी साथ-साथ रहते हैं। एक ही स्थान पर उत्साही और निराश, धनी, निर्धन, विलासी, त्यागी, अशिक्षित और दार्शनिक सभी प्रकार के व्यक्ति पाये जाते है। इस प्रकार नगर में सामाजिक विभिन्नता के कारण सामुदायिकता की भावना अथवा 'हम की भावना' के प्रभावपूर्ण होने का प्रश्न ही नहीं उठता। गाँवों में सामाजिक विषमता का यह रूप लगभग नहीं के बराबर है। वहाँ की

सभी परिस्थितियाँ सभी व्यक्तियों के लिए लगभग समान है और इस प्रकार सभी एक दृढ़ सामुदायिक भावना में बँधे रहकर कार्य करते हैं।

(II) पारिवारिक आधार पर भेद (Contrast on the Basis of Social Life)

ग्रामीण और नगरीय समुदाय के अन्तर्गत सदस्यों के पारिवारिक सम्बन्धों, नियन्त्रण के साधनों, जीवनसाथी का चुनाव और सदस्यों की पारिवारिक स्थिति के आधार पर भी उनमें स्पष्ट भेद किया जा सकता है :

ग्रामीण समुदाय में परिवार एक शक्तिशाली और आत्मनिर्भर इकाई है। परिवार के प्रति सभी सदस्यों में असीमित उत्तरदायित्व की भावना होती है। प्रत्येक परिवार अपने सदस्यों पर नियन्त्रण रखने वाली सबसे शक्तिशाली संस्था है गांवों में सम्पत्ति व्यक्तिगत न होकर पारिवारिक होती है। सत्य तो यह है कि गाँव में व्यक्ति का अपना कोई पृथक अस्तित्व होता ही नहीं है। उसे केवल परिवार की एक इकाई रूप में ही देखा जाता है गाँवों में विवाह, व्यवसाय और मनोरंजन जैसे महत्वपूर्ण कार्य भी पूर्णतया परिवार की इच्छा पर निर्भर होते है व्यक्ति की इच्छा पर नहीं। परिवार की नैतिकता व्यक्ति की नैतिकता मानी जाती है। विवाह विच्छेद को सामान्यतः अच्छा नहीं समझा जाता क्योंकि इससे समूह की एकता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की आशंका की जाती है। परिवार के कार्य कम से कम दिखावे और अधिक से अधिक नियन्त्रणों से युक्त होते है।

नगरीय समुदाय की सभी परिस्थितियाँ इसके पूर्णतया विपरीत है। नगरों में मूल परिवारों के कारण व्यक्ति का जीवन परिवार से प्रभावित नहीं होता बल्कि परिवार का रूप व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर होता है। व्यक्ति यदि उच्च पद पर आसीन है तब परिवार को भी उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। परिवार के सदस्य किसी भी धर्म, जाति, रंग अथवा सम्प्रदाय के हों, कर्ता की सामाजिक स्थिति पूरे परिवार की स्थिति को प्रभावित करती है। नगर में एक ही परिवार के सदस्यों में औपचारिक सम्बन्ध पाये जाते हैं। यहाँ सम्पत्ति का रूप पूर्णतया वैयक्तिक होता है। और विवाह परिवार का उत्तरदायित्व न होकर व्यक्ति के रुचि पर आधारित है। नगर में अधिकतर स्त्रियाँ परिवार की संरक्षिका ही नहीं, बल्कि पति को मित्र और कार्यालयों में जीविका उपार्जित करने वाली आत्मनिर्भर सदस्य होती है इसके अतिरिक्त नगरीय परिवारों में अन्धविश्वासों, परम्पराओं और धार्मिक रूढ़ियों के स्थान पर नये विचारों और आधुनिक तौर-तरीकों को अधिक मान्यता दी जाती है।

(III) नियन्त्रण के आधार पर भेद (Contrast on the Basis of Social Control)

किसी समुदाय का संगठन उन साधनों और तरीकों पर आधारित होता है। जिनके द्वारा सदस्यों के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखा जाता है। ग्रामीण और नगरीय जीवन के नियन्त्रण का स्वरूप भिन्न-भिन्न होने के कारण भी इसने बीच अत्यधिक भिन्नता देखने को मिलती है।

सामाजिक नियन्त्रण का आधार गाँव और नगर में भिन्न-भिन्न हैं। ग्रामों में प्राथमिक सम्बन्धों, प्राथमिक समूहों और प्राथमिक नियन्त्रण की प्रधानता होती है जबकि नगरों में यह नियन्त्रण द्वैतीयक समूहों और नियन्त्रण के द्वितीयक साधनों द्वारा स्थापित किया जाता है।

प्रथागत नियन्त्रण ग्रामीण समुदाय की दूसरी विशेषता है। गाँव में प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे से व्यक्तिगत रूप से परिचित होता है इस कारण गाँव के किसी वृद्ध अथवा सम्मानित व्यक्ति की आज्ञा अथवा पंचायत द्वारा दिये गये फैसलों का महत्व किसी राजाज्ञा से कम नहीं होता। नगरों में समूह के निर्णय का व्यक्ति के जीवन में कोई महत्व नहीं है। कभी-कभी तो परिवार के नियम भी व्यक्ति के आचरणों को नियन्त्रित करने में असफल रह जाते है। इसके अतिरिक्त नगरों में उच्च पदों पर आसीन व्यक्तियों से भी पूर्ण न्याय की सम्भावना बहुत

रहती है। क्योंकि वैयक्तिक स्वार्थ और भौतिकता के कारण साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति वही निर्णय लेता है। जिससे उसका हित होता है।

नियन्त्रण के साधन भी दोनों समुदायों में भिन्न-भिन्न है। ग्रामीण समुदाय में नैतिकता का महत्व अधिक होने के कारण धर्म, प्रथा, परम्परा और लोकाचार (more) सामाजिक नियन्त्रण के प्रमुख साध न है जिनकी अवहेलना करना अक्षम्य अपराध समझा जाता है। नगरों में नैतिकता का दोहरा स्तर पाया जाता है, अर्थात् व्यक्ति का बाहरी और आन्तरिक व्यक्तित्व एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न होता है। इस औपचारिक जीवन को नियन्त्रित करने के लिए नियन्त्रण के द्वितीयक साधनों से पुलिस, गुप्तचर विभाग, कानून तथा न्यायालय आदि की सहायता से नगरों में नियन्त्रण स्थापित किया जाता है।

(IV) विशेषीकरण के आधार पर भेद (Contrast on the Basis of Specialization)

ग्रामीण समुदाय में जीवन का कोई भी क्षेत्र विशेषीकृत नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं के सम्बन्ध में थोड़ा-बहुत ज्ञान अवश्य रखता है। बीज बोने से लेकर फसल तक, यातायात के साधनों से लेकर कभी-कभी हल की मरम्मत करने का कार्य व्यक्ति स्वयं ही करता है। प्रत्येक व्यक्ति के विचार और मनोवृत्तियाँ लगभग समान होती है। गाँव में सभी व्यक्ति साथ-साथ रहते हैं। उनमें विभिन्न वर्गों के आधार पर क्षेत्रीय विभाजन नहीं पाया जाता। गाँवों में अपनी विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए किसी विशेष ज्ञान की आवश्यकता भी नहीं होती और इस प्रकार ग्रामीण समुदाय को एक 'सामान्य जीवन' (common life) कहा जा सकता है।

नगरीय समुदाय में विशेषीकरण अपनी चरम सीमा पर है। औद्योगीकरण के कारण आर्थिक क्रियाओं के क्षेत्र में बहुत हुई है। प्रत्येक व्यक्ति से किसी न किसी कार्य में विशेष योग्यता रखने की आशा की जाती है। नगरों में भिन्न-भिन्न व्यवसायों तथा आर्थिक स्थिति से सम्बन्धित समूहों का स्थानीय क्षेत्र भी एक-दूसरे से पृथक् होता है। यह विशेषीकरण का चरम रूप है। जिसे आधुनिक समाजशास्त्रियों ने क्षेत्रीय सिद्धान्त के रूप स्पष्ट किया है। हैरिस Harris द्वारा प्रस्तुत अग्र चित्र स्पष्ट करता है। कि नगर के केन्द्र भाग में फुटक व्यापारिक संस्थान होते हैं तथा अन्य दिशाओं में थोक विक्रय का काम (नं० 2) निम्न श्रेणी के निवास (नं०3), मध्यम वर्ग के निवास (नं०4) तथा उच्च वर्ग के व्यक्तियों के निवास स्थान (नं05) होते हैं। इस प्रकार नगरीय समुदाय प्रत्येक अर्थ में विशेषीकृत है।

(V) मनोवैज्ञानिक आधार पर भेद (Contrast on Psychological Basis)

मानसिक विशेषताओं जैसे मनोवृत्तियों (attitudes), भावनाओं (feelings) और व्यवहार-प्रतिमानों (behaviour patterns) के आधार पर भी नगरीय और ग्रामीण समुदाय में भेद किया जा सकता है।

ग्रामों में सामूहिकता की भावना का महत्व सबसे अधिक है। परम्पराओं, प्रथाओं और लोकाचारों के प्रति ग्रामीणों में असीम प्रेम पाया जाता है धर्म और संस्कार उनके व्यवहार के प्रमुख आधार हैं तथा सहनशीलता, पारस्परिक सहायता और जातीयता उनकी मानसिक विशेषताएँ हैं। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण कम सन्देहपूर्ण और कम आलोचनापूर्ण है। ग्रामीण जीवन में ऐसी मनोवृत्तियाँ पाई जाती हैं। जिनमें सम्पूर्ण गाँव को एक इकाई के रूप में संगठित करना सम्भव हो सका है। प्राथमिक सम्बन्ध और अनुकूलन करने का गुण ग्रामीण समुदाय की प्रमुख विशेषता है।

नगर में सभी कार्य व्यक्तिवाद की भावना से प्रभावित होता है। व्यक्ति अपने परिवार, पड़ोस अथवा सम्बन्धियों के प्रति भी विरोधी मनोवृत्ति रखा सकता है। नगर में रहने वाले लगभग सभी नवीनता से प्रेम

करते है। और धर्म, परम्परा तथा प्रथा को रूढ़िवादिता मानते है। इसी स्थिति में उन्हें प्रगतिवादी और सुधारवादी कहा जाता है। वे साधारणतया शंकालु प्रवृत्ति के और आलोचनात्मक स्वभाव के होते हैं। प्रतियोगिता के कारण उनमें पारस्परिक द्वेष और संघर्ष के मनोभाव विकसित हो जाते हैं और इस प्रकार मानसिक रूप से नगरों का जीवन उद्वेगपूर्ण, बनावटी और संघर्षयुक्त होता है। यही कारण है कि आधुनिक सभ्यता के विकास के साथ ही नगरों में मानसिक रोगों और पागलपन की मात्रा में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

(VI) आर्थिक जीवन के आधार पर भेद (Contrast on the Basis of Economic Life)

नगरयी व ग्रामीण समुदाय में विभिन्न व्यवसायों, जीवन-स्तर उपभोग की वस्तुओं और आर्थिक वर्गों की प्रकृति में भी भिन्नता होने के कारण महान अन्तर पाया जाता है।

ग्रामीण समुदाय में (क) व्यवसाय केवल दो प्रकार के ही पाए जाते हैं-कृषि और कुटीर उद्योग-ध थे। इनमें किसी प्रकार की व्यावसायिक प्रतिस्पर्द्धा की सम्भावना बहुत कम रहती है। (ख) ग्रामीण जीवन-स्तर सादा और विशुद्ध होता है। अधिकार ग्रामीण अपने जीवन की केवल अनिवार्य आवश्यकताएँ ही पूरी कर पाते हैं। (ग) आर्थिक साधन बहुत सीमित होने के कारण ग्रामीण जीवन में आर्थिक अससानता बहुत कम होती है। इसे परिणामस्वरूप वर्ग-सघर्ष जैसी समस्या से ग्रामीण जीवन बहुत दूर है। (घ) रूढ़ियों तथा कर्मकाण्डों में अधिक विश्वास करने के कारण ग्रामीणों की आय का बड़ा भाग संस्कारों, उत्सवों और धार्मिक अनुष्ठानों को पूरा करने में ही समाप्त हो जाता है।

नगरीय समुदाय का आर्थिक जीवन गाँवों से बिलकुल भिन्न है। : (क) यहाँ आर्थिक जीवन की सफलता को व्यक्ति की सबसे बड़ी सफलता माना जाता है। सम्पत्ति का संचय करना व्यक्ति का सर्वोच्च लक्ष्य होता है। और अक्सर सम्पत्ति के आधार पर ही व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का भी निर्धारिण होता है। (ख) व्यवसायों की बहुलता नगरों की दूसरी प्रमुख आर्थिक विशेषता है। विशेषीकरण और औद्योगिकरण के कारण व्यक्ति के सामने सैकड़ों विकल्प होते हैं। एक व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार कोई भी व्यवसाय चुन सकता है। (ग) विभिन्न व्यवसायों में भिन्न-भिन्न मात्रा में लाभ होता है। जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण नगरीय समाज धनी और निर्धन दो भागों में विभक्त हो जाता है। धनी व्यक्ति साधारणतया निर्धनों के श्रम का अनुचित लाभ उठाते हैं। और इससे वर्ग संघर्ष की समस्या उत्पन्न होती है। (घ) स्पष्ट है कि इन दोनों वर्गों के कारण नगरों में जीवन-स्तर में भी महान विषमता होती है। एक ओर उत्पीड़न का दर्द देखने को मिलता है। और दूसरी ओर भोग और ऐश्वर्य की चकाचौंध है। (ड़) नगरों में नैतिकता का स्तर कभी एक-सा नहीं रहता। व्यक्ति का बाह्य रूप नैतिक होता है लेकिन भौतिकता के प्रभाव से उसका आन्तरिक जीवन अक्सर बिल्कुल भी नैतिक नहीं होता है। यही कारण है। कि नगरी जीवन में तस्करी, जालसाजी, करों की चोरी, रिश्वत और श्वेतवसन अपराधों के द्वारा धन को संचित करने वाले लोगों को बुरी निगाह से नहीं देखा जाता।

(VII) सांस्कृतिक जीवन के आधार पर भेद (Contrast on the Basis of Cultural Life)

सांस्कृतिक विशेषताओं का रूप ग्रामीण और नगरीय समुदाय में एक-दूसरे से अधिक भिन्न नहीं है। वास्तव में, सांस्कृतिक विशेषताएं ही नगर और गाँव को एक-दूसरे से मिलाने वाली कड़ियाँ हैं।

अनेक महान विचारकों ने इस सत्य का प्रतिपादन किया है कि भूतकाल की सभी महान संस्कृतियाँ जिनमें सभी प्रकार की कल्पनाएँ और विश्व का दृष्टिकोण सम्मिलित था, ग्रामों से विकसित होकर ही नगरों में

NOTES

फैली। यही कारण है कि आज भी जिस नगरीय संस्कृति में ग्रामीण संस्कृति का समावेश नहीं होता, वह साधारणतया असन्तुलित और अर्थहीन समझी जाती है। ग्रामीण संस्कृति में स्थिरता एक महागुण है जिसमें प्रकृति की शक्तियों और सामान्य प्राणियों के महत्व तक को विशेष स्थान दिया जाता है। ग्रामीण संस्कृति में युग-युगों से प्राप्त अनुभवों का समावेश है जो संस्कृति को व्यावहारिक और स्थायी रूप प्रदान करते हैं। वास्तव में नगरों की संस्कृति ग्रामीण संस्कृति पर आध रित है और ग्रामीण संस्कृति के आधार पर ही नगरों के आर्थिक और सामाजिक जीवन का आध निकीकरण सम्भव हो सका है।

नगरों की अपनी कोई मौलिक संस्कृति नहीं होती, बल्कि नगरीय संस्कृति वास्तव में ग्रामीण संस्कृति कम ही संशोधित रूप है। नगरों में शिक्षा के प्रभाव और श्रेष्ठता की भावना के कारण व्यक्ति अपने को अधिक विवेकपूर्ण सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। इसलिए गाँव की संस्कृति को थोड़ा-सा बदल कर वे उसे अपने स्वतन्त्र संस्कृति मान बैठते हैं। नगर की सांस्कृतिक विशेषताएँ स्थायी नहीं होती। नवीनता के प्रति प्रेम होने के कारण व्यक्ति के आचरणों, वेश-भूषा और व्यवहार में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। वास्तविकता यह है कि नगर का सामाजिक जीवन स्वयं भी उतना ही जटिल हो गया है जितनी कि उसकी अभिव्यक्तियाँ।

ग्राम तथा नगर की अनेक आधारों पर तुलना करने से एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि क्या नगर और गाँव एक-दूसरे से बिल्कुल पृथक जीवन है? ऐसी धारणा वास्तव मे बिल्कुल ही भ्रमपूर्ण है कोई भी नगरीय समुदाय ऐसा नहीं मिलेगा जिसमें कुछ न कुछ ग्रामीण विशेषताएँ न पायी जाती हों, और नगरीकरण की प्रक्रिया के साथ ही नगर की विशेषताएँ अब गाँवों में भी फैल रही है। दोनों समुदाय निरन्तर एक-दूसरे के समीप आते जा रहे हैं और प्रत्येक क्षेत्र में वे एक-दूसरे के पूरक हैं। कितने ही विस्तृत सामाजिक और मनोवैज्ञानिक परीक्षण क्यों न किए जाएं लेकिन कोई व्यक्ति यह दावा नहीं कर सकता कि ग्रामीण अधिक मूर्ख (Stupid) होते है। अथवा नगरवासियों का जीवन अधिक प्रगतिशील होता है। वास्तव में, मैकाइवर के अनुसार, "गाँव व नगर दोनों ही समाज हैं, जिसमें कोई भी न तो दूसरें से अधि क 'प्राकृतिक' है और न ही अधिक 'बनावटी'। सच तो यह है कि नगर और गाँव के रूप में केवल परिस्थिति की भिन्नता है, कोई मौलिक व मानीवय भिन्नता नहीं।

स्व-प्रगति की जाँच करें :

1. ग्रामीण समुदाय के बारे में मैरिल तथा एलरिज के विचार स्पष्ट करें।
2. ग्रामीण समुदाय में प्रायः जजमानी प्रथा का प्रभाव देखा जाता है, स्पष्ट करें।
3. नगरीय समुदाय के बारे में समाजशास्त्रीय क्वीन (Quinn) के विचार व्यक्त करें।
4. नगरीय समुदायिक जीवन में सामाजिक समस्याओं की अधिकता पायी जाती है, स्पष्ट करें।

सारांश

ग्रामीण और नगरीय समुदाय के इस सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि न तो नगर गाँव से अधि क अच्छे हैं और न ही गाँव नगर से। यद्यपि लुइस मम्फोर्ड ने नगर में व्यापारिक उतार-चढ़ाव, आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा, नौकरशाही, मानसिक अस्थिरता और कृत्रिमता के कारण इन्हें सम्पूर्ण समाज के महत्वपूर्ण कार्यों में उत्पन्न होने वाला 'पक्षघात' तक कह दिया है, लेकिन यह कथन अत्यधिक दोषपूर्ण है। अनेक अध्ययन यह स्पष्ट करते हैं कि नगरीय समुदाय की अनके विशेषताएँ जैसे-विवाह की अधिक आयु, विवाह-विच्छेद, व्यक्तिवादिता, आत्महत्या की प्रवृत्ति, गर्भ निरोध, व्यापारीकरण और नवीनता आदि निरन्तर ग्रामीण जीवन में भी प्रवेश कर रही है। दूसरी और ग्रामीण विशेषताएँ जैसे निराशवाद, धर्मभीरुता तथा लोक साहित्य नगरों की विशेषताएँ बनती जा रही हैं तब किस आधार पर इन दोनों समुदायों को एक-दूसरे से पृथक किया जा सकता है? वास्तव में ग्रामीण और नगरीय समुदाय प्रत्येक अर्थ में एक-दूसरे के पूरक हैं। ग्रामीण समुदाय का सन्तुलन नगरों को संगठित बनाता है और नगरीय समुदाय को विकास ग्रामीण समुदाय को आर्थिक व बौद्धिक क्षेत्र में सहायता प्रदान करता है।

स्वप्रगति की जाँच के उत्तर देखें :

1. मैरिल तथा एलरिज (Merrill and Elidge) के शब्दों में "ग्रामीण समुदाय एक ऐसा समुदाय

है जिसमें व्यक्ति और संस्थाएँ एक छोटे से केन्द्र के चारों ओर संगठित होती है तथा जिसकें अन्तगर्त सभी सदस्य सामान्य और प्राथमिक हितों द्वारा एक-दूसरो से बंधे रहते हैं। ''सामान्य शब्दों में कहा जा सकता है कि ग्रामीण समुदाय ग्रामीण पर्यावरण में स्थित व्यक्तियों का कोई भी वह छोटा अथवा बड़ा समूह है जो प्रत्यक्ष रूप से प्रकृति पर निर्भर होता हैं कृषि के द्वारा अपनी आजीविका उपार्जित करता है, प्राथमिक सम्बन्धों को अपने लिए आवश्यक मानता है तथा एक दृढ़ सामुदायिकता की भावना से बंधा रहता है।

2. जजमानी प्रथा का प्रभाव-भारतीय ग्रामों में विभिन्न जातियों के पास्परिक सम्बन्धों का निध रिण करने में जजमानी प्रथा का भी महत्वपूर्ण योगदान है। जन्म, विवाह, मृत्यु, तथा अनेक दूसरे उत्सवों और त्यौहारों के अवसरों पर ब्राह्मण, माली, धोबी, नाई, तेली, जुलाहा आदि जातियाँ संयुक्त से जजमान को अपनी सेवाएँ प्रदान करती है। सभी जातियों की सेवा के बदले अनाज, भोजन और वस्त्र देने का प्रचलन आज भी गाँवों में बना हुआ है। कुछ लोग यह समझते है। कि भारत के ग्रामीण समुदाय के विकास में जजमानी व्यवस्था बहुत बाधक है लेकिन वास्तव में भारत जैसे निर्धन ग्रामीण समुदाय के लिए यह प्रथा आज भी उपयोगी प्रतीत होती है।

3. क्वीन (Quinn) ने वैद्यानिक आधार पर नगर को परिभाषित करते हुए कहा है कि ''नगर का तात्पर्य कानून द्वारा निर्धारित उस क्षेत्र से है जिसमें एक निश्चित आकार वाली जनसंख्या निवास करती है तथा जिसकी सीमाओं के अन्दर व्यवस्था स्थापित करने का कार्य राज्य द्वारा अधिकृत एक स्थानीय सत्ता द्वारा किया जाता है।'' कानूनी आधार पर दी गई यह परिभाषा राजनैतिक अध्ययन के लिए उपयोगी हो सकती है लेकिन समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से इका कोई महत्व नहीं है।

4. सामाजिक समस्याओं की अधिकता-आज हम जिन प्रमुख सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का सामना कर रहे है, उनमें से अधिकांश समस्याएँ नगरीय समुदाय से ही सम्बन्धि त है। नगरीय समुदाय जिनता बड़ा होता है वहाँ वर्ग संघर्ष, बीमारी, बेकारी, निर्धनता, भ्रष्टाचार, वेश्यावृत्ति, मद्यपान तथा युवा तनाव जैसी समस्याएँ उतनी ही अधिक पाई जाती है। इनका कारण नगरों का एक विशेष पर्यावरण है, जो व्यक्ति में मानसिक तनावों और व्यक्तिवादिता को बढ़ाकर अपराधी व्यवहारों को प्रोत्साहन देता है। अपराध करने के बाद नगरों के कोलाहल में अपने आपको छिपा लोना एक साधारण सी बात है।

अभ्यास प्रश्न

1. ग्राम की अवधारणा पर टिप्पणी लिखें एवं ग्रामीण समुदाय की विशेषताओं पर प्रकाश डालें।
2. भारतीय ग्रामीण समुदाय में वर्तमान परिवर्तन पर प्रकाश डालें।
3. नगरीय समुदाय की विशेषताओं का वर्णन करें।
4. ग्रामीण तथा नगरीय समुदायों के बीच अन्तर स्पष्ट करें।

ekMîy&5

जनजाति
(Tribe)

इस अध्याय के अन्तर्गत :

- परिचय
- जनजाति की परिभाषा : इसकी विशेषताएँ, इसके संगठन
- भारतीय जनजातियाँ
- भारतीय जनजातियों का सांस्कृतिक वर्गीकरण
- भाषा के आधार पर वर्गीकरण
- अर्थव्यवस्था के आधार पर
- भारतीय जनजातियों में विवाह
- विवाह के रूप व कारण
- जीवन साथी चुनने के तरीके
- विवाह विच्छेद
- परिवार और परिवार के भेद

अध्याय के उद्देश्य :

इस अध्याय के अध्ययन के उपरांत आप जान सकेंगे :

- जनजातियों की परिभाषा और इनकी विशेषताएँ
- जनजातियों के वर्गीकरण
- भारत में जनजातियों में विवाह की व्यवस्था
- विवाह के रूप, विवाह के कारण
- जीवन साथी चुनने के तरीके, विवाह विच्छेद के तरीके
- जनजातिय परिवार और परिवार के भेद

bdkÃ&8 tutkfr dk vFkZ] ifjHkk"kk] HkkSxksfyd ,oa lkaL—frd oxhZdj.k Hkkjr dh tutkfr;ka esa fookg] ifjokj

भारतवर्ष के प्रजातीय इतिहास से एक उल्लेखनीय बात यह ज्ञात होती है कि इस देश में अति प्राचीन काल से ही विभिन्न प्रजातीय तत्वों की लहरें आती रहीं और इस बहु-प्रजातीय महासागर (multi-racial ocean) में विलीन होती रहीं। इस देश की एक और विशेषता है कि यह कुछ विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्रों में भी बँटा हुआ है और प्रत्येक की अपनी-अपनी कुछ विशेषताएँ हैं, जिनका कि प्रभाव उस क्षेत्र के निवासियों पर पड़ना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार भारतवर्ष में एक ओर विभिन्न क्षेत्रों में अनेक ऐसे मानव-समूह निवास करते हैं जोकि आज भी सभ्यता के आदिम स्तर पर हैं। ये प्रायः सभ्य समाज से दूर जंगली, पहाड़ी या पठारी क्षेत्रों में रहते हैं और प्रत्येक अर्थ में अत्यधिक पिछड़े हुए हैं। इन्हें वन्यजाति, आदिवासी (aboriginals), जनजाति आदि नाम से सम्बोधित किया जाता है। भारतीय संविधान में ऐसे लोगों को 'अनुसूचित जनजातियाँ ' (Scheduled Tribes) कहा गया है। परन्तु इनके सम्बन्ध में कुछ भी अध्यन करने से पहले 'जनजाति' की परिभाषा और विशेषताओं को समझ लेना परमावश्यक है।

जनजाति की परिभाषा (Definition of Tribe)-सर्वश्री गिलिन और गिलिन (Gillin and Gillin) के मतानुसार, "स्थानीय आदिम समूहों के किसी भी संग्रह को, जो एक सामान्य क्षेत्र में रहता हो, एक सामान्य भाषा बोलता हो और एक सामान्य संस्कृति का अनुसरण करता हो, एक जनजाति कहते हैं।"

डॉ. रिवर्स (Dr. Rivers) ने सामान्य निवास स्थान को महत्व न देते हुए जनजाति को ऐसे सरल प्रकार का सामाजिक समूह बताया है जिसके सदस्य एक सामान्य भाषा का प्रयोग करते हों तथा युद्ध आदि सामान्य उद्देश्यों के लिए सम्मिलित रूप से कार्य करते हों। डॉक्टर रिवर्स ने सामान्य निवास स्थान को इसलिए महत्व नहीं दिया क्योंकि जनजातियाँ प्रायः घुमन्तू या खानाबदोश (nomadic) होती हैं। परन्तु डॉ. मजुमदार (Majumdar) का कथन है कि इसका यह अभिप्राय नहीं है कि जनजातियों का अपना एक सामान्य क्षेत्र नहीं होता। घुमन्तू प्रकृति का होते हुए भी उनका एक विशिष्ट निवास-स्थान होता ही है।

डॉ मजूमदार ने अपनी परिभाषा में एक जनजाति की सभी विशेषताओं को स्पष्ट किया है। आपके मतानुसार, "जनजाति परिवारों या परिवारों के समूह का एक संकलन होता है, जिसका एक सामान्य नाम होता है, जिसके सदस्य एक निश्चित भू-भाग पर रहते हैं, सामान्य भाषा बोलते हैं और विवाह, व्यवसाय या उद्योग के विषय में कुछ निषेधों का पालन करते हैं।" इस प्रकार स्पष्ट है कि "एक जनजाति व क्षेत्रीय मानव समूह है जो भू-भाग, भाषा, सामाजिक नियम और आर्थिक कार्य आदि विषयों में एक सामान्य सूत्र में बंधा होता है।"

जनजाति की विशेषताएँ (Characteristics of Tribe)-उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि-(1) जनजाति अनेक परिवारों या परिवारों के समूहों का एक संकलन होता है। (2) प्रत्येक जनजाति की अपनी एक सामान्य भाषा होती है, जिससे विचारों का आदान-प्रदान और पारस्परिक एकता व सामाजिक संगठन का विकास सरलता से हो सके। (3) इनका एक सामान्य नाम होता है। (4) जनजाति की एक और विशेषता यह है कि यह एक निश्चित भू-भाग पर रहती है। सामान्य भू-भाग के आधार पर सामुदायिक भावना भी दृढ़ हो जाती है। (5) एक जनजाति प्रायः एक अन्तर्विवाही समूह होता है। प्रारम्भ में सब जनजातियाँ अपनी ही जनजाति में विवाह करती थीं। परन्तु आधुनिक युग में यातायात के साधनों की उन्नति के साथ एक जनजाति का पड़ौसी जनजातियों से सम्पर्क बढ़ गया है, जिसके फलस्वरूप अनेक जनजातियाँ अपने जनजातीय समूह के बाहर भी शादी कर लेती हैं। (6) एक जन-जाति के सदस्यों में पारस्परिक आदान-प्रदान के कुछ सामान्य नियम और निषेध होते हैं, जिनको कि प्रत्येक सदस्य को मानना पड़ता है और जिनके आधार पर इनके व्यवहार नियन्त्रित होते हैं। (7) एक जनजाति की एक सामान्य संस्कृति होती है

और बाहर के समूहों के विरुद्ध इसके सदस्यों में एकता की भावना भी होती है। (8) जनजाति की एक और प्रमुख विशेषता यह है कि प्रत्येक जनजाति का एक राजनीतिक संगठन होता है।

जनजातीय संगठन (Tribal Organization) डॉ. मजुमदार के अनुसार जनजाति एक राजनीतिक इकाई इस अर्थ में है कि प्रत्येक जनजातीय समूह का एक राजनीतिक संगठन होता है। प्रत्येक जनजाति का बहुधा अपना एक वंशानुगत मुखिया, प्रधान या राजा होता है जोकि जनजाति के समाज से सम्बन्धि त समस्त विषयों का निरीक्षक और शासक होता है। इस संगठन के अन्तर्गत बड़े-बूढ़ों की एक समिति (a council of elders) होती है जो मुखिया को जनजातीय-सम्बन्धी विषयों में और उसकी एकता और संगठन को बनाये रखने के विषय में परामर्श देती है। प्रत्येक सदस्य मुखिया के प्रति आज्ञाकारी और निष्ठावान् होता है।

भारत की जनजातियों का भौगोलिक वर्गीकरण (Geographical Classification of Indian Tribes)

डॉ. बी. एस. गुहा (B. S. Guha) ने भारतीय जनजातियों का वर्गीकरण तीन भौगोलिक क्षेत्रों के आधार पर किया है।

1. **उत्तरी तथा उत्तर-पूर्वी क्षेत्र**-जिसमें पूर्वी काश्मीर, पूर्वी पंजाब, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश और आसाम के पहाड़ी प्रदेश सम्मिलित हैं। इस प्रदेश की प्रमुख जनजातियाँ गद्दी, गुज्जर, खम्बा, कनौटा, लाहोला, जानसारा, भूटिया, थारू, नागा, कूकी, खासी, कचाटी राभा आदि हैं।
2. **मध्यवर्ती क्षेत्र**-जिसमें बंगाल, बिहार दक्षिणी उत्तर प्रदेश, दक्षिणी राजस्थान, मध्य प्रदेश, उत्तरी बम्बई और उड़ीसा सम्मिलित हैं। इस प्रदेश की प्रमुख जनजातियाँ संथाल, उराव, हो, खड़िया, बिरहौर, गोंड, बैगा, कोटा, चेंचू, कोरवा, सुण्डा, कोल, भील आदि हैं।
3. **दक्षिणी क्षेत्र**-जिसके अन्तर्गत हैदराबाद, मैसूर, कुर्ग, ट्रावनकोर, कोचीन, आंध्र और मद्रास आते हैं। इस क्षेत्र की प्रमुख जनजातियाँ कोटा, टोडा, कादर, मलायन, उराली, इरूला, पुलयन आदि हैं।

भारतीय जनजातियों का प्रजातीय वर्गीकरण (Racial Classification of Indian Tribes)

डॉ. बी. एस. गुहा का कथन है कि भारतीय जनजातियों में चार प्रारूप (Types) पाये जाते हैं जोकि अग्रवत् हैं-

(1) छोटा कद, लम्बा तथा कुछ ऊँचा सिर, चौड़ा और छोटा चेहरा, मुँह आगे की ओर उठा हुआ तथा छोटी चपटी नाक पहले प्रारूप के प्रमुख शारीरिक लक्षण हैं।

(2) काला रंग, बौना कद, काफी घुँघराले बाल वाला नार्डिक प्ररूप कादर तथा पुलयन जनजाति में अब भी पाये जाते हैं।

(3) तीसरा प्ररूप चौड़े सिर वाली मंगोल प्रजाति का है जिसके सदस्य आसाम तथा बर्मा में पाये जाते हैं।

(4) चौथा प्ररूप भी मंगोल प्रजातीय तत्व का है, पर इनमें तीसरे प्रारूप से मझोले कद, ऊँचे सिर और बीच की नाक के आधार पर भेद किया जा सकता है।

भारतीय जनजातियों का सांस्कृतिक वर्गीकरण (Cultural Classification of Indian Tribes)

सांस्कृतिक स्तर के आधार पर भी भारतीय जनजातियों का वर्गीकरण किया जा सकता है। श्री एलविन (Elwin) का वर्गीकरण इसी प्रकार का है। उनके अनुसार सांस्कृतिक स्तर के आधार पर भारतीय जनजातियों को चार भागों में बाँटा जा सकता है जोकि निम्नवत् हैं-

(1) प्रथम वर्ग में वे जनजातियाँ आती हैं जोकि सांस्कृतिक दृष्टिकोण से अब भी अपने आदिमतम स्तर पर हैं। ये अत्यधिक गहन जंगलों और पर्वतों में रहती हैं और संयुक्त समुदाय का जीवन व्यतीत करती हैं तथा कुल्हाड़े से खेती करती हैं।

(2) दूसरे वर्ग में वे जनजातियाँ आती हैं जिनमें प्रथम वर्ग की ही भाँति आदिमतम सांस्कृतिक जीवन का दर्शन होता है। फिर भी उनमें कुछ परिवर्तन शुरू हो गए हैं। वे प्रथम वर्ग से अधिक व्यक्तिवादी हैं और कुल्हाड़े से खेती करने में कम व्यस्त हैं।

(3) तीसरे श्रेणी में करीब 2.5 करोड़ जनजातियों की आबादी आती है जिनकी संस्कृति बाहरी प्रभाव के कारण प्रायः लुप्त होने वाली है।

(4) चौथी श्रेणी में भील और नागा जनजातियाँ आती हैं जिन्होंने बाहरी सांस्कृतिक सम्पर्क के बावजूद भी अपनी मौलिक जनजातीय संस्कृति को वैसा ही बनाये रखा है।

भाषा के आधार पर वर्गीकरण (Classification on the basis of Language)

भाषा के आधार पर भी भारतीय जनजातियों को विभिन्न वर्गों में बाँटा जा सकता है जोकि निम्नलिखित हैं-

(अ) आग्नेय भाषा परिवार-इसमें मध्य तथा पूर्वी भारत की कोल या मुण्डा समूह की भाषाएँ या बोलियाँ आती हैं। इस प्रकार की भाषाएँ बिहार, उड़ीसा, बंगाल और असम में प्रचलित संथाली, मुन्दारी, हो, खरिया, भूमिज, गारो तथा खासी भाषाएँ या बोलियाँ हैं।

(ब) द्राविड़ भाषा परिवार-इन्हें बोलने वाली जनजातियाँ मध्य तथा दक्षिणी भारत में पाई जाती हैं। इस वर्ग में बोलियाँ इस प्रकार की हैं-उड़ीसा की खोध या काँध, बिहार तथा उड़ीसा की कुई, उराँव, राजमहल पहाड़ियों की माल्टो। टोडा, मलेर, पोलिया, सावर, पनियन, चेंचू, इलूरा, कादर आदि जनजातियाँ भी द्राविड़ बोलियों का व्यवहार करती हैं।

(स) चीनी-तिब्बती भाषा परिवार-इनका व्यवहार हिमालय के दक्षिणी ढालों में रहने वाली पंजाब से भूटान, उत्तरी-पूर्वी, बंगाल और आसाम तक फैली हुई जनजातियाँ करती हैं। आसाम की नागा, कूकी, आबर, मीरी, खासी, मिकिर आदि जनजातियों की भाषाएँ इसी वर्ग की हैं।

अर्थव्यवस्था के आधार पर वर्गीकरण
(Classification on the basis of Economic Order)

अर्थव्यवस्था के आधार पर भारतीय जनजातियों का वर्गीकरण निम्नलिखित चार भागों में बाँटकर किया गया है-

(अ) शिकार करने और भोजन इकट्ठा करने वाली जनजातियाँ-इस श्रेणी में कादर, मलायन, पुलयन, पलैयन आदि जनजातियाँ आती हैं। आर्थिक दृष्टिकोण से ये जनजातियाँ सबसे अधिक पिछड़ी हुई हैं और इसीलिए जीविका-पालन के लिए शिकार और फल मूल इकट्ठा करने को ही अपना आधार

मानती हैं। ये लोग जंगलों में जाकर फल-मूल इकट्ठा करके लाते हैं, शिकार करते हैं या मछली पकड़ते हैं।

NOTES

(ब) **पशुपालक जनजातियाँ-**इस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था में निवास करने वाली जनजातियों की प्रमुख विशेषता यह है कि ये लोग पशुओं को पालकर उनका दूध तथा दूध से बने सामानों को बेचकर अपना पेट पालते हैं। इस श्रेणी में विशेष रूप से हिमाचल प्रदेश के गूजर और दक्षिण के नीलगिरी के टोडा उल्लेखनीय हैं।

(स) **खेती करने वाली जनजातियाँ-**उत्तर-पूर्वी और मध्य भारत की अधिकांश जनजातियाँ इस श्रेणी में आती हैं। इन जनजातियों को खेती करने का ज्ञान होता है। परन्तु कृषि-कला के उन्नत ढंगों से ये बिल्कुल ही अपरिचित हैं। दूसरे शब्दों में इनके खेती करने के तरीके बिल्कुल पिछड़े हुए जिनके कारण पैदावार बहुत कम होती है।

(द) **उद्योग में लगी हुई जनजातियाँ-**भारतीय जनजातियों में कुछ जन-जातियाँ इस प्रकार की भी हैं जोकि उद्योग-धन्धों में लगी हुई हैं। इसका सबसे प्रमुख कारण यह है कि इन जनजातीय क्षेत्रों में कुछ विशेष प्रकार के उद्योग-धन्धे पनप गए हैं और उनमें आवश्यक श्रमिकों की पूर्ति को जनजातियों को काम पर लगाकर किया गया है। बिहार, बंगाल और आसाम की कुछ जनजातियाँ इस श्रेणी में आती हैं।

भारतीय जनजातियों के सम्बन्ध में उपरोक्त प्रारम्भिक जानकारी प्राप्त कर लेने के पश्चात् अब हम भारतीय जनजातीय समाजों में पाई जाने वाली परिवार तथा विवाह संस्थाओं के बारे में विवेचना कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि सामाजिक संगठन की प्रथम इकाई परिवार है। आदिम समाजों में तो इसका महत्व और भी अधिक है। परिवार की स्थापना सामान्यतया विवाह के माध्यम से ही होती है। अतः अब हम परिवार तथा विवाह के बारे में अलग-अलग विवेचना करेंगे।

भारत की जनजातियों में विवाह (Marriage among Indian Tribes)

भारत की जनजातियों की विवाह संस्था, अन्य देशों की जनजातियों की भाँति अनोखी और सभ्य समाज में सर्वथा भिन्न है। आज हिन्दू समाज के साथ उनका सम्पर्क बढ़ने के कारण कहीं-कहीं पर कुछ परिवर्तन अवश्य दिखाई देते हैं फिर भी सामान्य रूप से जनजातियों की विवाह संस्था की अनेक विशेषताएँ हैं, जिनका क्रमबद्ध वर्णन उनके सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की जानकारी के लिए परमावश्यक हम संक्षेप में उनकी विवेचना इस अध्याय में करेंगे।

विवाह की आयु (Age of Marriage)

सामान्य रूप से जनजातियों में बाल-विवाह का प्रचलन न था परन्तु अब हिन्दू समाज के सम्पर्क में आने के कारण उनमें भी बाल-विवाह दिखाई देता है। हिन्दुओं के सम्पर्क में आने के कारण ही संथाल, मुण्डा, ओराँव भील आदि जन-जातियों में लड़कों के विवाह की आयु 12-13 वर्ष और लड़कियों की प्रायः 9-10 वर्ष है। पर अधिकांश जनजातियों में यह स्थिति नहीं है। उदाहरणार्थ, आसाम के नागाओं और कूकियों में लड़कियाँ 15 से 20 वर्ष की आयु में और लड़के 18 से 25 वर्ष की आयु में विवाह करते हैं।

अधिमान्य विवाह (Preferential Mating)

भारत की कुछ जनजातियाँ ऐसी भी हैं जो विवाह के समय अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अपने ही कुछ निकट

रिश्तेदारों से विवाह करना अधिक पसन्द करती हैं। ऐसे अधिमान्य विवाह के तीन प्रमुख रूप हैं-

(1) ममेरे तथा फुफेरे भाई-बहनों का विवाह (Cross-cousin Marriage)

भारत में ऐसी कुछ जनजातियाँ हैं जिनमें ममेरे तथा फुफेरे भाई-बहनों में विवाह बहुत उत्तम समझा जाता है। मणिपुर के पुरुम-कूकियों में मामा की लड़की के साथ विवाह करना इतना उत्तम समझा जाता है कि 1936 ई. में प्रो. तारकचन्द्र दास द्वारा किए गए अनुसन्धानों के अनुसार इसमें 75 प्रतिशत विवाह इसी प्राकर के थे। गोंड जनजाति में तो ममेरे तथा फुफेरे भाई-बहनों में विवाह अनिवार्य है। श्री ग्रिगसन (Grigson) के अनुसार 54 प्रतिशत गोंडों का विवाह इसी प्रकार का होता है। खरिया, ओराँव, खासी आदि जनजातियों में भी इसी प्रकार के विवाह का प्रचलन है। गोडों में ऐसे विवाह को 'दूध लौटवा' कहते हैं।

(2) साली और (3) भाभी विवाह (Sororate and Levirate)

अधिमान्य विवाह के दो अन्य रूप साली विवाह और भाभी विवाह हैं।

साली विवाह (Sororate) उस विवाह को कहते हैं जिसके अनुसार पुरुष अपनी पत्नी की बहन के साथ विवाह कर सकता है। यह दो प्रकार का होता है-(अ) सीमित साली विवाह (Restricted Sororate), और (ब) समकालीन साली विवाह (Simultaneous Sororate)। सीमित साली विवाह वह विवाह है जिसमें पत्नी की मृत्यु के बाद ही साली से विवाह किया जा सकता है। गोंड आदि कुछ जनजातियों में इस प्रकार का विवाह पाया जाता है। समकालीन साली विवाह में पुरुष एक परिवार की सबसे बड़ी बहन के साथ विवाह करता है और उस स्त्री की अन्य सारी बहनें आप से आप उस पुरुष की पत्नियाँ बन जाती हैं।

इसके विपरीत, भाभी विवाह (Levirate) का अभिप्राय यह है कि अगर किसी स्त्री का पति मर जाए तो उसे अपने देवर से शादी करनी होती है या बड़ा भाई जिस स्त्री को विवाह करके लाता है वह आप-से-आप ही अपने अन्य देवर या देवरों की पत्नी हो जाती है, जैसे टोडा जनजाति में होता है। देवर शब्द का अर्थ भी इसी बात का द्योतक होता है क्योंकि देवर शब्द का अर्थ है-"देवर: कस्मत् द्वितीयः वरो भवतीति" अर्थात् देवर उसे कहते हैं जो दूसरा वर हो।

विवाह के रूप (Forms of Marriage)

विवाह के दो मुख्य भेद होते हैं-(1) एक-विवाह (Monogamy), और (2) बहु-विवाह (Polygamy)। बहु-विवाह के दो उपभेद हैं-(अ) बहुपत्नी-विवाह (Polygamy), और (ब) बहुपति-विवाह (Polyandry)। इनकी विवेचना हम संक्षेप में करेंगे।

एक-विवाह (Monogamy)

एक-विवाह वह विवाह है जिसमें एक पुरुष केवल एक स्त्री से ही विवाह करता है और उस स्त्री के जीवन-काल में वह दूसरी स्त्री से विवाह नहीं कर सकता। जिन समाजों में सामान्य रूप से स्त्रियों और पुरुषों का अनुपात बराबर हैं उनमें प्रायः एक विवाह प्रथा पाई जाती है। एक विवाह सभ्यता की भी एक उत्तम पराकाष्ठा है और भारतीय जनजातियों में एक विवाह के प्रचलन का एक प्रमुख कारण उनका आध निक सभ्य समाज के सम्पर्क में आना है। एक विवाह आसाम की खासी, बिहार की संथाल और केरल की कादर जनजातियों में पाया जाता है। 'हो' जनजाति में अत्यधिक कन्या-मूल्य (bride-price) के कारण

वहाँ एक पुरुष के लिए एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करना असम्भव है, इस कारण वे भी एक-विवाही (monogamous) हैं।

बहुपत्नी-विवाह (Polygyny)

एक पुरुष का अनेक स्त्रियों से विवाह बहुपत्नी-विवाह है। आर्थिक कठिनाइयों के कारण सामान्य रूप से बहुपत्नी-विवाह भारत की जनजातियों में नहीं किया जाता है। जनजातियों में धनी व्यक्ति ही अधिकतर बहुपत्नी-विवाह करते हैं। नागा, गोंड, बैगा, टोडा तथा मध्य भारत की कुछ जनजातियों में बहुपत्नी-प्रथा पायी जाती है।

कारण (Causes)

(1) समाज में पुरुषों की संख्या कम होना बहुपत्नी-विवाह का एक साधारण कारण बताया गया है, परन्तु आज अधिकतर विद्वान् इससे सहमत नहीं हैं।

(2) बहुपत्नी-विवाह का मुख्य कारण आर्थिक है। पहाड़ी और पठारी भागों में जीविका-पालन के हेतु कठोर परिश्रम करना पड़ता है और अनेक व्यक्तियों की आवश्कता होती है। इस कारण बहुपत्नी-विवाह कर लिया जाता है क्योंकि इसके द्वारा एक परिवार को पत्नियों के रूप में मुफ्त में खूब काम करने वाली विश्वस्त श्रमिक मिल जाती है। इसी प्रकार आसाम की जनजातियों के नेता बहुपत्नी-विवाह करते हैं क्योंकि उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी होती है और वे एकाधि क स्त्रियों का पालन कर सकते हैं।

(3) स्त्री की अपनी इच्छा भी इस सम्बन्ध में एक कारण हो सकती है। वह खुद ही चाहती है कि जनजातीय कठिन आर्थिक जीवन में उसके कार्यों में मदद करने के लिए अधिक संख्या में सहायक स्त्रियाँ हों।

(4) बहुपत्नी प्रथा के अन्य सहायक कारण सन्तान की कामना, अधिक स्त्रियों द्वारा समाज में मिलने वाली प्रतिष्ठा, पुरुषों की अधिक काम वासना आदि भी हैं।

लाभ (Merits)

(1) बच्चों की देख-रेख अनेक स्त्रियाँ मिलकर अधिक अच्छी तरह कर सकती हैं।

(2) अत्यधिक कामी पुरुषों को परिवार में ही अनेक स्त्रियाँ मिल जाती हैं इस कारण यौन-सम्बन्धी व्यभिचार नहीं फैल पाता है।

(3) सन्तानें अच्छी होती हैं, क्योंकि अधिकतर शक्तिशाली और धनवान् व्यक्ति ही बहुपत्नी-विवाह करते हैं।

हानियाँ (Demerits)

(1) परिवार पर आर्थिक बोझ बहुत ज्याद पढ़ जाता है।

(2) परिवार में अधिक स्त्रियों का अर्थ ही है कि परिवार का वातावरण ईर्ष्या, द्वेष और लड़ाई-झगड़े से कलुषित होगा।

(3) बहुपत्नी-विवाह स्त्रियों की स्थिति को अत्यधिक गिरा देता है।

बहुपति-विवाह (Polyandry)

बहुपति-विवाह वह विवाह है जिसमें एक पत्नि के साथ दो या अधिक पुरुषों का विवाह होता है। भारतीय जनजातियों में इसका प्रचलन बहुपत्नी प्रथा से कहीं कम है।

भारत में बहुपति-विवाह का वितरण (Distibution of Polyandry in India)

जैसा कि ऊपर कहा गया है बहुपति-विवाह का प्रचलन भारत में बहुत ही सीमित क्षेत्र में है। यह केरल के टियान (Tiyan), कुसम्ब, कोट, लडाखी बोट, नीलगिरी पर्वत के टोडा, और देहरादून जिले में जौनसार-बावर की खास जनजातियों में पाया जाता है। काश्मीर से आसाम तक इण्डो-आर्यन और मंगोल लोगों में भी यह प्रथा पाई जाती है। भारत के दक्षिण भाग में रहने वाले नायरों में भी बहुपति प्रथा पाई जाती है और आज भी वहाँ इस प्रकार के विवाह के अनेक उदाहरण मिलते हैं। एक समय था जब यह प्रथा केरल के इरावन (Iravans) जनजाति और कुर्ग-निवासियों में भी प्रचलित थी। लद्दाख परगनों में, चम्पा, कुल्लू और मण्डी के ऊंचे प्रदेशों की जनजातियों में भी बहुपति-विवाह पाया जाता है। श्री मार्टिन (Martin) ने मध्य भारत के ओराँवों में तथा श्री मेन (Maine) ने संथालों में भी इसके प्रचलन का वर्णन किया है। परन्तु आज यह प्रथा विशेष और स्पष्ट रूप में दो जनजातियों-खस और टोडा में ही पाई जाती है।

बहुपति-विवाह की प्रमुख विशेषताएँ (Main Features of Polyandry)

(1) बहुपति-विवाह में एक स्त्री एक से अधिक पतियों से विवाह सम्बन्ध स्थापित करती है।

(2) ये एकाधिक पति आपस में भाई हो सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं, अर्थात् कभी-कभी भाइयों के अतिरिक्त एक गोत्र के अन्य व्यक्ति भी मिलकर इस प्रकार का विवाह कर लेते हैं।

(3) स्त्री पर प्रत्येक भाई का अधिकार होता है, परन्तु बड़े का अधिकार सबसे अधिक ही पाया जाता है।

(4) जहाँ एक परिवार में एक से अधिक स्त्रियाँ है, वहाँ प्रत्येक भाई को अपने सब भाइयों की पत्नी के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतन्त्रता होती है।

(5) मातृवंशीय परिवारों में स्त्री अपने पतियों को स्वयं चुनती है और प्रत्येक पति के पास बारी-बारी से कुछ समय के लिए रहती है। परन्तु जब वह एक पति के साथ रह रही हो तो उस पर अन्य पतियों का कोई अधिकार नहीं होता है।

(6) सन्तानों और सम्पत्ति के सम्बन्ध में बड़े भाई का या प्रथम पति का दूसरे भाइयों या पतियों की तुलना में अधिक अधिकार होता है।

(7) विवाह-विच्छेद का अधिकार स्त्री और पुरुष दोनों को ही प्राप्त होता है।

बहुपति प्रथा के कारण (Causes of Polyandry)

बहुपति प्रथा के प्रचलन के कारणों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है, यह निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट है-

(1) श्री वेस्टरमार्क (Westermarck) ने बहुपति प्रथा का प्रधान कारण एक समाज में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का संख्या में कम होना बताया है, जैसे टोडा जनजाति में लड़कियों को मार डालने की कुप्रथा के कारण वहाँ पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या बहुत कम है। वहाँ पिछली तीन पीढ़ियों में 100

स्त्रियों के अनुपात में पुरुष क्रमशः 259, 202 और 171 थे। अतः एक स्त्री के अनेक पति होने की प्रथा का प्रचलन स्वाभाविक था। परन्तु श्री राबर्ट ब्रिफाल्ट (Robert Briffault) आदि विद्वानों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि स्त्रियों की कमी इस प्रथा का एकमात्र कारण नहीं है, क्योंकि तिब्बत, सिक्किम, लद्दाख आदि प्रदेशों में जहाँ बहुपति प्रथा का प्रचलन है, वहाँ स्त्री-पुरुषों की संख्या में कोई विशेष अन्तर नहीं है। लद्दाख में तो स्त्रियों की संख्या ज्यादा है।

(2) अधिकतर विद्वान् इस प्रथा का कारण दरिद्रता मानते हैं। क्योंकि ऐसे प्रदेशों में आर्थिक जीवन इतना कठोर और संघर्षपूर्ण होता हैं कि एक व्यक्ति के लिए पृथक रूप में परिवार की स्थापना करना असम्भव है, इस कारण एकाधिक पुरुष मिलकर एक परिवार की स्थापना करते हैं। संयुक्त परिवार और सम्मिलित श्रम के बिना इन प्रदेशों में जीविका निर्वाह करना प्रायः असम्भव है।

बहुपति प्रथा के प्रकार (Kinds of Polyandry)

भारतवर्ष में बहुपति प्रथा के दो प्रमुख प्रकार हैं-

(1) भ्रातृ-बहुपति-विवाह (Adelphic or Fraternal Polyandry)

(अ) टोडा (Todas)-जब एकाधिक भाई आपस में मिलकर एक ही स्त्री से विवाह करते हैं तो उसे भ्रातृ-बहुपति-विवाह कहते हैं। इस प्रकार के विवाह जौनसारबावर की खस तथा नीलगिरी की टोडा जनजातियों में पाए जाते हैं। टोडा लोगों में जब एक व्यक्ति का विवाह किसी एक स्त्री से होता है तो उस व्यक्ति के सभी भाई, यहाँ तक कि जो बाद में पैदा होते हैं, उस स्त्री के पति समझे जाते हैं। ये प्रायः सगे भाई और कभी-कभी गौत्र-भाई भी होते हैं। पहले समय में ये पति भिन्न गौत्र के भी हुआ करते थे। इस कारण श्री रिवर्स (Rivers) का कथन है कि कोई समय था जब टोडा लोग भ्रातृ-बहुपति प्रथा के नियमों को पूर्णतया नहीं मानते थे। अब पत्नी गर्भवती होती है तो सबसे बड़ा टोडा पति एक संस्कार 'पुरसुतपिमि' (Pursutpimi) तीर-धनुष के द्वारा करता है जिससे सामाजिक रूप में उसे बच्चे का पिता समझा जाता है। स्त्री के दूसरी बार गर्भवती होने पर दूसरा पति उसी प्रकार के संस्कार के द्वारा दूसरी सन्तान का पिता बनता है और यह क्रम चलता रहता है, यहाँ तक कि अगर इस बीच में किसी दूसरे पति ने वह संस्कार न किया हो तो सन्तानें उसी पिता के ही बच्चे समझे जाते हैं जिसकी मृत्यु पहले हो चुकी है, अर्थात् पिता होना इसी संस्कार पर निर्भर है। अगर कोई भाई संयुक्त परिवार से अलग हो जाता है तो वह फिर बच्चों का पिता या पत्नी का पति नहीं रहता। प्रायः परिवार में भाइयों को एक से अधिक पत्नियों को एक से अधिक पत्नियों के साथ विवाह करने की आज्ञा नहीं मिलती है। और श्री रिवर्स की यह भविष्यवाणी है कि इसी प्रवृत्ति के आधार पर एक समय आएगा जबकि टोडा लोग एक-विवाही (monoga-mous) हो जाएंगे।

(ब) खस (Khasas)-भ्रातृ-बहुपति प्रथा का दूसरा प्रमुख उदाहरण जौनसार-बावर की खस जनजाति का है। इनमें जब बड़ा भाई विवाह करता है तब उसकी पत्नी सब भाइयों की पत्नी समझी जाती है। छोटे भाई यदि विवाह के समय बच्चे हैं या विवाह के बाद उनका जन्म होता है तो वे युवक होने पर उसी स्त्री के पति समझे जाते हैं। अगर छोटा भाई बड़ा होने पर दूसरी स्त्री से विवाह करता है। तो बड़े भाई की स्त्री और छोटे भाइयों की स्त्रियाँ, सब सभी भाइयों की बराबर पत्नियां समझी जाती हैं। जौनसार-बावर के सामाजिक विधान 'दस्तूर-उल-अम्ल'

(Dastoor-ul-aml) के अनुसार "किसी भी छोटे भाई को अपने लिए पृथक् या अतिरिक्त पत्नी से विवाह की आज्ञा नहीं है।"

यद्यपि विवाह हो जाने के पश्चात् एक स्त्री सभी भाइयों की पत्नी समझी जाती है, फिर भी उस पर बड़े भाई का अधिकार विशेष रूप से होता है। इस बात का प्रमाण चार बातों से मिलता है। प्रथम, पत्नी का सबसे बड़े भाई के साथ सहवास करने से इंकार करना अक्षम्य अपराध समझा जाता है और इसी आधार पर उस स्त्री को त्यागा जा सकता है। दूसरे, अगर बड़े भाई ने स्त्री से कह दिया कि वह किसी भाई के साथ सहवास न करे तो स्त्री को वैसा ही करना पड़ता है। तीसरे "अगर अन्य भाई इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का झगड़ा करते हैं तो बड़े भाई को ही केवल विवाह विच्छेद का आदेश देने का अधिकार है और चौथे अगर उस स्त्री के कोई सन्तान उसके विवाह से पहले ही पैदा हो गई हो तो उस सन्तान पर बड़े भाई का ही अधिकार होता है।"

सबसे बड़ा भाई परिवार का कर्त्ता होता है। मकान, बगीचा, अनाज, पालतू जानवर आदि सब उसके अधिकार में रहते हैं। बच्चों और स्त्री या स्त्रियों के पालन-पोषण का उत्तरदायित्व उस पर ही होता है। छोटे भाइयों को उसकी प्रभुता को स्वीकार करना ही पड़ता है। अगर कभी सम्पत्ति का विभाजन हुआ तो सबसे बड़े भाई को सब भाइयों से अधिक हिस्सा मिलता है। विभाजन होने पर छोटे भाई को पत्नी या बच्चे मिलने की सम्भावना बिल्कुल नहीं रहती। ये सब बड़े भाई के पास ही रहते हैं। पर बच्चों का अधिकार सब पिताओं की सम्पत्ति पर समान होता है।

अगर एक से अधिक स्त्रियों से विवाह की आवश्यकता होती है तो दूसरी स्त्री प्रथम स्त्री की ही बहन होती है। ऐसा शायद परिवार में शान्ति बनाए रखने के लिए किया जाता है।

पिता बनने का एक सामाजिक तरीका होता है। श्री फ्रेजर (Frazer) के अनुसार सबसे बड़ा लड़का बड़े भाई का दूसरा लड़का उससे छोटे भाई का तथा इसी क्रम से अन्य लड़के अन्य भाइयों के पुत्र समझे जाते हैं। डॉ. मजुमदार (Dr. Majumdar) ने और भी लिखा है कि अगर परिवार में तीन भाई हैं तो बच्चे सबसे बड़े भाई को 'बारी बाबा' (JBari Baba), दूसरे को 'डाँगर बाबा (Dangara Baba), और तीसरे को 'भेदी बाबा' (Bhedi Baba) आदि कहकर पुकारते हैं।

क्योंकि इन समाजों (टोडा और खस) में पुरुष की प्रभुता होती है तथा स्त्री और बच्चों का निवास स्थान पुरुष के ही घर में होता है, इस कारण इस प्रकार की बहुपति प्रथा को 'पितृसत्तात्मक-बहुपति विवाह' (Patriarchal Polyandry) कहते हैं।

2. अभ्रातृ बहुपति-विवाह (Non-fraternal Polyandry)

नायर (Nairs) अभ्रातृ-बहुपति प्रथा में पतियों का आपस में भाई होना आवश्यक नहीं होता है। स्त्री भाइयों के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्यक्ति को पति के रूप में चुन सकती है। स्त्री अपने पतियों के पास बारी-बारी से विभिन्न समयों में उनके घरों में जाकर रहती है या पति अपने-अपने परिवारों में रहते हुए भिन्न-भिन्न समय में पत्नी के यहाँ आकर रहते हैं। जब तक स्त्री किसी एक पति के साथ रहती है तब तक अन्य पतियों का उस पर अधिकार नहीं होता।

मालाबार के नायरों में प्रचलित अभ्रातृ-बहुपति प्रथा को 'मातृसत्तात्मक बहुपति-विवाह' (Matriarchal Polyandry) कहते हैं क्योंकि इसके अन्तर्गत समस्त सत्ता स्त्री की ही होती है। श्री पणिक्कर (Panikkar) ने नायरों में अभ्रातृक-बहुपति प्रथा के प्रचलन को अस्वीकार किया है और डॉ. अइयप्पन (Aiyappan) के अनुसार 'ईयांगू (langu) में ही केवल यह प्रथा पाई जाती है। सामान्य

रूप से ऐसे मातृसत्तात्मक बहुपति-विवाह के अन्तर्गत एक 'नायर' लड़की का विवाह एक 'नम्बूदरी' लड़के से कर दिया जाता था। विवाह के बाद भी लड़की अपने परिवार में ही रहती थी और अपनी इच्छानुसार कभी-कभी अपने पतियों को अपने घर में आकर रहने की आज्ञा देती थी। कभी-कभी तो विवाह-संस्कार के पश्चात् लड़के का सम्बन्ध अपनी पत्नी से हमेशा के लिए समाप्त हो जाता था और लड़की अपनी माँ के घर में रहते हुए अनेक नायर लड़कों से यौन-सम्बन्ध रखती थी। पिता का अधिकार बच्चों पर या पत्नी की सम्पत्ति पर नहीं होता था। परिवार के मुखिया की देख-रेख में ये सब रहते थे।

बहुपति प्रथा के दुष्परिणाम (Evil Consequences of Polyandry)

बहुपति प्रथा के अनेकों दुष्परिणामों में अग्रलिखित प्रमुख हैं-

(1) सन्तानों की संख्या कम हो जाने अर्थात् कम सन्तान पैदा होना बहुपति प्रथा एक प्रमुख दुष्परिणाम है।

(2) केवल सन्तानों की ही संख्या कम नहीं होती बल्कि ऐसा देखा गया है कि इस प्रथा के कारण लड़कों का जन्म लड़कियों की अपेक्षा अधिक होता है जिसका कि स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि बहुपति प्रथा का चक्र सदा के लिए चलता रहता है।

(3) इस प्रथा का तीसरा दुष्परिणाम स्त्रियों में बाँझपन का पनपना है जिससे आगे चलकर जनसंख्या-सम्बन्धी समस्या उत्पन्न हो सकती है।

(4) स्त्रियों के शारीरिक दृष्टिकोण से इस प्रथा का दुष्परिणाम गुप्त रोगों का बढ़ना है।

(5) सामाजिक दृष्टिकोण से इस प्रथा के कारण विवाह विच्छेद की संख्या काफी बढ़ जाती है।

जीवन साथी चुनने के तरीके (Ways of Acquiring Mate

भारतीय जनजातियों में निम्नलिखत आठ तरीकों से जीवन-साथी चुने जाते हैं-

1. परिवीक्षा-विवाह (Probationary marriage) इस प्रकार के विवाह में होने वाले पति-पत्नी को एक-दूसरे को भली-भाँति समझने का मौका दिया जाता है। इसी उद्देश्य से उनको कुछ समय एकसाथ रहने की अनुमति दी जाती है, जिससे वे निकट से एक-दूसरे के स्वभाव को पूरी तरह समझ सकें। यदि वे इस परिवीक्षा-काल के पश्चात् विवाह करना चाहते हैं तो उनका विवाह हो जाता है। यदि उनका स्वभाव एक-दूसरे के उपयुक्त और अनुकूल नहीं होता तो वे पृथक् हो जाते हैं और युवक कन्या के माता-पिता को कुछ हर्जाना प्रदान करता है। इस प्रकार का विवाह केवल आसाम की कूकी जनजाति में पाया जाता है।

   श्री हॉबेल (Hoebel) के अनुसार, इस प्रकार के विवाह के प्रचलन का कारण यह है कि जनजातियों के लोग केवल कन्या-मूल्य ही नहीं चाहते, बल्कि सन्तान प्राप्ति की इच्छा उनमें अत्यधिक होती है। इस कारण इस प्रथा के द्वारा वे लड़की की सन्तानोत्पत्ति की शक्ति की परीक्षा लेते हैं और यह देखा गया है कि इस परिवीक्षा काल में अगर लड़की गर्भवती हो जाती है तो विवाह अवश्य हो ही जाता है।

2. हरण-विवाह (Marriage by capture)-यह भारत की अनेक जनजातियों में विभिन्न कारणों से प्रचलित है। जैसे (अ) लड़कियों की अत्यधिक कमी जैसे नागाओं में, (ब) अत्यधिक कन्या-मूल्य-प्रथा का प्रचलन जैसे 'हो' जनजाति में, तथा (स) पुरुषों की स्त्रियों पर शासन करने की सहज प्रवृत्ति

जोकि कन्या-मूल्य देने से नहीं, बल्कि हरण के द्वारा चरितार्थ की जा सकती है। 'हो' जनजाति ऐसे विवाह को 'ओपोरटिपि' (Oportipi) और गोंड इसे 'पोसीओथुर' (Posiothur) कहते हैं।

NOTES

हरण-विवाह के दो रूप हैं-(1) शारीरिक हरण (Physical capture), और (2) संस्कारात्मक या विधिवत् हरण (ceremonial capture)। शारीरिक हरण में लड़का अपने साथियों के साथ वास्तविक रूप में लड़की पर आक्रमण करके या लड़की के गाँव पर आक्रमण करके लड़की को हर ले जाता है। गोंडो में तो कभी-कभी माता-पिता स्वयं लड़की के ममेरे या फुफेरे भाई से अपनी लड़की को हर ले जाने की प्रार्थना करते हैं और उस हालत में हरण का केवल एक नाटक मात्र खेला जाता है। इसके विपरीत, विधिवत् हरण-प्रथा खरिया, संथाल, बिरहोर, भूमिज, भील, नागा, मुण्डा आदि जनजातियों में पाई जाती है। इस प्रकार के हरण में एक व्यक्ति एक सार्वजनिक स्थान में प्रेमिका की माँग में सिन्दूर भर देता है और हरण को एक मामूली उत्सव का रूप दे दिया जाता है। आसाम की जनजातियों में लड़कियों का हरण, एक गाँव जब दूसरे गाँव पर आक्रमण करता है, तब होता है। मध्य भारत की जनजातियों में हरण उत्सव के अवसर पर होता है।

3. परीक्षा-विवाह (Marriage by trial)-इस प्रकार के विवाह का मुख्य उद्देश्य विवाह के इच्छुक नवयुवक के साहस और शक्ति की परीक्षा करना होता है, और ऐसा उचित भी है, क्योंकि जनजातियों का जीवन अत्यन्त कठोर और संघर्षपूर्ण होता है। इस प्रथा का उत्तम उदाहरण गुजरात की भील जनजाति है। उनमें होली के अवसर पर 'गोल-गधेड़ो' नामक एक लोक नृत्य का उत्सव होता है। उस स्थान पर एक बाँस या पेड़ पर गुड़ और नारियल बाँध दिया जाता है। इसके चारों ओर अन्दर के घेरे में कुमारी लड़कियाँ और बाहर के घेरे में अविवाहित लड़के नाचते हैं लड़कों का प्रयत्न अन्दर के घेरे को तोड़कर गुड़ और नारियल को प्राप्त करना होता है, जबकि लड़कियाँ लड़कों को ऐसा करने से भरसक रोकती हैं और उनका घेरा तोड़कर अन्दर जाने वाले लड़कों को खूब मारती, उनके कपड़े फाड़ती, बाल खींचती, यहाँ तक कि उनके शरीर के माँस को नोचती हैं, अर्थात् हर तरह से उन्हें अन्दर जाने से रोकती हैं। फिर भी यदि कोई लड़का उनके घेरे को तोड़कर पेड़ पर चढ़ जाता है और गुड़ खाने और नारियल तोड़ने मे सफल होता है तो वह घेरे के अन्दर नाचती हुई लड़कियों में से जिसको भी चाहे उसे अपनी जीवन संगिनी के रूप में चुनने का अधिकार प्राप्त कर लेता है।

4. क्रय-विवाह (Marriage by purchase)-इस प्रथा के अन्तर्गत विवाह के इच्छुक लड़के-लड़की के माता-पिता को कन्या-मूल्य (bride-price) देते हैं। ऐसे विवाह संथाल, हो, ओराँव, खरिया, गोंड, नागा, कूकी, भील, आदि अनेक जन-जातियों में पाए जाते हैं।

प्रायः इस मूल्य को कन्या का मूल्य समझा जाता है परन्तु री रॉबर्ट लुई (Robert Lowie) ने इस बात पर बल दिया है कि इसे कन्या को खरीदने या बेचने का साधन मात्र न समझना चाहिए, वरन् यह (अ) जनजातियों में स्त्रियों की उपयोगिता का प्रतीक है, (ब) इस प्रकार उनके माता-पिता दूसरे को अपनी कन्या देने से होने वाले नुकसान का हर्जाना प्राप्त करते हैं, तथा (स) इसके द्वारा दोनों परिवारों के बीच आर्थिक सम्बन्ध को दृढ़ किया जाता है। श्री लिण्टन (Linton) का कथन है कि यह वास्तविक रूप से स्त्री से पैदा होने वाले बच्चों का अधिकार का क्रय है।

कुछ भारतीय जनजातियों में कन्या-मूल्य के आर्थिक पक्ष पर विशेष बल नहीं दिया जाता, जैसे रेंगमा नागा लोग तय किए हुए कन्या-मूल्य से प्रायः दस रुपये कम लेते हैं। इसके विपरीत, 'हो' जनजाति में इसका इतना अधिक प्रचलन है कि इसे देने की सामर्थ्य बहुत कम व्यक्तियों में होती है। इस कारण या तो ऐसे व्यक्ति अविवाहित रहते हैं अथवा हरण-विवाह या सेवा-विवाह द्वारा पत्नी प्राप्त करते हैं।

NOTES

5. सेवा-विवाह (Marriage by service)-अत्यधिक कन्या-मूल्य प्रथा ने कुछ जनजातियों में गम्भीर समस्या उत्पन्न कर दी है जिसका हल सेवा या विनिमय-विवाह के द्वारा किया गया है। गोंड और बैगा जनजातियों में जो पुरुष कन्या-मूल्य देने में असमर्थ होते हैं वे कन्या के पिता के यहाँ नौकर के रूप में कुछ समय तक काम करते हैं और उस सेवा को ही कन्या-मूल्य मानकर उस निश्चित समय के पश्चात् माता-पिता अपनी लड़की का विवाह उसके साथ कर देते हैं। गोंड ऐसे व्यक्ति को 'लामानई' (Lamanai) और बैगा 'लामसेना' (Lamsena) कहते हैं। अपने भावी ससुर के घर में लामानई को कठोर परिश्रम करना पड़ता है और तब कहीं उसे स्त्री प्राप्त होती है, नहीं तो ससुर उसे भगाकर नया लामानई रख लेता है। बिरहोर जन-जाति में भावी ससुर अपने भावी दामाद को कन्या-मूल्य चुकाने के लिए रुपये उधार देता है और दामाद को सेवा द्वारा उस ऋण को चुकाना पड़ता है। हिमालय प्रदेश के गूजरों में और उत्तर प्रदेश की खस जनजाति में भी ऐसी प्रथा है।

6. विनिमय विवाह (Marriage by exchange)-इसका भी उद्देश्य कन्या-मूल्य की बुराइयों से बचना है। इस प्रकार की विवाह प्रथा में दो परिवार अपनी लड़कियों का विवाह एक-दूसरे के लड़के के साथ कर देते हैं। श्री बोयास (Boas) के अनुसार, ऐसे विवाह में दोनों परिवार किसी को भी कुछ न देकर एक-दूसरे को कन्या-मूल्य दे देते हैं। श्री लुई (Lowie) के शब्दों में, "यह ऐसा विवाह है जिसमें किसी को भी नुकसान नहीं होता है। "श्री हॉबेल (Hoebel) के अनुसार यह बिना खर्चे के पत्नी प्राप्त करने का एक साधन है। यह प्रथा अत्यधिक कन्या-मूल्य के कारण प्रायः सभी भारतीय जनजातियों में पाई जाती है परन्तु आसाम की खासी जन जाति इस प्रकार के विवाह का निषेध करती है।

7. सहमति और सहपलायन-विवाह (Marriage by mutual consent and elopement)-वध पाने का सातवाँ उपाय पारस्परिक सहमति और सहपलायन द्वारा है। बिहार की 'हो' जनजाति इसे 'राजी-खुशी' (Razi-Khushi) अर्थात् वर-वधू की सहमति और प्रसन्नता से होने वाला विवाह कहते हैं। इसमें एक-दूसरे से प्रेम करने वाले युवक-युवती, माता-पिता द्वारा उनके विवाह का विरोध होने पर, गाँव से एकसाथ इकट्ठे भाग जाते हैं और उस समय तक वापस नहीं लौटते जब तक कि उनके माता-पिता इस विवाह से सहमत न हो जाएँ। इस प्रकार के विवाह में किसी प्रकार का सामाजिक संस्कार नहीं किया जाता और न ही कन्या-मूल्य दिया जाता है। चूँकि भारतीय जनजातियों में साध रणतया अधिक आयु में विवाह होता है, इस कारण इस प्रकार के विवाह का प्रचलन काफी है।

8. हठ-विवाह (Marriage by intrusion) यह प्रथा हो, बिरहोर तथा ओराँव जनजातियों में पाई जाती है। ओराँव इसे 'निर्बोलोक' (Nirbolok) और 'हो' इसे 'अनादर' (Anadar) कहते हैं। 'अनादर' नाम ऐसे विवाह के लिए सबसे उपयुक्त है। इस विवाह में लड़की अपने प्रेमी के घर उसके माता-पिता की बिना इच्छा के प्रवेश करती है और उन्हें अपने लड़के की शादी उससे करने को एक प्रकार से बाध्य करती है। इसमें प्रारम्भ में लड़की को ससुराल में अनेक अत्याचार, अत्यधिक अपमान तथा अनादर सहना पड़ता है। इस कारण इसे 'अनादर' विवाह कहा जाता है। लड़की इस प्रकार का अपमानजनक और साहसपूर्ण कदम इस कारण उठाती है कि उसका प्रेम किसी युवक से हो गया है, पर किसी कारण उनका विवाह नहीं हो पा रहा है और युवक भी सहपलायन में असमर्थ है। ऐसी अवस्था में उस लड़की के लिए हठ-विवाह ही एकमात्र उपाय होता है।

विवाह-विच्छेद (Divorce)

जनजातियों के विवाह के सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि उनमें विवाह न तो एक धार्मिक संस्कार है और

न ही आजीवन का एक नाता है। इस कारण उनमें विवाह विच्छेद और विवाह दोनों ही सरल है। सामान्य रूप से अधिकतर भारतीय जनजातियों में विवाह विच्छेद (divorce) पाया जाता है। संथाल, थारू, भील, गोंड आदि जनजातियों में विवाह विच्छेद के विषय में पति की स्थिति अच्छी है। संथाल पति अपनी पत्नी से विवाह-सम्बन्ध तक विच्छिन्न कर सकता है जबकि पत्नी दुश्चरित्र है या जादूगरनी है या आज्ञा का पालन नहीं करती। खासी जनजाति में व्यभिचार, बाँझपन, झगड़ालू प्रकृति आदि विवाह विच्छेद के आध र हैं परन्तु यह काम पति-पत्नी की पारस्परिक सम्मति से ही होता है। कभी-कभी विवाह-विच्छेद चाहने वाले पक्ष को हर्जाना देना पड़ता है। विवाह विच्छेद सार्वजनिक रूप से होता है और बच्चों को माता के ही संरक्षण में रखा जाता है। संथाल जनजाति में यदि पति पत्नी के लिए ठीक प्रकार भोजन, वस्त्र और आभूषण की व्यवस्था नहीं कर सकता तो पत्नी को विवाह विच्छेद करने का अधिकार है। थारू जनजाति में एक पत्नी अत्याचार, नपुंसकता, निर्दयता तथा पति की सामाजिक स्थिति के गिर जाने के आधार पर विवाह विच्छेद कर सकती है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जनजातीय समाजों में सभ्य समाजों की तुलना में अधिक विवाह-विच्छेद होता है और उसके लिए किसी विशेष नियम-कानून का पालन करने की आवश्यकता नहीं होती है। पर इसका तात्पर्य पारिवारिक विघटन नहीं है और न ही उनके द्वारा विवाह विच्छेद को उस रूप में लिया जाता है।

परिवार (Family)

प्रत्येक समाज में, चाहे आदिम हो या आधुनिक, परिवार का होना अत्यावश्यक है, क्योंकि बिना परिवार के समाज का अस्तित्व और निरन्तरता सम्भव नहीं। आदिम समाजों में परिवार का महत्व और भी अधि क है, साथ-ही-साथ इनके समाज में परिवार के विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं। भारतीय आदिम समाज में पाये जाने वाले परिवारों का संक्षिप्त विवरण निम्नवत् है।

परिवार के भेद (Kinds of Family)-भारतीय आदिम समाजों में परिवारों के जो भेद देखने को मिलते हैं उसके तीन प्रमुख आधार हैं-(1) परिवार के सदस्यों की संख्या के आधार पर, (2) विवाह के स्वरूप के आधार पर, (3) पारिवारिक सत्ता या अधिकार वंश-नाम और निवास के आधार पर। इन सब आध रों पर बनने वाले विभिन्न प्रकार के परिवारों का संक्षिप्त विवरण निम्नवत् है।

1. मूल या केन्द्रीय परिवार (Primary or nuclear family)-इस प्रकार के परिवार को प्राथमिक, मूल या केन्द्रीय परिवार इस कारण कहते हैं कि यह परिवार का सबसे छोटा और आधारभूत रूप है। इस प्रकार के परिवारों के सदस्यों की संख्या बहुत कम होती है और इसमें प्रायः एक विवाहित पति-पत्नी और उनके अविवाहित बच्चे ही आते हैं। भारत को 'हो' जनजाति में इस प्रकार का ही परिवार पाया जाता है।

2. विवाह-सम्बन्धी परिवार (Conjugal family)-ऐसे परिवारों में विवाहित पति-पत्नी और उनके बच्चे तो होते ही हैं, साथ ही, विवाह द्वारा बने हुए कुछ रिश्तेदार भी आ जाते हैं। भारत में खरिया जनजाति में ऐसे परिवार पाये जाते हैं।

3. संयुक्त परिवार (Joint family)-संयुक्त परिवार के अन्तर्गत एक परिवार के अनेक नाते-रिश्तेदार एक साथ रहते हैं। डॉ. दुबे के अनुसार यदि कई मूल परिवार एकसाथ रहते हों, और इनमें निकट का नाता हो, एक ही स्थान पर भोजन करते हों और एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करते हों, तो उन्हें उनके सम्मिलित रूप में संयुक्त परिवार कहा जा सकता है। इस प्रकार का परिवार भारतीय

जनजातियों में अत्यन्त व्यापक है।

विवाह सम्बन्ध के आधार पर परिवार के निम्नलिखित भेद हैं-

4. एक-विवाही परिवार (Monogamous family)-जब एक पुरुष एक स्त्री से विवाह करता है तो ऐसे विवाह से उत्पन्न परिवार को एक विवाही परिवार कहते हैं। भारत की जनजातियों में ऐसे परिवारों की संख्या अधिक नहीं है। भारत में खासी, संथाल और कादर जनजातियों में भी एक-विवाही परिवार पाये जाते हैं।

5. बहु-विवाही परिवार (Polygamous family) जब एक स्त्री अथवा पुरुष एक से अधिक स्त्रियों या पुरुषों से विवाह करते हैं, तो ऐसे विवाह से उत्पन्न परिवार को बहु विवाही परिवार कहते हैं। इस प्रकार के विवाह के दो भेद होते हैं-(अ) बहुपति-विवाह परिवार (Polyandrous family) वह परिवार है जिसमें एक स्त्री एक से अधिक पुरुषों से विवाह करके घर बसाती है। उत्तर प्रदेश के जौनसार-बावर की खस जनजाति में ऐसे परिवार पाये जाते हैं। (ब) बहुपत्नी-विवाही परिवार (Polygynous family) वह परिवार है जिसमें एक पुरुष एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करके परिवार की स्थापना करता है। ऐसे परिवार भारत की अधिकतर जनजातियों में पाये जाते थे, विशेषकर नागा, गोंड, बैगा, इत्यादि जनजातियों में। पारिवारिक सत्ता या अधिकार, वंश-नाम और निवास के आधार पर भी परिवार के भेद किये जा सकते हैं, जैसे-

6. मातृसत्तात्मक या मातृवंशीय परिवार (Matriarchal or matrilineal family) इस प्रकार के परिवार में विवाह के बाद पति अपनी स्त्री के घर में जाकर रहने लगता है, पारिवारिक सत्ता स्त्री की होती है और बच्चे अपनी माता के कुल या वंश का नाम ग्रहण करते हैं। भारत में खासी, गारो आदि जनजातियों में इस प्रकार के परिवार उल्लेखनीय हैं जैसे कि निम्नलिखित विवेचना से स्पष्ट होगा।

खासी-मातृसत्तात्मक तथा मातृस्थानीय परिवार भारत में खासी, गारो आदि जनजातियों में पाये जाते हैं। खासी लोग मातृवंशीय हैं और वे अपनी वंश-परम्परा स्त्री-पूर्वज से मानते हैं। उनका देवता भी स्त्री ही होती है। एक खासी परिवार में माता, उसके अविवाहित बच्चे, उसका पति, विवाहित लड़कियाँ और उनके पति होते हैं। यदि परिवार में कोई स्त्री-सदस्य (female member) न हो, या मर गये हों तो लड़कियों को गोद लेने की प्रथा प्रचलित है ताकि मातृसत्तात्मक परिवार की निरन्तरता बनी रहे। शादी के बाद साधारणतया पति अपनी पत्नी के परिवार में रहने के लिए जाता है, परन्तु बाद को वह इस योग्य हो जाए कि अपनी कमाई से वह अपना, अपनी पत्नी तथा बच्चों का पालन-पोषण कर सके तो वह अपना एक स्वतन्त्र घर बसा सकता है। यह छूट शायद ईसाइयों के सम्पर्क में आने का ही परिणाम है। खासी परिवार में न केवल वंश-परम्परा अपितु सम्पत्ति पर अधि कार और उत्तराधिकार भी मातृमूलक है। एक परिवार में जो कुछ भी उसके पुरुष या स्त्री-सदस्य कमाते है। उस पर संयुक्त अधिकार और नियन्त्रण परिवार की सबसे बड़ी स्त्री-सदस्य का ही होता हैं। सम्पत्ति का उत्तराधिकार भी किसी पुरुष को, चाहे वह पति के रूप में हो या पुत्र के रूप में हो, नहीं मिलता है। माता के मरने पर सम्पत्ति के उत्तराधिकारी लड़के या पति नहीं, अपितु लड़कियाँ होती हैं। पुरुष अपनी सारी कमाई शादी से पहले अपनी माता को और शादी के बाद अपनी पत्नी को देता है। खासी परिवार में धार्मिक क्रियाओं में भी स्त्रियों का प्रमुख स्थान होता है। चूँकि सब भाई और लड़के अन्त तक अपनी-अपनी पत्नी के घर चले जाते हैं और चूँकि पति एक दूसरे परिवार से आकर बसता है, इसलिए भाई, पुत्र या पति को धार्मिक क्रियाओं में कोई भाग अदा करने को नहीं दिया जाता है और पुरोहितों का प्रधान कार्य स्त्रियाँ करती हैं। इस विषय में परिवार की सबसे छोटी लड़की का महत्व सबसे अधिक होता है और इसलिए उसी को अपनी माँ की सम्पत्ति का अधिकतर भाग मिलता है। कुछ दशाओं

में स्त्रियाँ वहाँ के धार्मिक तथा राजनीतिक जीवन में सर्वश्रेष्ठ पद को प्राप्त करती हैं। खिरिम राज्य का शासक तथा मुख्य पुरोहित स्त्री ही होती है। स्त्रियों का पारिवारिक जीवन में इतना अधिक महत्व होने के कारण ही परिवार में लड़की का होना आवश्यक समझा जाता है और न होने पर उस कमी एक या एकाधिक लड़की गोद लेकर पूरा किया जाता है। परन्तु इस सबका यह अर्थ कदापि नहीं है कि खासी परिवार या समाज में पुरुषों की कोई स्थिति या सम्मान ही नहीं है। पति के रूप में और पिता के रूप में भी उनका आदर होता है और तलाक या विवाह-विच्छेद पति-पत्नी दोनों की सहमति से होता है। खेती का काम पुरुष ही करते हैं और स्त्रियाँ घर पर कड़ाई-बुनाई का काम करती हैं। स्त्रियाँ सम्मान-सूचक शब्दों (जैसे 'स्वामी') से अपने पति को सम्बोधित करती है।

गारो-गारो जनजाति में भी मातृसत्तात्मक परिवार पाये जाते हैं। इनमें बच्चे अपने परिवार का नाम माता से ग्रहण करते हैं, न कि पिता से। गारो लोग अपना मूल पूर्वज एक स्त्री को मानते हैं। सम्पत्ति का उत्तराधिकार भी मातृमूलक है अर्थात् सम्पत्ति पर अधिकार पुत्रों का नहीं, कन्याओं का होता है। परिवार की कन्याओं में से किसी को भी सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी चुना जा सकता है, परन्तु व्यवहारतः सबसे छोटी कन्या ही इसके लिए चुनी जाती है। यह एक विशिष्ट अधिकार है, इसलिए जिसे यह अधिकार (सम्पत्ति पर अधिकार) मिलता है। उसके पति और जिन्हें नहीं मिलता है उनके पतियों में एक स्पष्ट भेद किया जाता है और इस उद्देश्य से उन्हें अलग-अलग नाम से पुकारा जाता है। जिस लड़की को सम्पत्ति मिलती है उसके पति को 'नोकोम' कहा जाता है और दूसरे सब पति 'चोवारी' कहलाते हैं। गारो जनजाति में यह परम्परागत नियम है कि जिस लड़की को सम्पत्ति मिलती है उसका विवाह पिता की बहन के लड़के से या उसके अभाव में पिता के ही मातृकुल के किसी अन्य अविवाहित सदस्य से होगा। पुत्र को सम्पत्ति इसलिए नहीं मिलती है कि ऐसा होने पर वह सम्पत्ति उस पुत्र से उसके पुत्रों को मिल जाएगी और ये पुत्र अपनी माँ के परिवार के सदस्य होंगे, न कि पिता के परिवार के। इस प्रकार सम्पत्ति दूसरे परिवार को चली जाएगी। इसे रोकने के लिए ही सम्पत्ति कन्या को दी जाती है और इस कन्या के पति को, 'नोकोम' कहते हैं। इस जनजाति में यह भी नियम है कि नोकोम के ससुर की मृत्यु होने पर विधवा सास का पुनर्विवाह नोकोम के साथ ही होगा। इस नियम का आधार भी वही है जोकि पुत्र को सम्पत्ति से वंचित करने का होता है। यदि इस विधवा सास का विवाह परिवार से बाहर होगा या होता है तो नोकोम दम्पति का सम्पत्ति पर अधिकारखत्म हो जाता है। इस परिस्थिति को रोकने के लिए ही नोकोम अपनी सास से विवाह कर लेता है, यद्यपि यह विवाह वास्तव में एक प्रकार का खाना पूरी करने की तरह होता है क्योंकि सास और नोकोम की आयु में काफी अन्तर रहता है। परन्तु कभी-कभी यह अन्तर बहुत कम होता है और (नोकोम और सास) में यौन सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। ऐसी अवस्था में पारिवारिक तनाव (tension) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और नोकोम और उसकी पत्नी (सास की लड़की) में झगड़ा और मनमुटाव चलता रहता है। सम्पत्ति का उत्तराधिकार स्त्री को होने पर भी पति अपने जीवनकाल में पूरा फायदा उठा सकता है। पुरुष साधारणतः एक से अधिक विवाह नहीं करते हैं, यद्यपि तीन स्त्रियों से विवाह की आज्ञा है और विवाह के समय कन्या-मूल्य या वर-मूलय के रूप में किसी प्रकार का लेन-देन नहीं होता। विवाह का प्रस्ताव पुरुषों की ओर से नहीं, अपितु स्त्रियों की ओर से आता है। चूंकि सम्पत्ति के उत्तराधिकार का आधार स्त्रियाँ होती हैं, इसलिए विधवाओं को अनेक दिनों तक पुनर्विवाह करने की आज्ञा नहीं दी जाती। परन्तु पुनर्विवाह हो ही नहीं सकता, ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं। वैसे अविवाहित कन्याओं को विवाह के विषय में पर्याप्त स्वतन्त्रता रहती है।

7. पितृसत्तात्मक या पितृवंशीय परिवार (Patriarchal or Patrilineal family) ऐसे परिवारों में सत्ता या अधिकार पति या पिता के हाथ में रहता है, बच्चे अपने पिता के कुल या वंश के नाम को ग्रहण करते हैं और विवाह के बाद पत्नी अपने पति के घर में आकर रहती है। निम्नलिखित विवेचना से

स्व-प्रगति की जाँच करें :

1. द्रविड़ भाषा परिवार की जनजाति का परिचय दें।
2. अधिमान्य विवाह परिभाषित करें।
3. बहुपत्नी-विवाह स्पष्ट करें।
4. समाजशास्त्रीय वेस्टर मार्क ने बहुतपति प्रथा के सम्बन्ध में क्या बताया है?

भारतीय जनजातीय समाज में पाये जाने वाले इस प्रकार के परिवारों के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में स्पष्ट ज्ञान हो सकता है।

खरिया भारत की अधिकांश जनजातियों में पितृसत्तात्मक, पितृवंशीय या पितृस्थानीय परिवार पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ-उड़ीसा के पहाड़ी प्रदेश में रहने वाली खरिया जनजाति में पितृसत्तात्मक परिवारों का विशिष्ट विस्तार है। पिता का स्थान परिवार के अन्य सभी सदस्यों से महत्वपूर्ण होता है। वंश पिता के द्वारा ज्ञापित होता है। विवाह के बाद पत्नी को पति के साथ या पति के घर रहने के लिए आना पड़ता है। समस्त सम्पत्ति का मालिक पिता और उसकी मृत्यु के बाद उसके लड़के होते हैं। पिता या परिवार का सबसे बड़ा पुरुष सदस्य ही परिवार का मुखिया होता है और परिवार की अच्छाई-बुराई का उत्तर दायित्व उस पर ही होता है। खरिया लोग सामान्यतः एक विवाह ही करते हैं परन्तु बहु-विवाह बिल्कुल ही नहीं होता यह कहना भी गलत होगा। पिता या पति की सत्ता होने पर भी खरिया परिवार में पति और पत्नी दोनों में ही सहयोग पाया जाता है और परिवार से सम्बन्धि त कामों को दोनों ही मिलकर करते हैं यद्यपि इनमें श्रम विभाजन भी पाया जाता है। फलतः पति पशुओं का शिकार, मछली पकड़ना आदि काम करता है, जबकि पत्नी फल-मूल इकट्ठा करना, लकड़ी लाना आदि काम करती है। मकान बनाने का काम भी पुरुषों का है, उस पर उसकी देख-रेख स्त्रियाँ ही करती हैं। बच्चों का पालन-पोषण करना खाना पकाना, पानी भरना आदि काम भी स्त्रियाँ करती हैं, परन्तु पालतू जानवरों की देख-रेख पुरुष ही करते हैं। जिस प्रकार वंश-नाम, निवास, अधि कार तथा उत्तरधिकार के विषयों में पति की स्थिति सर्वोच्च है, उसी प्रकार परिवार को चलाने के मामले में या पारिवारिक जीवन के रोग के विषयों में स्त्रियाँ भी महत्वपूर्ण तथा स्वतन्त्र पार्ट अदा करती हैं। परन्तु पारिवारिक मामलों को छोड़कर अन्य विषयों में, विशेषकर धार्मिक विषयों में स्त्रियों की अनेक निर्योग्यतायें भी होती हैं। धार्मिक कृत्यों में स्त्रियाँ भाग नहीं ले सकती हैं।

भील-परिवार में भी पिता मुखिया होता है और उसके परिवार में पिता के वंश के ही लोग रहते हैं। पिता परिवार की आय को अपने पास रखता है और उसे जैसा उचित समझता है उसी रूप में खर्च करता है। परिवार के अन्य सदस्यों के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखना पिता का ही काम होता है। ध ार्मिक काम-काज, कृत्यों या उत्सवों की व्यवस्था भी पिता के हाथ में रहती है। परन्तु इन सबका यह अर्थ नहीं है कि भील परिवार में माँ या पत्नी की स्थिति बहुत गिरी हुई होती है। यद्यपि माँ या पत्नी के हाथ में कोई अधिकार देना पुरुष पसन्द नहीं करते, फिर भी माँ अपनी चतुरता, बुद्धि, अनुभव तथा सेवा के आधार पर अपना प्रभाव बनाये रखती है।

सारांश

प्रत्येक समाज में चाहे अधिक हो या आधुनिक, परिवार का होना अत्यावश्यक है, क्योंकि बिना परिवार के समाज का अस्तित्व और निरन्तरता सम्भव नहीं। आदिम समाजों में परिवार का महत्व और भी अधिक है, साथ ही साथ इनके समाज में परिवार के विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं। सामान्यतः परिवार के सदस्यों की संख्या के आधार पर, विवाह के स्वरूप के आधार पर और पारिवारिक सत्ता या अधि कार वंश-नाम और निवास के आधार पर।

स्वप्रगति की जाँच के उत्तर देखें :

1. द्राविड़ भाषा परिवार-इन्हें बोलने वाली जनजातियाँ मध्य तथा दक्षिणी भारत में पाई जाती हैं।

इस वर्ग में बोलियाँ इस प्रकार की हैं-उड़ीसा की खोध या काँध, बिहार तथा उड़ीसा की कुई, उराँव, राजमहल पहाड़ियों की माल्टो। टोडा, मलेर, पोलिया, सावर, पनियन, चेंचू, इलूरा, कादर आदि जनजातियाँ भी द्राविड़ बोलियों का व्यवहार करती हैं।

2. भारत की कुछ जनजातियाँ ऐसी भी हैं जो विवाह के समय अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अपने ही कुछ निकट रिश्तेदारों से विवाह करना अधिक पसन्द करती हैं। ऐसे अधिमान्य विवाह के प्रमुख रूप हैं-

   ममेरे तथा फुफेरे भाई-बहनों का विवाह, साली और भाभी विवाह

3. बहुपत्नी-विवाह : एक पुरुष का अनेक स्त्रियों से विवाह बहुपत्नी-विवाह है। आर्थिक कठिनाइयों के कारण सामान्य रूप से बहुपत्नी-विवाह भारत की जनजातियों में नहीं किया जाता है। जनजातियों में धनी व्यक्ति ही अधिकतर बहुपत्नी-विवाह करते हैं। नागा, गोंड, बैगा, टोडा तथा मध्य भारत की कुछ जनजातियों में बहुपत्नी-प्रथा पायी जाती है।

अभ्यास प्रश्न

1. जनजाति की परिभाषा दें तथा इसकी विशेषताएं बताएं।
2. भारतीय जनजातियों पर एक निबन्ध लिखें।
3. भारतीय जनजातियों में विवाह की प्रथा पर विस्तृत विवेचन लिखें।
4. भारतीय जनजातियों में परिवार की अवधारणा एवं प्रकारों पर विस्तार से प्रकाश डालिए।

ekMîy&6

NOTES

जाति व्यवस्था

इस अध्याय के अन्तर्गत :

- परिचय
- जाति का अर्थ और परिभाषाएँ
- जाति-व्यवस्था की विशेषताएँ
- जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति
- जाति-व्यवस्था के दुष्कार्य
- जाति-व्यवस्था में परिवर्तन के कारण
- जाति-व्यवस्था की वर्तमान संरचना
- नातेदारी
- परिहार या विमुखता
- परिहास या हँसी मजाक के सम्बन्ध
- नातेदारी का समाजशास्त्रीय महत्व

अध्याय के उद्देश्य :

इस अध्याय के अध्ययन के उपरांत आप जान सकेंगे :

- जाति का अर्थ और परिभाषाएँ
- जाति व्यवस्था की उत्पत्ति
- जाति व्यवस्था की विशेषताएँ
- जाति व्यवस्था के दुस्कार्य
- जाति व्यवस्था में परिवर्तन के कारण
- जाति-व्यवस्था की वर्तमान संरचना
- नातेदारी, परिहार या विमुखता
- परिहार या हँसी मजाक के सम्बन्ध
- नातेदारी का समाजशास्त्री महत्व

MATS Centre for Distance and Online Education, MATS University

bdkÃ&9 tkfr dk vFk] ifjHkk"kk] fo'k"krk,

सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था सभी समाजों में पायी जाती है जिसमें व्यक्तियों के पदों और कार्यों का निर्धारण किया जाता है। भारतीय जाति-व्यवस्था भी सामाजिक स्तरीकरण का ही एक रूप है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की सामाजिक स्थिति उसके जन्म से ही निर्धारित होती है। आज भारतवर्ष में लगभग 3000 जातियाँ और उपजातियाँ हैं और उनके अध्ययन के लिए जैसा कि हट्टन का कथन है, विशेषज्ञों की एक सेना की आवश्यकता होगी। यही कारण है कि विभिन्न समाजशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न परिप्रेक्ष्य से इसका अध्ययन करने का प्रयास किया है।

भारत में जाति-व्यवस्था का अध्ययन तीन परिप्रेक्ष्यों में किया गया है

1. भारतशास्त्रीय (Indological)
2. समाज-मानवशास्त्रीय (Socio-anthropological)
3. तथा समाजशास्त्रीय (Sociological)

भारतशास्त्रियों ने जाति का अध्ययन धर्मग्रंथीय दृष्टिकोण से किया है, इनके अनुसार जाति की उत्पत्ति वर्णों से हुई, जिसका उद्देश्य श्रम का विभाजन करना था। जैसे-जैसे लोगों ने समाज में चार समूहों अथवा वर्गों में विभाजन स्वीकार करना आरंभ किया, वे अधिक कठोर होते गए और जाति की सदस्यता और व्यवसाय वंशानुगत होते गए। जाति-व्यवस्था में कठोरता का समावेश "कर्म"; कृत्यबद्ध तथ "धर्म"; कर्तव्य व दायित्व में विश्वास के कारण होता गया जिससे स्पष्ट है कि जाति रूढ़ियों, परंपराओं व नियमों (Dogmas) में विश्वास के पीछे धर्म ही निश्चित रूप से प्रेरक शक्ति रहा है। जाति के भविष्य के बारे में भारतशास्त्री मानते हैं कि जातियाँ दैवीय रचना हैं अतः इनका अस्तित्व बना रहेगा।

सामाजिक मानवशास्त्रियों ने सांस्कृतिक दृष्टिकोण को चार भागों में बाँटा है :

1. संगठनात्मक (organisational)
2. संरचनात्मक (Structural)
3. संस्थात्मक (Institutional)
4. सम्बन्धात्मक (Relational)

संगठनात्मक व संरचनात्मक विचारों में अंतर केवल इतना सा ही है कि प्रथम विचार जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति से तथा दूसरा विचार जाति-व्यवस्था के विकास एवम् संरचना में आने वाले परिवर्तन की प्रक्रियाओं से सम्बद्ध है। रिजले, क्रोबर जैसे विद्वानों का संस्थात्मक दृष्टिकोण जाति को केवल भारत के प्रसंग में ही अनुकूल नहीं मानता बल्कि इसे वर्तमान दक्षिण संयुक्त राज्य अमेरिका में भी अनुकूल मानते हैं। सम्बन्ध त्मक दृष्टिकोण वाले विद्वानों का मानना है कि समाज में जाति-व्यवस्था की उपस्थिति या अनुपस्थिति समूहों में गतिशीलता की उपस्थिति या अनुपस्थिति से संबंधित होती है, यदि गतिशीलता सामान्य होगी तो जाति-व्यवस्था नहीं होगी किन्तु यदि इसमें रूकावट हो तो जाति व्यवस्था होती है।

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में जाति-व्यवस्था को समाज में स्तरीकरण के रूप में तथा सामाजिक असमानता के रूप में जिसमें समाज अपने सदस्यों को विभिन्न सामाजिक स्थितियों (Position) में बाँट देता है, इन सदस्यों के बीच की अन्तःक्रिया सामाजिक संरचनाओं का आधार होती है।

NOTES

जाति का अर्थ एवम् परिभाषा (Meaning and definition of cast)

जाति के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए अनेक समाजशास्त्रियों ने जाति के शाब्दिक अर्थ से लेकर इसके संरचनात्मक, सांस्कृतिक, संगठनात्मक, संस्थात्मक पक्षों से सम्बन्धित परिभाषाएँ दी हैं। जाति शब्द अंग्रेजी भाषा के कास्ट (Caste) का हिन्दी अनुवाद है। अंग्रेजी के कास्ट शब्द की व्युत्पत्ति पुर्तगाली भाषा के "casta" शब्द से हुई है जिसका अर्थ मत, विभेद तथा जाति से लिया जाता है। जाति शब्द की उत्पत्ति का पता 1665 में ग्रेसिया डी-ओरेटो नामक विद्वान ने लगाया, उसके बाद फ्रांस के अब्बे डुब्बाय ने-इसका प्रयोग प्रजाति के संदर्भ में किया।

जाति को एक इकाई एवं व्यवस्था की दृष्टि से देखा जा सकता है साथ ही इसे संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक घटनाओं की दृष्टि से भी देखा जा सकता है। इकाई के रूप में जैसा कि मजूमदार और मदान का कहना है कि "जाति एक बंद वर्ग है", जिसमें सदस्यों की प्रस्थिति, उनका व्यवसाय, जीवन साथी को चुनने के क्षेत्र निश्चित होते हैं। व्यवस्था के रूप में जाति का सम्बन्ध अन्तर्सम्बन्ध प्रस्थितियों (Interrelated statues) और जातियों के बीच उस प्रतिमानित अन्तः क्रिया से है जो विभिन्न प्रतिबंधों के संग्रह पर आधारित है। जैसे सदस्यता परिवर्तन पर प्रतिबंध, विवाह पर प्रतिबंध आदि "सांस्कृतिक घटना" के रूप में जाति को मूल्यों, विश्वासों का संग्रह माना जाता है।

बूगल (Bougle, 1958) ने जाति की व्याख्या करते हुए कहा कि जाति वंशानुक्रम आधार पर विशिष्ट श्रेणीबद्ध रूप से गठित समूह है, उन्होंने जाति की तीन विशेषताएँ बताई हैं: पैतृक विशिष्टता, श्रेणीबद्धता तथा तिरस्कार।

केतकर ने जाति को एक सामाजिक समूह माना जिसकी दो विशेषताएँ हैं : वंशानुगत सदस्यता और अन्तः विवाह।

हरबर्ट रिजले जाति को परिवारों या परिवारों के समूह का एक संकलन मानते हैं। जिसका एक सामान्य नाम है जो एक काल्पनिक पूर्वज, मानव या देवता से सामान्य उत्पत्ति का दावा करता है। समान आनुवंशिक व्यवसाय करने पर जोर देता है और सम्मति देने में समर्थ लोगों द्वारा एक सजातीय समुदाय माना जाता है। उपरोक्त विवेचना के आधार पर हम कह सकते हैं कि जाति मुख्यतः जन्म के आधार पर सामाजिक संस्तरण एवं खण्ड-विभाजन की वह गतिशील व्यवस्था है जो खाने-पीने, विवाह, पेशा और सामाजिक सहवासों के सम्बन्ध में अनेक या कुछ प्रतिबंधो को अपने सदस्यों पर लागू करती है।

जाति-व्यवस्था की विशेषताएँ (Characteristics of caste system)

एन. के दत्ता ने जाति-व्यवस्था की छः विशेषताओं का उल्लेख किया है :

1. एक जाति के सदस्य जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकते।
2. प्रत्येक जाति में दूसरी जातियों के साथ खाने-पीने के सम्बन्ध में कुछ न कुछ प्रतिबन्ध होते हैं।
3. अधिकतर जातियों के पेशे निश्चित हैं।
4. जातियों में ऊँच-नीच का संस्तरण है, जिसमें ब्राह्मण जाति की स्थिति सर्वमान्य रूप से सबसे ऊपर है।
5. व्यक्ति की जाति उसके जन्म के आधार पर ही आजीवन के लिए निश्चित होती है।
6. सम्पूर्ण व्यवस्था ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा पर निर्भर है।

MATS Centre for Distance and Online Education, MATS University

डा. घुर्ये ने जाति-व्यवस्था की संरचनात्मक एवम् संस्थात्मक विशेषताओं का उल्लेख किया है।

NOTES

संरचनात्मक विशेषताएँ (Structural Characteristics)

1. समाज का खण्डात्मक विभाजन-भारतीय जाति व्यवस्था ने हिन्दू समाज को विभिन्न खण्डों में विभाजित कर दिया है। प्रत्येक खण्ड की स्थिति, पद, और कार्य भी सुनिश्चित हैं। धुरिये कहते हैं कि खण्ड-विभाजन का तात्पर्य यह है कि जाति व्यवस्था द्वारा आबद्ध समाज के सामुदायिक भावना सम्पूर्ण समुदाय के प्रति न होकर अपनी ही जाति तक सीमित होती है।

2. संस्तरण-भारतवर्ष में अनेक जातियाँ हैं परन्तु किन्हीं भी दो जातियों की प्रस्थिति समाज में समान नहीं होती है। समाज में विभिन्न खण्डों, जातियों एवं वर्गों की उच्चता और निम्नता के आधार पर अरोही अथवा अवरोही क्रम को संस्तरण कहते हैं। हिन्दू समाज में ब्राह्मण जाति की प्रस्थिति समाज में ऊँची और अस्पृश्य जातियों की प्रस्थिति निम्म होती है।

संस्थात्मक विशेषताएँ (Intitutional Characteristics)

1. भोजन और सामाजिक सहवास पर प्रतिबंध-जाति तथा प्रथा के निषेधात्मक नियमों में भोजन सम्बन्धी प्रतिबंध उल्लेखनीय हैं, इस विषय पर ब्लंट (Blunt) ने सात महत्वपूर्ण निषेध, तम्बाकू या धूम्रपान संबंधी निषेध, बर्तन निषेध। नियमानुसार किसी भी व्यक्ति को अपनी जाति के सदस्य के अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा बनाये भोजन को नहीं ग्रहण करना चाहिए।

2. नागरिक एवं धार्मिक निर्योग्यताएँ एवं विशेषाधिकार-जाति-व्यवस्था की एक अन्य विशेषता छुआछूत के आधार पर विभिन्न जातियों को सामाजिक एवं धार्मिक निर्योग्यताएँ या विशेषाधिकार प्रदान करना है। इस संबंध में सबसे अधिक विशेषाधिकार ब्राह्मणों को प्राप्त है तथा सबसे अधिक निर्योग्यताएँ अछूतों के लिए हैं। मालाबार के इजाबाह लोगों को जूते पहनने, छाता लगाने एवम् गाय का दूध निकालने की आज्ञा नहीं थी, अछूतों की बस्तियाँ गाँव से दूर होती थी।

3. व्यवसाय पर प्रतिबंध जाति-व्यवस्था में व्यवसाय परम्परागत होते थे सामान्यतः जो जिस जाति में जन्म लेता है वह बड़ा होने पर उस जाति का व्यवसाय अपनाता है। जाति के व्यवसाय पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होते रहते हैं। व्यक्ति अपना पैतृक व्यवसाय जाति बन्धुओं के नैतिक निर्णय तथा सामाजिक प्रतिबन्ध के कारण छोड़ नहीं सकता था तथा अन्य जाति वाले भी अपना पैतृक व्यवसाय दूसरी जाति वालों को अपनाने नहीं देते थे।

4. विवाह पर प्रतिबंध-प्रत्येक जाति में विवाह संबंधी अनेक प्रतिबंध होते हैं। जिसका अर्थ है कि प्रत्येक जाति के सदस्य अपनी जाति में ही विवाह संबंध स्थापित कर सकते हैं। अपनी जाति से बाहर विवाह संबंध स्थापित करने पर वर-वधू को जाति से बाहर कर दिया जाता है।

5. प्रदत्त सदस्यता-जाति की सदस्यता प्रदत्त होती है अर्थात्, जो जिस जाति में जन्म लेता है जीवन पर्यन्त वह उसी जाति का सदस्य बना रहता है। जाति-व्यवस्था में व्यक्ति अपनी जातिगत सदस्यता व्यक्तिगत गुणों-शिक्षा, बुद्धिमत्ता, कार्यकुशलता आदि के द्वारा परिवर्तित नहीं कर सकता है।

जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति

भारतीय जाति-व्यवस्था एक अत्यन्त ही जटिल संस्था है। इसकी उत्पत्ति कब और कैसे हुई इस विषय

में मत-विभिन्नता दिखाई देती है। अनेक भरतीय एवम् पाश्चात्य विद्वानों ने जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति के विषय में अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। जो जाति की ऐतिहासिकता को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है।

1. परंपरागत सिद्धान्त-जाति की उत्पत्ति से सम्बन्धित परंपरागत सिद्धान्त का स्वरूप भेद, उपनिषद, स्मृति, महाभारत एवम् धर्मशास्त्र में स्पष्ट होता है। इसके अनुसार ब्रह्मा के विभिन्न अंगों से जाति की उत्पत्ति हुई। ब्राह्मणों का जन्म ब्रह्म के मुख से, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य जंघा तथा उदर से तथा शुद्र पैर से उत्पन्न हुए हैं। इसी आधार पर प्रत्येक जाति के कार्य निश्चित हैं, ब्राह्मण का कार्य अध्ययन-अध्यापन करना है जिससे वेदों की रक्षा हो सके। क्षत्रियों का कार्य अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग करना है जिससे जन-धन की रक्षा हो सके। उसी प्रकार वैश्यों का कार्य कृषि करना है और शूद्रों की उत्पत्ति पैरों से होने के कारण उनका कार्य उपरोक्त तीनों वर्गों की सेवा करना है।

   परंपरागत सिद्धान्त की इस आधार पर आलोचना की जाती है कि जाति की उत्पत्ति ब्रह्मा के अंगों से मानी गई है। आज के वैज्ञानिक युग में इसे तर्क पूर्ण नहीं माना जा सकता।

2. धार्मिक सिद्धान्त जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति के धार्मिक दृष्टिकोण को दो विद्वानों होकार्ट तथा सेनार्ट ने प्रमुखता दी है। होकार्ट का मत सम्पूर्ण जाति व्यवस्था का उद्गम धार्मिक क्रियाओं एवं कर्मकाण्डों से संबंधित है। धार्मिक क्रियाओं के आधार पर समाज अनेक समूहों में विभाजित हो गया और फिर उनके द्वारा किये जाने वाले धार्मिक कार्यों की पवित्रता के अनुरूप उसकी सामाजिक स्थिति का निर्धारण हुआ जो वंशानुक्रम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होने लगा।

   होकार्ट के उपरोक्त सिद्धान्त की यह आलोचना की जाती है कि होकार्ट ने जाति को मात्र धार्मिक व्यवस्था माना है जबकि जाति व्यवस्था एक सामाजिक संस्था है इस सामाजिक संस्था में धार्मिक तत्व हो सकते हैं, पर धर्म ही सब कुछ नहीं है।

   सेनार्ट के अनुसार जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत भोजन, विवाह व सामाजिक सहवास से सम्बन्धित प्रतिबंध जाति की उत्पत्ति के आधार हैं। इनका मानना है कि भारत में आर्यो के आक्रमण के बाद प्रजातीय मिश्रण बढ़ जाने से विशुद्धता का स्तर वर्गों में विभक्त हो गया। एक ओर वे व्यक्ति थे जो अपनी वंश परंपरा के आधार पर विशुद्ध होने का दावा करते थे, तो दूसरी ओर कुछ व्यक्तिगत परंपरागत व्यवसाय की विशुद्धता को आधार मानते थे दोनों स्थितियों के परिणाम स्वरूप अनेक समूहों की रचना हुई, विभिन्न कुल देवताओं में विश्वास करने वाले समूह एक-दूसरे से पृथक हो गए और व्यवसायों में भिन्नता के कारण पृथकता बढ़ गई।

   उपरोक्त सिद्धान्त की यह आलोचना की गई है कि सेनार्ट ने जाति के सदस्यों को एक सामान्य पूर्वज की संतान बताया है यह कथन असत्य है क्योंकि प्रत्येक जाति में अनेक पूर्वजों की संतानें होती हैं।

3. प्रजातीय सिद्धान्त-हरबर्ट रिजले इस सिद्धान्त के प्रतिपादक रहे हैं, यद्यपि इनके इस सिद्धान्त का अनुमोदन घुर्ये, मजूमदार और अन्य विद्वानों ने भी किया है। इस सिद्धांत के अनुसार सांस्कृतिक संघर्ष तथा प्रजातियों के सम्पर्क से भारत में जाति के निर्माण की प्रक्रिया संभव हुई।

   उपरोक्त सिद्धान्त की आलोचना करते हुए हट्टन का कहना है कि अगर प्रजातीय और सांस्कृतिक भिन्नताएँ व सम्पर्क ही जाति प्रथा की उत्पत्ति का कारण है तो भारत में बाहर से आये हुए मुसलमान और ईसाई भी जिनमें दोनो प्रकार की भिन्नताएँ पायी जाती हैं क्यों नहीं एक जाति बन सके।

4. व्यावसायिक सिद्धान्त पेशों के आधार पर जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति की व्याख्या नेसफील्ड ने प्रस्तुत की। पेशों की पवित्रता अपवित्रता के आधार पर ही जाति व्यवस्था में ऊँच-नीच का संस्तरण हुआ है।

   उपरोक्त सिद्धांत की इस आधार पर आलोचना की जाती है कि यदि व्यवसाय ही जाति की उत्पत्ति का आधार होता तो क्या कारण है कि उत्तर भारत में कृषि का व्यवसाय करने वालों का समाज में ऊँचा स्थान है तथा दक्षिण भारत में कृषि का व्यवसाय करने वाले लोगों का स्थान निम्न है।

5. आदिम संस्कृति का सिद्धान्त-इस सिद्धान्त के प्रतिपादक हट्टन हैं इन्होंने लिखा है कि जाति व्यवस्था की उत्पत्ति में आदिम संस्कृति या "माना" की अहम भूमिका होती है। इनके अनुसार जाति व्यवस्था की उत्पत्ति की व्याख्या करने में निम्न तीन पक्षों का ध्यान रखना आवश्यक है।

1. जाति-व्यवस्था में व्यवसाय का अनुवांशिक होना 2. विवाह, खान-पान एवं सामाजिक सहवास संबंधी प्रतिबंध। 3. जातियों में ऊँच-नीच की व्यवस्था

हट्टन ने नागा जनजाति का उदाहरण देते हुए कहा कि एक ग्राम के सभी ग्रामवासी किसी एक ही प्रकार के व्यवसाय को ही करते हैं क्योंकि प्रत्येक गाँव एक राजनीतिक इकाई है इसी प्रकार भोजन, विवाह एवं सामाजिक सहवास सम्बंधी प्रतिबंधों की "माना" के आधार पर व्याख्या की गई। "माना" एक अलौकिक शक्ति है जो स्पर्श द्वारा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में चली जाती है। इसका प्रभाव अच्छा भी होता है और बुरा भी। "माना" के इस बुरे प्रभाव से बचने के लिए ही उपरोक्त प्रतिबंधों का विकास हुआ, फलस्वरूप विभिन्न जातियों में उच्चता एवं निम्नता के लक्षण पैदा हुए।

राजनैतिक या ब्राह्मणीय सिद्धान्त इस सिद्धान्त को सर्वप्रथम अबे डुबॉय ने प्रतिपादित किया। बाद में घुरिये ने भी इस पर प्रकाश डाला। इनके अनुसार भारत में जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति ब्राह्मणों के द्वारा बनाई गई एक चतुर राजनीतिक योजना का परिणाम है। ब्राह्मणों ने अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए समाज में संस्तरण की एक ऐसी व्यवस्था आरंभ की जिसमें उन्होंने अपने आपको सबसे ऊपर तथा शूद्रों को सबसे निम्न स्थान दिया। इस सिद्धान्त की यह आलोचना की जाती है कि जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति ब्राह्मणों की चतुर युक्ति का नहीं बल्कि यह एक जैविक घटना है।

मजूमदार ने उपरोक्त सिद्धान्त की आलोचना करते हुए लिखा है कि विश्व के अन्य क्षेत्रों में बसी अनेक जन-जातियाँ "माना" शक्ति में विश्वास करती हैं परन्तु वहाँ पर जाति-व्यवस्था की न तो उत्पत्ति हुई और न ही विकास।

जाति-व्यवस्था के प्रकार्य

किसी भी समाज को भिन्न समूहों (जातियों व वर्गो) में स्तरीकरण की प्रकार्यात्मक आवश्यकता के अनुसार विभाजित करना एक ऐसी माँग है जिसका अनुभव किसी भी समाज की सामाजिक संरचना में व्यक्ति को पदस्थिति देने तथा प्रेरित करने में किया जाता है हट्टन (1961) ने जाति के कार्यों का विवेचन तीन दृष्टिकोणों से किया है।

1. व्यक्ति के दृष्टिकोण से-जाति-व्यवस्था को जन्म से ही एक निश्चित सामाजिक परिवेश प्रदान करती है जिसे धन, निर्धनता, सफलता, असफलता कोई भी स्थिति परिवर्तित नहीं कर सकती। जब तक वह जाति द्वारा निर्धारित आचार संहिता का उल्लंघन न करे तब तक जाति उसे स्थायी या अस्थायी रूप से बहिष्कृत नहीं कर सकती हैं। उसे संबंधों की एक स्थायी व्यवस्था प्रदान करती है जो उसके

NOTES

समस्त व्यवहार को नियंत्रित करती हैं। व्यक्ति की जाति विवाह के विषय में उसकी रूचि को दिशा प्रदान करती हैं, भोजन तथा कर्मकाण्डी मलिनता (ceremonial Uncleaniness) के अनुपालन में रिवाजों के पालन के लिए निर्देश देती हैं। जन्म, विवाह व मृत्यु के विषय में संस्कारों के पालन की सिफारिश करती हैं, उसके व्यवसाय का निर्धारण करती हैं, व्यक्ति के लिए एक क्लब का काम करती है।

2. जाति समूह / इकाई के दृष्टिकोण से-प्रथम एक जाति समुदाय के वही सदस्य होते हैं जिनका जन्म उस जाति समुदाय में होता है, जाति से बाहर के व्यक्तियों को सदस्य नहीं बनाया जा सकता है। यदि कोई जाति अपने सदस्यों की संख्या बढ़ाना चाहती हैं तो वह जन्मदर में वृद्धि करके ही संभव हो सकता हैं। द्वितीय जाति व्यवस्था प्रत्येक जाति की सामाजिक स्थिति को अन्य जातियों के संदर्भ में भी निश्चित करती हैं कि विभिन्न जातियाँ किन से उच्च अथवा निम्न है। घुर्ये ने इसको जातियों का संस्तरण कहा है। तृतीय जाति व्यवस्था अपने सदस्यों को एक समूह के रूप में संगठित रहने योग्य बनाती है। इस एकता का लाभ उठाते हुए जाति अपनी स्थिति को समाज में ऊँचा उठाती है। यद्यपि यह उच्च स्थिति प्राप्त करना सरल नहीं होता और हो सकता है यह कार्य कई पीढ़ियों में पूर्ण हो। श्रीनिवास ने इस "सस्कृतिकरण" की अवधारणा कहा है कनिघम ने (1917) में लिखा है कि शिक्षा के द्वारा भी जाति की प्रस्थिति ऊँची उठ सकती है। अंततः जाति व्यवस्था संस्कृति (ज्ञान, व्यवहार, निपुणता) को आगे संचारित करती हैं और उन लोगों को पीढ़ी दर पीढ़ी आगे तक पहुँचाती है जो मनुष्य ने संघर्षो के बाद परिस्थिति को नियंत्रित करके प्राप्त किये हैं।

3. समाज के दृष्टिकोण से-प्रथम जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न जातियां परस्पर उच्च-निम्न क्रम में व्यवस्थित की जाती हैं, तथा उनको परस्पर संगठित रखकर समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है। द्वितीय जाति व्यवस्था ने समाज में लिंग अनुपात को हमेशा स्थिर रखा है। विवाह सम्बन्धी प्रतिबंधों के द्वारा समाज की जनसंख्या में स्त्री-पुरुष का अनुपात संतुलित रखने, रक्त की शुद्धता तथा प्रजनन की शुद्धता बनाये रखने में उल्लेखनीय कार्य किये। तृतीय जाति राजनैतिक स्थिरीकरण का भी कार्य करती है। अर्थात यह राजनैतिक व्यवस्था को परिवर्तन से बचाये रखती है। हट्टन का मत है कि भारतीय समाज अनेक आक्रमणों, क्रान्तियों सभी प्रकार की सामाजिक उथल-पुथल के बावजूद भी जीवित रहा है और निस्संदेह यह सब कुछ जाति-व्यवस्था के कारण संभव हुआ है जो कि इस्लाम व ईसाई लोगों द्वारा धर्म परिवर्तन किये जाने पर भी जीवित रही है। इस प्रकार जाति-व्यवस्था ने भारत को सामाजिक स्थिरता प्रदान की है क्योंकि यह विभिन्न संरचनाओं को अपनी संरचना का अभिन्न अंग मानकर अपने में समाहित कर लेती है। चतुर्थ जाति समाज में एकता लाती है अर्थात् यह विविध प्रकार के समूहों, संस्थाओं और उपव्यवस्थाओं को एक समग्रता में जोड़ देती है। अंततः जाति-व्यवस्था ने भारतीय संस्कृति की विशिष्ट विशेषताओं जैसे: कला, साहित्य, धर्म, प्रथाऐं, विभिन्नता में एकता आदि को सुरक्षित रखा तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को अपने प्रतिबन्धों तथा विशेषाधिकारों को हस्तानान्तरिक करने का कार्य कुशलतापूर्वक किया है।

जाति-व्यवस्था के दुष्कार्य

राधाकृष्णन ने सच ही कहा था कि जाति-व्यवस्था जिसे सामाजिक संगठन को नष्ट होने से बचाने के साधन के रूप में विकसित किया गया था। दुर्भाग्यवश वही आज उसकी उन्नति में बाधक बन गई है। जाति-व्यवस्था के कुछ दुष्कार्य इस प्रकार हैं-सामाजिक दुष्कार्य प्रथम जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत ऊँची

जातियों को अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे। जिनके बल पर वे निम्न जातियों का शोषण करते थे और उन्हें धर्म परिवर्तन के लिए प्रेरित भी करते थे। साथ ही जाति व्यवस्था का आधार पवित्रता-अपवित्रता की धारण है। इस कारण समाज के एक बहुत बड़े वर्ग हरिजन, चमार आदि को अस्पृश्यता की श्रेणी में रखा जाता है। उच्च जातियाँ इन अस्पृश्य जातियों को अपवित्र मानती हैं जिसके छूने तथा परछाई मात्र से वे अपवित्र हो जाती हैं। द्वितीय जाति व्यवस्था हिन्दू स्त्रियों की निम्न स्थिति का प्रमुख कारण है जाति रक्षा के नाम पर उनके अधिकारों को छीन लिया गया उन्हें शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार नहीं था, बाल-विवाह कर दिया जाता था, विधवा होने पर पुनर्विवाह का अधिकार भी न था। तृतीय जाति व्यवस्था सामाजिक प्रगति में बाधा भी है। जाति से निकाल देने के डर से लोग अपने परंपरागत ढंग से ही कार्य करते हैं और वे नई दिशा की ओर पग नहीं रखते। इससे एक ओर नए आविष्कार नहीं हो पाते और दूसरी ओर रूढ़िवादिता के कारण दूसरों के आविष्कारों से लाभ उठाना भी संभव नहीं हो पाता।

आर्थिक दुष्कार्य-प्रथम-जाति-व्यवस्था आर्थिक विकास के मार्ग में बाधक है क्योंकि इसके अन्तर्गत व्यक्तियों को उच्च शिक्षा, व्यवसायों को चुनने की स्वतंत्रता, निष्पक्ष नियुक्तियाँ तथा योग्य व्यक्तियों का चयन, सामाजिक एवम् क्षेत्रीय गतिशीलता की स्वतंत्रता नहीं होती। द्वितीय-जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति को जन्म के आधार पर सदस्यता मिल जाती है जिससे वह अपनी कार्यकुशलता की वृद्धि करने का प्रयास नहीं करता है। तृतीय जाति-व्यवस्था के मूल्यों, प्रतिबंधों तथा व्यावसायिक परंपराओं के कारण लोग न तो अपने पैतृक व्यवसाय छोडते हैं और न ही मूल निवास स्थान, जिससे श्रमिकों की भौगोलिक गतिशीलता में अनेक बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं।

राजनैतिक दुष्कार्य : प्रथम-जातीय प्रतिबंधों ने राष्ट्रीय एकता और प्रजातान्त्रिक प्रणली में अनेक बाध एँ पैदा की हैं। द्वितीय-जाति-व्यवस्था ने समाज के सदस्यों में ऊँच-नीच की भावना पैदा करके राष्ट्रीयता को कमजोर किया है। तृतीय-जाति व्यवस्था ने जातिवाद को बढ़ावा दिया है। चुनाव में उम्मीदवारों का चयन जाति के आधार पर होता है। जिससे एक सुदृढ़ प्रजातंत्र की स्थापना नहीं हो पाती।

जाति-व्यवस्था में परितर्वन के कारक

औद्योगीकरण-औद्योगीकरण ने मुख्य रूप से जाति व्यवस्था के पेशों पर लगे प्रतिबंधों को परिवर्तित किया है। व्यावसायिक गतिशीलता बढ़ी है। पाश्चात्य शिक्षा अंग्रेजों के आने से पहले भारतवर्ष में प्रचलित शिक्षा, रूढ़िवादी तथा धर्म प्रधान थी जो प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से जाति प्रथा का समर्थन करती थी। अंग्रेजों ने भारतवर्ष में धर्म निरपेक्ष शिक्षा का प्रचलन किया जिसके माध्यम से हमारा सम्पर्क दुनिया से बढ़ता गया। पेशों की बहुलता-प्रौद्योगिक उन्नति के फलस्वरूप न केवल परंपरागत अर्थव्यवस्था में परिवर्तन हुआ बल्कि नये पेशों का जन्म हुआ जिसमें जातीय योग्यता की नहीं बल्कि व्यक्गित योग्यता की आवश्यकता होती है। धन का महत्व-आधुनिक समय में जाति से अधिक धन का महत्व है। फलतः हर जाति के सदस्य आज अपनी योग्यता, शिक्षा के आधार पर अधिकाधिक धन कमाते हैं और उसी के बल पर सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। यातायात और संचार के साधनों में उन्नति-यातायात के साध नों की उन्नति होने से एक ओर भारत में सामाजिक गतिशीलता बढ़ी दूसरी ओर नये नगरों, उद्योगों, व्यवसायों की भी उत्पत्ति और विकास होता गया परिणाम स्वरूप विभिन्न धर्म, जाति, देश के लोगों का पारस्परिक सम्पर्क और विचार-विनिमय का क्षेत्र बढ़ता जा रहा है। साथ-साथ यात्रा करने से छुआछूत के विचार शिथिल होते जा रहे हैं। सामाजिक एवम् धार्मिक आंदोलन कुछ सामाजिक एवम् धार्मिक आंदोलन कुछ सामाजिक एवम् धार्मिक आंदोलनों ने भी जाति व्यवस्था को काफी धक्का पहुँचाया है। आर्य समाज, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज द्वारा आयोजित आंदोलनों ने जाति व्यवस्था के अन्तर्गत छुआछूत, भेदभाव तथा ब्राह्मणों

की कट्टरता का घोर विरोध किया जिससे जाति व्यवस्था की दृढ़ता सरकार की ओर से अनेक प्रयत्न हुए हैं। हिन्दू विवाह वैधकरण अधिनियिम 1949, विशेष विवाह अधिनियम 1954, अस्पृश्यता अपराध अधिनियम 1955 बनाये गए इन सरकारी प्रयत्नों ने जाति प्रथा की दृढ़ता को काफी दुर्बल बना दिया है।

जाति-व्यवस्था की वर्तमान संरचना

अनेक परिवर्तनों के बावजूद भी भारत में जाति व्यवस्था का न तो विघटन ही हुआ है और न ही यह समाप्त हो रही है। शहरी और ग्रामीण दोनों समुदायों में जाति एक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था है।

प्रश्न है कि जाति व्यवस्था की वर्तमान संरचना क्या है, क्या जाति-व्यवस्थ परिवर्तित हो रही है या कमजोर हो रही है या विघटित हो रही है, इस संदर्भ में दो विचार हैं। एक दृष्टिकोण के अनुसार जाति-व्यवस्था में तेजी से परिवर्ततन हो रहा है, और यह कमजोर हो रही है। यद्यपि न तो इसका विघटन किया जा रहा है और न ही समाप्त किया जा रहा है। इस विचारधारा में डी. एन. मजूमदार कुप्पूस्वामी, कालीप्रसाद, मैक्स वेबर तथा 1980-90 की अवधि के विद्वान आर. के. मुखर्जी, ई. जे मिलर और एम. एन. श्रीनिवास सम्मिलित हैं। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि जाति व्यवस्था में परिवर्तन बहुत मन्द गति से हो रहा है इस विचारधारा में आई.पी. देसाई, धुर्ये, नर्मदेश्वर प्रसाद, कापड़िया जैसे विद्वान और वर्तमान के विद्वान दामले, ड्यूमोन्ट, आन्द्रे बेतेइ, योगेन्द्र सिंह, एस. सी. दूबे, टी. एन. मदान हैं।

जाति व्यवस्था में किस तेजी से परिवर्तन आया है, इसकी विवेचना करते हुए डी. एन. मजूमदार ने जातियों के जुड़ने, विखण्डन तथा जनजातियों के आत्मीकरण की प्रक्रियाओं की चर्चा की। कालीप्रसाद, और कुप्पुस्वामी ने जाति प्रथा के मौलिक परिवर्तनों की ओर संकेत किया, उन्होंने अपने अध्ययनों के दौरान यह पाया कि जाति में दरारें घट रही हैं। राम कृष्ण मुखर्जी ने लिखा है कि जाति परिवर्तन की गत्यात्मकता के आर्थिक पक्ष जाति की व्यावसायिक विशिष्टता से संबद्ध है और सामाजिक पक्ष उच्च्च जातियों के रीति-रिवाजों को अपनाने तथा अपवित्रता वाले अस्वच्छ कार्यों को छोड़ने से सम्बद्ध है। इन दोनों पहलुओं में परिवर्तन मिलते हैं। और यही परिवर्तन जाति-व्यवस्था में परिवर्तनों की पृष्ठभूमि प्रदान करते हैं। इन परिवर्तनों से उच्च्च और निम्न जातियों में संघर्ष बढ़ गया है। एम. एन श्रीनिवास का कहना है कि जातियों के बीच परस्पर अधिकार व कर्तव्य समाप्त होते जा रहे हैं। संस्कृतिकरण एवं पश्चिमीकरण के कारण भी परिवर्तन आ रहा है।

दूसरे दृष्टिकोण वाले विद्वान जिनके अनुसार जाति-व्यवस्था में परिवर्तन धीरे-धीरे हो रहा है तथा कुछ लक्षणों में परिवर्तन तो सतही ही हुआ है। धुर्ये का विचार था कि जाति व्यवस्था ने अपने कुछ लक्षणों को त्याग दिया है उनका कहना है कि जाति अब व्यक्ति के व्यवसाय को निर्धारित नहीं करती परन्तु उस क्षेत्र का पुरानी शक्ति के साथ निर्धारण करती है जिसमें से व्यक्ति को जीवन साथी का चुनाव करना है। घुर्ये यह भी कहा कि यद्यपि जाति अब न्याय प्रदान करने वाली इकाई नहीं रही है परन्तु उसकी अपने सदस्यों पर पकड़ समाप्त नहीं हुई है। क्योंकि वे अब भी जाति के मत से ही नियंत्रित होते हैं। घुर्य का विचार था कि जाति-व्यवस्था की सामाजिक जीवन में कार्यशक्ति अब भी उतनी प्रबल है जितनी पहले थी। नर्मदेश्वर प्रसाद 1956 का कहना है कि जाति के प्रकार्यो का दो स्तरों पर विश्लेषण किया जा सकता है संस्कार तथा विचारधारा। उन्होंने पाया कि दोनों स्तरों पर जाति के परिवर्तन हो रहे हैं। उसके बावजूद जाति-व्यवस्था अब भी पहले के समान महत्वपूर्ण है। व्यवस्था के तो परिवर्तन हो रहे हैं परन्तु व्यवथा के विभिन्न लक्षणों की संक्रमणकारी प्रवृत्ति का अध्ययन किया। जाति पंचायत, सहभोज निषेध उत्सवी पवित्रता तथा अन्तः विवाह। उनकी मान्यता थी कि जातिगत निषेधों को स्वीकृति अब भी मिलती है।

ड्यूमोन्ट (Homo Hieratichicus 1971) में स्पष्ट किया है कि जाति-व्यवस्था एक समग्र ढाँचे के रूप में नहीं बदली है, समाज में परिवर्तन हुआ है न कि जाति में। जो परिवर्तन हुआ है वह केवल यह कि जातियों के बीच जो परंपरागत परस्पर निर्भरता थी उसका स्थान अब अवैध गुटों द्वारा सार्वभौमिक रूप से ले लिया गया है जो एक दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा में लिप्त है। ड्यूमोन्ट ने इसे जाति का यथार्थीकरण (Substantialisation) करा है। आन्द्रे बेतेई 1977 ने भी जाति में पाये जाने वाले परिवर्तनों की भी व्याख्या की है। उदाहरण के लिए संरचनात्मक दूरी जीवन शैली में सहभोज संबंधों में अन्तः विवाह में इत्यादि। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जाति व्यवस्था के कुछ पक्षों में परिवर्तन की गति तेज है तो कुछ में धीमी।

जाति का भविष्य

जाति-व्यवस्था में परिवर्तन निरंतर और नियमित रूप से हो रहे हैं। किन्तु सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए जाति व्यवस्था ज्यों कि त्यों बनी हुई है। जाति व्यवस्था के भविष्य के विषय में प्रगतिशील हिन्दू तीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं।

ऐसे लोग हैं जो जाति को बुराई मानते हैं और उनका उन्मूलन चाहते हैं।

दूसरे वे हैं जो यह सोचते हैं कि जाति का पतन हो चुका है। और परंपरागत चार व्यवस्थाओं को पुर्नस्थापित करने की आवश्यकता है। इस विचारधारा के प्रबल समर्थक महात्मा गाँधी थे।

ऐसे लोग भी है जो जाति-व्यवस्था को जारी रखना चाहते हैं किन्तु बिल्कुल अलग ढंग से इसे पुर्नस्थापित करना चाहते हैं।

ए. जे. टॉयनबी (A. J. Toynbee) टी. एन. माईल (T. N. Marshall) जैसे विद्वानों ने इन तीनों विचारधाराओं का मूल्यांकन किया है गाँधी जी विचारों का विवेचन करते हुए मानते हैं कि समाज की चार व्यवस्थाओं में विभाजन की वापसी अव्यावहारिक है और यदि इसको लागू भी कर लिया जाए तब भी इससे किसी लाभप्रद उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकेगी।

यदि दूसरा दृष्टिकोण लिया जाए कि उप-जातियों को मिलाकर बड़ी जाति में सम्मिलित कर जाति का धीरे-धीरे उन्मूलन कर दिया जाए तो विद्वानों का कहना है कि इसके घातक परिणाम होंगे क्योंकि इससे वह अपनी अलगपन संबंधी आन्तरिक भावनाओं को अपने साथ बनाए रखेंगे। इससे जातिवाद की भावनाओं का उदय होता है।

तीसरे दृष्टिकोण के अनुसार जाति-व्यवस्था को तत्काल ही समाप्त कर दिया जाना चाहिए। घुर्ये ने इस दृष्टिकोण का समर्थन किया है। पिछले कुछ दशकों में जाति-व्यवस्था के विरूद्ध अनेक विधान पारित हो चुके हैं। उसके बावजूद भी बुराईयां दूर नहीं हो पायी है। डी. एन. मजूमदार का कहना है कि जाति-व्यवस्था के हानिकारक पक्षों को समापत कर दिया जाना चाहिए न कि समूची व्यवस्था को।

प्रश्न उठता है कि जाति को किस प्रकार कमजोर किया जा सकता है। इस संबंध मे कुछ उपाय इस प्रकार से सुझाए जा सकते हैं–(i) अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन मिलना चाहिये। (ii) युवक-युवतियों के लिए मनोरंजन केन्द्रों की स्थापना होनी चाहिए (iii) जाति और उपजाति को नाम के साथ जोड़ने की प्रथा समाप्त होनी चाहिए (iv) राजनीतिक उद्देश्यों के लिए जातिगत शोषण नहीं होना चाहिए। (v) ब्रह्मणों को पुरोहित सेवाओं के क्षेत्र के एकाधिकार की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए।

प्रश्न है कि क्या इन उपायों से जाति-व्यवस्था कमजोर होगी। शायद नहीं। क्योंकि मण्डल आयोग की

NOTES

सिफारिशें करने संबंधी अपने निर्णय के उच्चतम न्यायालय ने भी स्पष्ट किया कि आरक्षण का आधार लागू केवल जाति ही होगा। हैराल्ड गुल्ड (Harold gould, 1988) के अनुसार आधुनिकता की ओर अग्रसर होते भारतीय समाज में जाति के कार्यों का अर्जित संरचना के आधार पर तीन स्तरों पर परीक्षण किया जा सकता है। राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक। राजनैतिक स्तर पर गांवों और शहरों दोनों में जाति, सम्प्रदायवाद और राजनैतिक क्रिया-कलाप सब एक दूसरे के निकट से जुड़े हैं। इसलिए जाति शोषण सभी राजनैतिक स्तरों पर होता रहेगा। आर्थिक स्तर पर यद्यपि मजदूरों की आर्थिक गतिशीलता उनकी कार्यशीलता पर आधारित होती है लेकिन गांवों में आज भी उनकी प्रस्थिति, विद्यमान जाति संरचना और अन्तर्जातीय संबंधों पर निर्भर होती है। सामाजिक स्तर पर जातियां महत्वपूर्ण स्थान लेती जा रही हैं। जीवन शैली, समूहों (जातियों) की सम्मान की स्थिति जिनमें विवाह महत्वपूर्ण स्थान लेती जा रही है, महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। यद्यपि जाति के पुराने रीति-रिवाज समाप्त होते जा रहे हैं लेकिन जाति अन्त: विवाह अब भी सुरक्षित है। अतः कहा जा सकता है कि आने वाले वर्षों में भी जाति-व्यवस्था यथार्थ रूप में बनी रहेगी।

ekMîy&7

नातेदारी

मानव समाज में अकेला नहीं होता। जन्म से मृत्यु तक वह अनेक व्यक्तियों से घिरा होता है, अर्थात् उसका सम्बन्ध एकाधिक व्यक्तियों से होता है। परन्तु इनमें से सबसे महत्वपूर्ण सम्बन्ध उन व्यक्तियों के साथ होता है, जो कि विवाह बन्धन और रक्त सम्बन्ध के आधार पर सम्बन्धित हैं। इनमें भी निकट या दूर के, घनिष्ठ तथा अ-घनिष्ठ अनेक प्रकार के सम्बन्धियों का समावेश होता है। यह सम्बन्ध अन्तः क्रिया के परिणाम है। इस प्रकार सामाजिक अन्तः क्रिया के फलस्वरूप जो विशिष्ट तथा समाज द्वारा मान्यता प्राप्त सुव्यवस्थित संबंध-श्रृंखला एक सामाजिक प्राणी को अन्य व्यक्तियों के साथ संयुक्त करती है उसे नातेदारी व्यवस्था कहते हैं।

एक तरफ से तो नातेदारी बड़ी सरल व सीधी सी बात लगती है कि जो एक घर परिवार के हैं वे आपस में नातेदार है और जिन परिवारों में उनका विवाह होता है, उनके सदस्य रिश्तेदार कहलाते हैं। परन्तु जब हम अन्य समाजों से तुलना करते हैं तो हमें पता लगता है हमारी सांस्कृतिक धारणाएँ पड़ौसी समाज की धारणाओं से अलग हैं या बिल्कुल विपरीत हैं। जबकि हमारी सांस्कृतिक परम्परा में भाई-बहिन के बीच विवाह वर्जित है। यह स्पष्टीकरण आगे दिया गया है।

स्व-प्रगति की जाँच करें :

1. जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति से सम्बन्धित परम्परागत सिद्धान्त क्या हैं?
2. जाति-व्यवस्था की वर्तमान संरचना के सम्बन्ध में ड्यूमोन्ट ने जो विचार प्रस्तुत किये हैं उसे स्पष्ट करें।
3. नातेदारी का प्रत्येक समाज में क्या महत्व है?

व्यक्ति स्वयं समाज में धर्म, जाति, परिवार सब से जुड़ा होता है। कोई भी समाज, नातेदारी, परिवार विवाह रूपी संस्थाओं के बिना जीवित नहीं रह सकता है। कोई भी समाज और कोई भी व्यक्ति बंधु विहीन नहीं है। परिवार के रूप में पति-पत्नी, बच्चे और अन्य रक्त संबंधी एक साथ रहते है। मानवीय और संरचनात्मक दोनों ही दृष्टिकोणों से नातेदारी, विवाह और परिवार समाजों में सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक विकास की असमानताओं के रहते हुए भी केन्द्र बिन्दु बनी हुई है।

सांस्कृतिक दृष्टि से नातेदारी और विवाह का संबंध संस्तरण, परिवार और सम्पत्ति के हस्तान्तरण आदि से है। संरचनात्मक दृष्टि से नातेदारी समूहों को जाति, धर्म आदि की प्रकृति और विभिन्न प्रकार के संगठनों के रूप एवं उनके संबंधों और अन्तनिर्भरता के संदर्भ में समझा जा सकता है।

अंग्रेजी भाषा के Kinship शब्द का हिन्दी में अर्थ सगोत्रता, बन्धुत्व, नातेदारी एवं स्वजनत्रता से है। नातेदारी एवं विवाह जीवन के आधारभूत तथ्य हैं। यौन इच्छा विवाह को जन्म देती है और विवाह परिवार एवं नातेदारी को उत्पन्न करता है।

नातेदारी का प्रत्येक समाज में बहुत महत्व है। संगमन, गर्भावस्था, पितृत्व, समाजीकरण, सहोदरता आदि जीवन के मूलभूत तथ्यों के साथ मानव व्यवहार का अध्ययन ही नातेदारी का अध्ययन है। मनुष्य जन्म के बाद से ही अनेक लोगों से सम्बन्धित हो जाता है। इन सम्बन्धों में विवाह के आधार पर बने सम्बन्ध अधिक स्थायी और घनिष्ठ होते हैं। जिन विशिष्ट सामाजिक सम्बन्धों द्वारा मनुष्य बंधे होते हैं और जो सम्बन्ध समाज द्वारा स्वीकृत होते हैं इन्हें हम नातेदारी के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं।

bdkÃ&10

ukrsnkjh dk vFkZ ifjHkk"kk] çdkj ukrsnkjh dh jhfr;kW ifjgkj

नातेदारी शब्द के कई अर्थ है। नातेदारी शब्द को संदर्भो-जैविक, व्यवहार सम्बन्धी और भाषा सम्बन्ध में प्रयुक्त किया जाता है। अतः सर्वप्रथम हमें इन तीन संदर्भो को अलग-अलग करके देखना चाहिए। जैविक सम्बन्धों को लेकर मनुष्य में दो प्रकार के सम्बन्ध हो सकते है। प्रथम अनुवांशिकता से सम्बन्धि त और दूसरा यौन सम्बन्धों से संबंधित होता है। इन सामाजिक संबंधों द्वारा मनुष्य एक दूसरे से जुड़ता है साथ ही ये संबंध समाज द्वारा स्वीकृत होते हैं, हम उन्हें नातेदारी सम्बन्ध कहते हैं।

नातेदारी का अर्थ निम्नलिखित प्रमुख समाजशास्त्रियों ने अपनी परिभाषाओं के द्वारा स्पष्ट किया।

चार्ल्स विनिक ने लिखा है कि "नातेदारी व्यवस्था में समाज द्वारा मान्यता प्राप्त वे सम्बन्ध आते हैं, जो कि माने हुए एवं रक्त सम्बन्धों पर आधारित हो।" लेवी स्ट्रास के अनुसार, "नातेदारी व्यवस्था वंश अथवा रक्त सम्बन्धी कर्म विषयक सूत्रों से निर्मित नहीं होती जो कि व्यक्ति को मिलती है, यह मानव चेतना में विद्यमान रहती है, यह विचारों की निरंकुश प्रणाली है, वास्तविक स्थिति का स्वतः विकास नहीं है।" आपका मानना है कि यह रक्त सम्बन्ध पर आधारित नहीं है। इसमें समाज की मान्यता अत्यावश्यक है। एक पुरुष और स्त्री बिना विवाह किये सन्तानोत्पत्ति करते हैं, परन्तु समाज की मान्यता प्राप्त नहीं होने के कारण स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी नहीं कहलाएंगे और उनकी सन्तान को भी अवैध सन्तान कहा जाएगा। इसी प्रकार के विचार मुरडॉक ने भी नातेदारी के संबंध में व्यक्त किए हैं। हॉबल के अनुसार, "नातेदारी व्यवस्था प्रस्थिति और भूमिकाओं की जटिल प्रथाएँ हैं, जो सम्बन्धियों के व्यवहारों को संचालित करती है।" रिवर्स का कहना है कि, "बन्धुत्व की मेरी परिभाषा उस सम्बन्ध से है, जो वंशावलियों के माध्यम से निर्धारित तथा वर्णित की जा सकती है।"

रैडक्लिफ ब्राउन के अनुसार, "नातेदारी सामाजिक उद्देश्यों के लिए स्वीकृत वंश सम्बन्ध है जो कि सामाजिक सम्बन्धों के परम्परात्मक संबंधों का आधार है।" रॉबिन फॉक्स का कहना है, "नातेदारी केवल स्वजन अर्थात् वास्तविक अथवा कल्पित समरक्तता वाले व्यक्तियों के मध्य सम्बन्ध है।" मजूमदार एवं मदान ने लिखा है कि, "सभी समाजों में मनुष्य अनेक प्रकार के बन्ध नों द्वारा आपस में समूहों में बंधे हुए होते हैं। इन बन्धनों में सबसे अधिक सार्वभौमिक तथा आध भूत बंधन वह है जो सन्तानोत्पत्ति पर आधारित होता है, संतानोत्पत्ति मानव की स्वाभाविक इच्छा है और इससे निर्मित हुए बंधन नातेदारी कहलाते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि नातेदारी व्यवस्था समाज द्वारा मान्यता प्राप्त सामाजिक व्यवस्था है जो मानव चेतना में विद्यमान होती है। यह विवाह मान्य संबंध तथा वंशावलियों के द्वारा निर्धारित होती है। नातेदारी व्यवस्था को समझने के लिए इसकी विशेषताओं का अध्ययन करना आवश्यक है, जो निम्नलिखित प्रकार से है-

1. यह समाज द्वारा स्वीकृत सम्बन्धों की व्यवस्था है।

2. यह व्यवस्था संस्कृति व अन्य नियमों से संचालित होती है, साथ ही यह मानव चेतना में विद्यमान है। प्रजनन और वंशावलियों के द्वारा निर्धारित और वर्णित की जाती है।
3. यह प्रस्थिति और भूमिकाओं की जटिल प्रथाएँ हैं।
4. इसमें सम्बन्धों के आधार निम्नलिखित हैं जिन्हें समाज द्वारा मान्यता प्राप्त होने चाहिए-

रक्त सम्बन्ध, विवाह सम्बन्ध, गोद सम्बन्ध

समाज में नातेदारी के अन्तर्गत उन व्यक्तियों को सम्मिलित करते हैं जिन से हमारा सम्बन्ध वंशावली के आधार पर होता है और वंशावली सम्बन्ध परिवार से पैदा होते है एवं परिवार पर निर्भर करते हैं। ऐसे सम्बन्धों को समाज की स्वीकृत आवश्यक है। कभी-कभी प्राणीशास्त्रीय रूप से सम्बद्ध न होने पर भी यदि उन सम्बन्धों को समाज ने स्वीकार कर लिया तो वे नातेदार माने जाते हैं। उदाहरणतः एक दम्पत्ति के सन्तान नहीं होने पर वह किसी अन्य की सन्तान को गोद ले लेते हैं तो वह सन्तान इस नए परिवार में सारे अधिकार समाज की मान्यता के अनुसार प्राप्त कर लेती है तथा पहले वाले परिवार में सारे, अधिकार समाप्त हो जाते हैं। मदान व मजूमदार ने उदारहण दिया है कि घोड़ा जनजाति में बच्चे का प्राणीशास्त्रीय पिता कोई भी हो सकता है परन्तु सामाजिक रूप से, वह व्यक्ति पिता माना जाएगा जिसने "परसुतपियी" संस्कार किया हो। अतः सामाजिक उद्देश्य के लिए रक्त या प्राणीशास्त्रीय सम्बन्ध नाते दारी में जरूरी नहीं है।

नातेदारी के भेद

सामाजिक संबंधों में नातेदारी के सार्वभौमिक एवं अन्तर्गत सम्बन्ध वे हैं जो कि प्रजनन पर आधारित है। प्रजनन की कामना दो प्रकार के संबंधों को जन्म देती है रक्त सम्बन्ध और विवाह सम्बन्ध। रेमण्ड फर्थ के अनुसार, "यह एक छड़ है जिसके सहारे प्रत्येक व्यक्ति जीवन भर रहता है।"

जब किसी भी समूह में लोग रक्त संबंध से या विवाह जन्य संबंध से जुड़े हों तो इस जुड़ेपन को हमारी भाषा में नाते-रिश्ते का जुड़ाव कहा जाता है। यह जुड़ाव मनमाने ढंग का नहीं होता है। इसका अपना विन्यास होता है जिसके पीछे कुछ नियम होते हैं। इन्हीं नियमों को नातेदारी पद्धति या नातेदारी व्यवस्था का नाम दे दिया जाता है। समाजशास्त्र में विवाह सम्बन्धों को व्यक्त करने के लिए समरक्तता (Consanguinity) का प्रयोग किया जाता है। इनका वर्णन निम्नलिखित है

नाते-रिश्तेदारों को मोटे तौर पर दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है

1. विवाह सम्बन्धी नातेदारी (Affinal Kinship)
2. समरक्त सम्बन्धी नातेदारी (Consanguineous Kinship)

1. विवाह सम्बन्धी नातेदारी (Affinal Kinship)

यह पति-पत्नी यौन सम्बन्धों पर आधारित हैं तो उनका वैवाहिक सम्बन्ध सामाजिक या कानूनी आधर पर मान्य होना चाहिए। इसे विवाह सम्बन्धी नातेदारी कहते हैं और इससे सम्बन्धित सम्बन्धियों को विवाह सम्बन्धी स्वजन कहते हैं। विवाह पश्चात एक पुरूष एक पति ही नहीं बनता, बल्कि बहनोई, दामाद, जीजा, फूफा, मौसा, साढू आदि भी बन जाता है। उसी प्रकार एक स्त्री विवाह के पश्चात् पत्नी बनने के अलावा पुत्र-वधु, भाभी, देवरानी जेठानी, चाची, मौसी, सलेज आदि भी बन जाती है। विवाह के द्वारा दो व्यक्ति तथा दो परिवार और उसके सदस्य परस्पर संबंधों में बंध जाते हैं जैसे पति-

पत्नी, दामाद-ससुर, जीजा-साला, मामा-भान्जा, ससुर-पुत्रवधु, देवर-भाभी, चाची-भतीजा, ननद-भाभी, देवरानी-जेठानी आदि। इस प्रकार के विवाह द्वारा सम्बद्ध समस्त सम्बन्धियों या नातेदारी को विवाह सम्बन्धी कहते हैं।

2. समरक्त सम्बन्धी नातेदारी (Consanguineous Kinship)

प्रजनन के आधार पर उत्पन्न होने वाले सामाजिक सम्बन्धों में एक प्रकार वह है जो रक्त या समरक्त के आधार पर बनता है, जैसे माता-पिता एवं सन्तानों के बीच का संबंध। सन्तान माता-पिता से वाहकाणु (Genes) ग्रहण करती हैं और ऐसी मान्यता है कि उनमें समान रक्त पाया जाता है इसी आधार पर एक ही माता-पिता की सन्तानों में रक्त संबंध होता है। एक व्यक्ति के माता-पिता, भाई-बहिन, दादा-दादी, बुआ, चाचा आदि रक्त संबंधी हैं। रक्त सम्बन्धियों के बीच सदा ही प्राणी शास्त्रीय सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। इनके बीच काल्पनिक संबंध भी हो सकता है। इसके अन्तर्गत किसी को गोद लेने अथवा अपना लेने से यह काल्पनिक नातेदार बन जाते हैं। इन संबंधों पर समाज की स्वीकृति अनिवार्य होती है। उदाहरण के लिए पिता-पुत्र का संबंध रक्त पर आधारित होता है।

लेकिन यह भी सम्भव है कि पुत्र गोद लिया हुआ हो। अतः यह रक्त सम्बन्धी नातेदारी वास्तविक न होकर दत्तक हुई। इन संबंधों को समाज की स्वीकृति होती है और यह वास्तविक सम्बन्धी की तरह ही माने जाते हैं।

नातेदारी की श्रेणियाँ (Categories of Kinship)

समाज के व्यक्ति अनेक सम्बन्धियों से संबंधित होता है। ये सम्बन्ध किसी से कम तथा किसी से अधिक निकटता के होते हैं। सम्पर्क, घनिष्ठता, निकटता एवं आत्मीयता के आधार पर विवाह सम्बन्ध, रक्त सम्बन्ध एवं काल्पनिक सम्बन्धों के स्वरूपों के आधार पर नातेदारी को निम्न श्रेणियों में विभाजित किया है-

1. प्राथमिक सम्बन्धी (Primary Relations)
2. द्वितीयक सम्बन्धी (Secondary Relations)
3. तृतीयक सम्बन्धी (Teritiary Relations)
4. दूर के सम्बन्धी (Distant Relations)

प्राथमिक नातेदारी (Primary Relations)

इसके अन्तर्गत वे सम्बन्धी या नातेदारी आते हैं, जो एक दूसरे से प्रत्यक्ष और घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होते है तथा जिनके साथ रक्त या विवाह के आधार पर नातेदारी होती है। मुरडॉक ने बताया है कि एक परिवार में आठ प्रकार के प्राथमिक सम्बन्धी हो सकते हैं, जिनमें सात रक्त सम्बन्धी तथा एक विवाह सम्बन्धी होता है। पिता-पुत्र, पिता-पुत्री, माता-पुत्र, माता-पुत्री, भाई-बहन, बहन-बहन, भाई-भाई ये सभी रक्त सम्बन्धी है जबकि पति-पत्नी विवाह सम्बन्धी है।

द्वितीयक सम्बन्धी (Secondary Relations)

द्वितीयक सम्बन्ध वे हैं कि जो प्राथमिक सम्बन्धियों के प्राथमिक सम्बन्धी है। एक व्यक्ति का दादा उसका

द्वितीयक सम्बन्धी है क्योंकि दादा से पोते का सम्बन्ध पिता के द्वारा है पिता तथा पिता के पिता (दादा) आपस में प्राथमिक सम्बन्धी है। रक्त सम्बन्धी द्वितीयक रिश्तेदार के और उदाहरण है-चाचा भतीजा, मामा, नाना, नानी, पोता, पोती, बुआ आदि। विवाह द्वारा भी द्वितीयक सम्बन्ध होते हैं, जैसे-सास, ससुर, साला, बहनोई, साली, जीजा, देवर, भाभी, आदि। मुरडॉक ने 33 प्रकार के द्वितीयक सम्बन्धों को उदाहरण के रूप में व्यक्त किया है।

तृतीयक सम्बन्धी (Tertiary Relations)

इस श्रेणी के अन्तर्गत वे सम्बन्ध हैं जो हमारे द्वितीयक सम्बन्धियों के प्राथमिक सम्बन्धी हैं या हमारे प्राथमिक सम्बन्धियों के द्वितीयक सम्बन्धी हैं। पितामह हमारे तृतीयक सम्बन्धी है क्योंकि हमारे पिता प्राथमिक सम्बन्धी हैं और पिता के पिता हमारे द्वितीयक सम्बन्धी हैं अतः दादा के पिता हमारे तृतीयक सम्बन्धी होंगे। इसी तरह साले का लड़का हमारा तृतीयक सम्बन्धी होगा, क्योंकि साला हमारा द्वितीयक सम्बन्धी है। मुरडॉक ने कुल 141 प्रकार के तृतीयक सम्बन्धी बताये हैं।

दूर से सम्बन्ध (Distant Relations)

तृतीयक सम्बन्धी के प्राथमिक, द्वितीयक आदि सम्बन्धी कर्ता के दूर के सम्बन्धी कहलाते हैं। मुरडॉक ने इन्हें दूर के सम्बन्धियों की श्रेणी में इसलिए रखा है क्योंकि इनमें कर्तव्य और अधिकार के संदर्भ में पारस्परिक सम्बन्ध, अन्तः क्रिया आदि बहुत कम तथा प्रभावहीन सी होती है। त्रिलोकी नाथ मदान ने कश्मीर के ग्रामीण क्षेत्रों में स्वजन व्यवस्था का अध्ययन करते हुए उन लोगों को प्राथमिक सम्बन्धियों के अन्तर्गगत रखा जो चूल्हे से पका भोजन करते हैं। द्वितीयक सम्बन्धियों के अन्तर्गत कुटुम्ब की श्रेणी में परिवार के सदस्यों को लिया। तृतीयक सम्बन्धों में कुल के सदस्यों को रखा जाता है, जो कई कुटुम्ब मिलाकर कुल बनाते हैं। कुल के सदस्य रिश्ते में एक-दूसरे से दूर होते हैं।

सम्बन्ध संज्ञाएँ (Kinship Terms)

एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों के सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने के लिए अलग-अलग तरह के सम्बन्धों के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया जाता है अर्थात् नातेदारी के सम्बोधन के लिए पद होते हैं। जो व्यक्ति से सम्बन्धित समूह या समाज के लिए निश्चित अर्थ रखते हैं। मजूमदार और मदान के अनुसार, "सम्बन्ध सूचक शब्द ऐसी संज्ञाएँ होती हैं, जिनका प्रयोग विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध के उल्लेख के लिए किया जाता है। "हॉबल के अनुसार, संज्ञाओं के समुच्चय जो नातेदारी व्यवस्था में विभिन्न प्रस्थितियों के लिए प्रयुक्त किऐ जाते हैं, नातेदारी संज्ञाएँ कहलाती है। नातेदारी संज्ञाएँ-नाते रिश्ते व्यक्त करने के लिए लोगों द्वारा प्रयुक्त शब्दों की सूची के अध्यन से नातेदारी पद्धति के स्वरूप का पता लगता है। इस सूची में आए शब्दों को नातेदारी शब्दावली या नातेदारी संज्ञाएँ कहते हैं। व्यक्ति अपने नाते-रिश्तेदारों को संबोधित करने अथवा व्यक्त करने के लिए जिन संज्ञाओं का उपयोग करते हैं को नातेदारी संज्ञाएँ कहते हैं। अलग-अलग समाजों में अलग-अलग परिस्थितयों तथा प्रथाओं के कारण संज्ञाओं में अन्तर मिलते हैं। अपने इर्द-गिर्द की दुनिया को समझने के लिए लोग नातेदारी शब्दावली की श्रेणियाँ बनाने के लिए काम में लाते हैं। इन श्रेणियों को लोग अलंकार की तरह भी प्रयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त नातेदारी के क्षेत्र में नियमों एवं मूल्यों को भी शब्दावली के अध्ययन से व्यक्ति किया जाता है जैसे दक्षिण भारत में किसी क्षेत्र में मामा की बेटी से विवाह की अधिमान्यता दी जाती है तो कहीं-कहीं इसे निर्देशन दिया जाता है 19वीं शताब्दी में पहली बार मार्गन ने विश्व में प्रचलित नातेदारी शब्दावली पर व्यवस्थित विधि से वैज्ञानिक

अध्ययन किया और निष्कर्ष निकाला कि नातेदारी शब्दावली को सामान्यतः दो भागों में बाँट सकते हैं-

1. वर्गीकृत संज्ञाएँ (Classified Terms)
2. विशिष्ट संज्ञाएँ (Particulars Terms)

वर्गीकृत संज्ञाएँ (Classified Terms)

इस प्रणाली के अन्तर्गत अनेक नाते रिश्तेदारों को एक ही वर्ग के अन्तर्गत मान लिया जाता है और उन सबको एक ही शब्द से सम्बोधित किया जाता है। जैसे कराडजेरी समाज में "ताबुलू" शब्द का प्रयोग केवल अपने पिता के लिए नहीं वरन् पिता के भाई (चाचा, ताऊ) के लिए भी करते हैं। आसाम के सेमानागा जनजातिय "अजा" शब्द का प्रयोग माँ, चाची, ताई, मौसी, सभी के लिए काम में आता है। कूकी लोगों में "हेपू" शब्द का प्रयोग दादा, नाना, मामा, ससुर, ममेरा भाई, पत्नी के भाई, साले के लड़के आदि के लिए प्रयोग में आता है। यहाँ तक कि आधुनिक समाजों में भी वर्गीकृत शब्दावली व्यवस्था पायी जाती है। उदाहरण के लिए अंग्रेजी में अंकल शब्द का प्रयोग चाचा, फूफा, मामा, मौसा के लिए तथा कजिन प्रयोग इनकी सन्तानों के साथ भाई-बहन का बोध कराता है।

विशिष्ट संज्ञाएँ (Particulars Terms)

यह यथार्थ सम्बन्ध सूचक होते हैं और केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होते हैं। जिनके संदर्भ में या जिनको सम्बोधित करते हुए बात की जाती है। उदाहरणत अगर हम माँ शब्द का प्रयोग करते हैं तो उससे केवल एक विशिष्ट सम्बन्धी का ही बोध होता है। इसी प्रकार पिता, मौसा, चाचा, मामा आदि विशिष्ट सम्बन्ध हैं।

क्रोबर का नातेदारी शब्दावली के अध्ययन में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इन्होंने आठ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जिनके द्वारा एक नातेदार के नातेदारी कार्यों को दूसरे से अलग किया जा सके।

ये आठ तत्व निम्न हैं-

1. पीढ़ियों में अन्तर
2. समानान्तर नातेदार या वंशानुक्रम नातेदार में अन्तर
3. विवाह और रक्त नातेदार में अन्तर
4. लैंगिक प्रस्थिति में अन्तर
5. उम्र में अन्तर
6. सम्बोधन करने वाले व्यक्ति के लिए लैंगिक प्रस्थिति में अन्तर
7. सम्बोधन करने वाले व्यक्ति के लिए लैंगिक प्रस्थिति में अन्तर
8. नातेदारी को जोड़ने वाले व्यक्ति का जीवित रहना या मृत्यु प्राप्त करना।

नातेदारी की रीतियाँ (Usages of Kinship)

नातेदारी-व्यवस्थाओं के अन्तर्गत अनेक प्रकार के व्यवहार प्रतिमानों (Behaviour Patterns) का भी समावेश होता है हमारे किसी एक व्यक्ति से एक विशेष सम्बन्ध है, परन्तु बात यहीं पर नहीं समाप्त होती है।

इस रिश्ते या सम्बन्ध से सम्बन्धित एक विशेष प्रकार का भी हुआ करता है। उदारहणत अ, ब पति पत्नी है, इस सम्बन्ध के आधार पर उनका व्यवहार का एक विशिष्ट रूप या प्रतिमान होगा। यह संभव नहीं है कि उनका व्यवहार माता-पुत्र के व्यवहार जैसा कुछ रिश्तों का आधार श्रण और सम्मान का होता है, तो कुछ का प्रेम और कुछ का प्रीति का। माता-पिता के साथ सम्बन्ध का आधार प्रेम है, जबकि छोटे भाई-बहनों के साथ सम्बन्ध का आधार प्रीति। जीजा-साली या साले बहनोई के सम्बन्ध में मधुर सम्बन्ध है। अतः स्पष्ट है कि नातेदारी व्यवस्था में दो सम्बन्धियों के बीच का सम्बन्ध किस प्रकार का होगा, इसके विषय में कुछ नियम या रीतियाँ होती हैं, इसी को नातेदारी की रीतियाँ कहते हैं। यहाँ कुछ बहु प्रचलित नातेदारी की रीतियों का उल्लेख है :

परिहार या विमुखता (Avoidance)

इसका अर्थ है कि कुछ सम्बन्धी आपस में विमुखता बरतें, एक-दूसरे से कुछ दूरी बनाये रखने का प्रयत्न करें और पारस्परिक घनिष्ठ प्रकृति की सामाजिक अन्तः क्रिया को टालने का प्रयास करें। इस रीति के अनुसार कई सम्बन्धियों के साथ परिचित रीति से बात करना वर्जित है। कभी-कभी तो वे सम्बन्धी एक-दूसरे को देख भी नहीं सकते, बातचीत नहीं कर सकते, आमने-सामने नहीं आ सकते।

पुत्रवधु और सास ससुर के बीच किसी न किसी प्रकार का परिहार लगभग सभी समाजों में पाया जाता है। भारतीय समाज में बहु से यह आशा की जाती है कि वह अपने पति के पिता (ससुर) तथा बड़े भाईयों अथवा वयोवृद्ध सम्बन्धी के सम्मुख बिना परदे के न जाए और ससुर तथा ज्येष्ठ भाईयों से भी यह आशा की जाती है कि जहाँ तक हो सके वे बहु से बात करने के अवसर टालते रहें। कई समाजों में सास अपने दामाद से घूंघट निकालती है और उससे बात तक नहीं कर सकती है। कई समाज में भाई-बहन परस्पर परिहार का पालन करते हैं। लंका की वेडायड जनजाति में भाई-बहन के बीच परिहार प्रचलित हैं। यहाँ तक कि वे एक ही छत के नीचे नहीं सो सकते एवं साथ साथ भोजन भी नहीं कर सकते। ओस्टयाक जनजाति में जब तक कोई सन्तान पैदा न हो बहू को ससुर के सामने जाने की मनाही है। यदि उनका कहीं सामना हो जाता है तो मुहँ छिपा लेते हैं। जिन सम्बन्धियों में परिहार की मनाही अथवा विमुखता के सम्बन्ध पाए जाते हैं, उनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं-1. भाई-बहिन परिहार, 2. सास-दामाद परिहार, 3. ससुर-दामाद परिहार, 4. ससुर-पुत्रवधू परिहार, 5. ज्येष्ठ एवं छोटे भाई की पत्नी के बीच परिहार 6. स्त्री के पति का पत्नी की बड़ी बहन से परिहार।

आखिर कुछ सम्बन्धियों में परिहार या विमुखता के सम्बन्ध क्यों पाए जाते हैं। इसका उत्तर अनेक विद्वानों ने अलग-अलग मत में व्यक्त किया है-

टॉयलर का मत है कि परिवार का प्रारम्भिक स्वरूप मातृसत्तात्मक था और ऐसे परिवार में दामाद बाहर का व्यक्ति होने से एक अपरिचित व्यक्ति था। अतः उसे अपनी पत्नी के साथ प्रतिबन्धित व्यवहारों का पालन करना पड़ता था। पितृसत्तात्मक परिवार में ससुर-वधू परिहार भी इसी तरह पनपे। लोवी ने स्पष्ट किया है कि परिहार सामाजिक सांस्कृतिक वातावरण एवं मूल्यों से आती है और उसके प्रभाव से घर के सदस्यों को बचाने के लिए परिहार संबंध पनपे हैं। जैसे फेजर का मानना है कि परिहार संबंध यौन संबंध को नियंत्रित करने तथा निकट साहचर्य को रोकने के लिए पनपे हैं। टर्नी हाई परिवार की शान्ति के लिए परिहार को आवश्यक मानते हैं।

रैडक्लिफ ब्राउन का मत है कि समाज में कुछ व्यक्तियों के बीच यदि घनिष्ठता हो तो यह दूसरे लोगों के लिए ईर्ष्या की बात होती है। समाज को सुचारू रूप से चलाने के लिए ऐसी शत्रुता की स्थितियों को न पनपने

देने के लिए ही परिहार प्रथा का प्रचलन हुआ। फ्रायड ने मनोवैज्ञानिक आधार पर परिहार की व्याख्या की है। उनके अनुसार परिहार का उद्देश्य दामाद और सास या वधु और ससुर में पारस्परिक यौन सम्बन्धों आकर्षण को रोकना है।

परिहास या हँसी मजाक के सम्बन्ध (Joking Relations)

नातेदारी की रीतियों में परिहास सम्बन्ध परिहार का बिल्कुल विपरीत रूप है। परिहास दो रिश्तेदारों में परस्पर निकटता लाता है। निश्चित अर्थ में यह दो व्यक्तियों को मधुर सम्पर्क सूत्र में बाँधता है और उन दोनों को एक-दूसरे के साथ हँसी मजाक करने का अधिकार देता है।

परिवार में यौन सम्बन्धी विषयों से बचने का भरसक प्रयत्न किया जाता है, परिहास-सम्बन्ध में हँसी मजाक को उतनी ही छूट रहती है। देवर भाभी, जीजा साली, ननद भाभी, मामा भान्जा, चाचा-भतीजा आदि के बीच विभिन्न समूहों में पाए जाने वाले मधुर सम्बन्ध परिहास सम्बन्ध के उत्तम उदाहरण हैं। ये एक-दूसरे की खिल्ली उड़ाते हैं, सबके सामने एक-दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं। यौन सम्बन्धी हँसी-मजाक त्यौहारों के दिनों में बहुत बढ़ जाता है। हिन्दुओं में होली का त्यौहार इस मामले में उल्लेखनीय है।

रिवर्स का विश्वास है कि परिहास सम्बन्ध की उत्पत्ति फुफेरों-ममेरों में विवाह सम्बन्ध, जो प्रारम्भिक युग में सामान्य था, के कारण हुई। वेस्टरमार्क इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। आपके अनुसार किसी भी संस्था से किसी की उत्पत्ति की कल्पना करना बहुत सरल है परन्तु उसे प्रमाणित करना कठिन है। वेस्टरमार्क का मत है कि जिन व्यक्तियों में परिहास सम्बन्ध होते हैं उनमें पारस्परिक समानता रहती है और उनमें इतनी घनिष्ठता रहती है कि वे कभी एक-दूसरे से विवाह भी कर लेते हैं। जैसे-जीजा साली परिहास, साली विवाह का एवं देवर भाभी परिहास देवर विवाह का सूचक है।

रैडक्लिफ ब्राउन परिहास सम्बन्धी को एक ऐसी मित्रता का प्रतीक मानते हैं जिसे शत्रुतापूर्ण व्यवहार के रूप में व्यक्त किया जाता है। आपसी गाली गलौज, एक-दूसरे के साथ मारपीट आदि दिखावटी शत्रुता है। मामा भान्जे में परिहास सम्बन्ध को विवाह से सम्बन्धित कुलों के बीच सम्भाव्य वैमनस्य को मिटाने का एक साधन माना गया है। चेपल तथा कून के विचार हैं कि परिहास एक प्रेरक कारक है जो सम्बन्धि यों में परस्पर सम्बन्ध बढ़ाता है, उनमें पारस्परिक प्रेम, निकटता तथा अन्तः क्रिया की वृद्धि करता है।

माध्यमिक संबोधन (Teknonymy)

माध्यमिक संबोधन या अनुमानित नातेदारी व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण रीति है। अनेक समाजों में ऐसे नियम हैं जहाँ सम्बन्धी को उसके नाम से पुकारना मना है। उसे सम्बोधित करने के लिए व्यक्ति किसी और सम्बन्धी को माध्यम बना कर पुकारता है। इसीलिए उसे माध्यमिक सम्बोधन कहते हैं। भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में पत्नी अपने पति का नाम नहीं ले सकती है। इस कारण पत्नी अपने पति को सम्बोधन करने के लिए अपने पुत्र या अन्य को माध्यम बना लेती है और उसी के सम्बन्ध नाम से पति को पुकारती है। जैसे-अमुक के पिताजी या अमुक की माँ आदि।

टायलर ने सर्वप्रथम मानवशास्त्रीय साहित्य में माध्यमिक सम्बोधन शब्द का प्रयोग किया है। माध्यमिक सम्बोधन का अंग्रेजी शब्द "टेक्रोनमी" ग्रीक भाषा से बना है। टायलर का मानना है कि माध्यमिक सम्बोध न की रीति मातृसत्तात्मक परिवार से सम्बन्धित है। इन परिवारों में सर्वेसर्वा स्त्री होती थी और पति को एक बाहर का व्यक्ति समझा जाता था जिसके कारण परिवार में उसकी कोई विशेष स्थिति नहीं होती थी। इसीलिए उसे प्राथमिक सम्बन्धियों में सम्मिलित न करके द्वितीय सम्बन्धी के रूप में स्वीकार किया जाता

था। पति सन्तान पैदा करने में हिस्सेदार होता था इसलिए उसे उन बच्चों के माध्यम से पुकारा जाता था जो उसके द्वारा जन्में हैं।

लोवी टायलर के सिद्धान्तों को नहीं मानते है। उनका मानना है अगर मातृसत्तात्मक परिवार इसका कारण है तो पितृसत्तात्मक परिवार में इस प्रथा का प्रचलन नहीं होता। हिन्दू समाज तथा भारत की अनेक जनजातियाँ पितृसत्तात्मक है और उनमें माध्यमिक सम्बोधन की रीति का प्रचलन पाया जाता है।

मातुलेय (Avunculate)

यह सम्बन्ध प्रायः मातृ सत्तात्मक समाजों में पाया जाता है। अनेक समाजों में पिता के स्थान पर मामा की प्रधानता होती है। हॉबल ने इसे परिभाषित करते हुए लिखा है, माता के भाई (मामा) और बहन की सन्तानों (भान्जा भान्जी) के बीच सम्बन्धों की जटिलता मातुलेय कहलाती है। जिन परिवारों में सत्ता पिता के स्थान पर मामा के पास होती है, भान्जे-भान्जी मामा के संरक्षण में रहते हैं। सम्पत्ति मामा से भान्जे को हस्तान्तरित की जाती है और भान्जे पिता की बजाए मामा के लिए कार्य करते हैं। मातुलेय सम्बन्ध के अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। जैसे-होपी और जूनी जनजाति में लड़के के विवाह योग्य होने पर मामा द्वारा उसका विवाह किया जाता है।

पितृश्वश्रेय (Amitate)

यह सम्बन्ध मातुलेय के ठीक विपरीत होते हैं। इसमें पिता की बहन बुआ को प्रधानता दी जाती है। इनमें जो स्थान मामा का मातुलेय समाजों में होता है वही स्थान बुआ का पितृश्वश्रेय समाज में होता है। यह सम्बन्ध प्रायः पितृ सत्तात्मक समाजों में होता है। पितृश्वश्रेय सम्बन्धों के उदाहरण अनेक समाजों में देखने को मिलते हैं। डॉ. रिवर्स ने बैक्सिदिप में इस प्रथा का प्रचलन पाया है। वहाँ बुआ ही भतीजे के लिए वधू ढूंढ़ती है, भतीजा माँ से अधिक बुआ का सम्मान करता है, वही बुआ की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है। भारतीय समाज की टोडा जनजाति में बच्चे का नामकरण बुआ करती है। इस प्रथा के बारे में चैपल तथा कून का मानना है कि पितृश्वश्रेय सम्बन्ध उन नातेदारों में पारस्परिक सामाजिक अन्तः क्रिया को बनाये रखने के लिए प्रचलित है जिनमें विवाह के बाद अन्तः क्रिया के समाप्त हो जाने या शिथिल हो जाने की सम्भावना रहती है।

सह-प्रसविता या सहकारी (Couvade)

इस प्रथा का सम्बन्ध प्रसव काल से है। हॉबल के अनुसार, "यह एक रीति है जिसमें पत्नी के जब सन्तान होती है तब पति बिस्तर पर ऐसे लेट जाता है मानो उसके अभी बच्चा हो चुका है।" इस प्रथा के अन्तर्गत जब पत्नी के सन्तान होने वाली हो तब पुरुष को उन सारे निषेधों का पालन करना पड़ता है जिनका पालन उसकी पत्नी करती है। पति अपनी प्रसवा पत्नी की तरह से उसी कमरे में उसके साथ रहता है। प्रसव पीड़ा के कारण पत्नी चिल्लाती है तो पति भी चिल्लाता है। भारत में खासी व टोड़ा जनजाति में यह प्रथा प्रचलित है। एक खासी-पति को पत्नी की तरह नदी पार करने एवं कपड़े धोने की उस समय तक मनाही रहती है जब तक कि सन्तान होने के बाद देवी-देवताओं की पूजा नहीं कर ली जाती।

मैलिनोवस्की ने इसे एक सामाजिक क्रिया माना है जिसका उद्देश्य पति-पत्नी के वैवाहिक सम्बन्धों को घनिष्ठ बनाना है तथा पैतृक प्रेम को प्राप्त करना है। कुछ विद्वान् इसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हैं। उसकी मान्यता है कि इससे पति-पत्नी में परस्पर प्रेम का विकास होता है। कुछ जनजातिओं में इसका

कारण माता-पिता पर प्रतिबंध लगाकर उनको जादू-टोने के बुरे प्रभाव से बचाए रखना है ताकि नवजात शिशु कुशलता से जन्म ले सके। डॉ. एस. सी. दुबे का मानना है कि इस प्रथा का प्रचलन सामाजिक पितृत्व निर्धारण करने के लिए हुआ होगा। बहुपति विवाह तथा मातृसत्तात्मक परिवारों में सन्तान का जैविकीय पिता प्रायः अज्ञात ही होता था और वह व्यक्ति सन्तान का पिता माना जाता है जो सहकष्टी रीति का पालन करता है।

भारत में नातेदारी व्यवस्था में क्षेत्रीय भिन्नताएँ (Zonal Diversities in Kinship System of India)

किसी भी समाज की नातेदारी व्यवस्था उस समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक दशाओं से जुड़ी होती है। सामाजिक व्यवहार के क्षेत्रीय प्रतिमान जैसे स्वरूप को समझने के लिए इरावती कर्वे ने चार सांस्कृतिक क्षेत्रों की तुलनात्मक व्याख्या की है। कर्वे ने अपने अध्ययन में यह पाया कि इन क्षेत्रों में नातेदारी व्यवस्था भिन्न-भिन्न रूपों में पाई जाती है। उन्होंने भौगोलिक क्षेत्र, भाषा प्रदेश तथा नातेदारी के प्रतिमान परस्पर सम्बन्ध के आधार पर नातेदारी का अध्ययन किया है। उत्तर भारत में पितृवंशीय परिवार है तो दक्षिण के कुछ क्षेत्रों में मातृवंशीय परिवार है। इसी प्रकार से नातेदारी शब्दावली में भी अन्तर है। क्षेत्रों के आधार पर विवाह नियमों में भी भिन्नताएँ हैं।

उत्तर भारत में नातेदारी (Kinship in North India)

1. रक्त सम्बन्धियों के लिए और 2. विवाह सम्बन्धियों के लिए शब्द। तीन पीढ़ी तक के समीपतम संबंधियों के लिए प्राथमिक शब्द है और एक पीढ़ी के लोगों के शब्द अन्य पीढ़ी के लोगों के लिए बदले नहीं जा सकते।

उत्तर भारत में भोजपुरी असमी, बंगला, पंजाबी, सिंधी, बिहारी और नेपाली भाषी लोग व क्षेत्र शामिल हैं। इन क्षेत्रों में गोत्र बहिर्विवाह, जातीय अन्तः विवाह प्राथमिक सम्बन्धियों में यौन सम्बन्ध, आदि निषेध है। सभी विवाह सम्बन्धों में शासन के नियमों का कठोरता से पालन किया जाता है अर्थात् एक व्यक्ति अपने पितृपक्षीय परिवार व सपिंड बंधुजनों में विवाह नहीं कर सकता है। कभी-कभी एक जाति अन्तः विवाहिक या बहिविवाहिक गोत्रों में विभाजित होती है, और ऐसे गोत्रों में बँटी रहती है जिनका विवाह नियमों से किसी प्रकार का सरोकार नहीं होता है। ग्राम बहिर्विवाह की प्रथा भी पाई जाती है। उत्तर भारत में नातेदारी में कम से कम चार विशेषताएँ पाई जाती है : 1. क्षेत्रायता, 2. वंश-वृक्ष 3. अगम्यगमन निषेध और 4. स्थानीय बहिर्विवाह / नातेदारी एवं स्थान दोनों के संदर्भ में विवाह प्रतिबंधनों के कारण एक बड़े क्षेत्र में विवाह करने पर रोक लग जाती है विवाह सम्बन्धों में मातृ-पितृ संबंधी बाधाओं ओर स्थानीय बहिर्विवाह नियम का भी सख्ती से अनुसरण किया जाता है। उत्तर भारत में ब्राह्मणों और उच्च जातियों में चार गोत्र नियम का पालन किया जाता है अर्थात् पिता, माता, दादी और नानी के गोत्रों के परिवार से विवाह वर्जित है परन्तु परिवर्तन के साथ ही आज के समाज में दो गोत्र अर्थात् माता-पिता के गोत्रों के परिवार में विवाह वर्जित है। ग्रमीण क्षेत्र में इतना परिवर्तन नहीं हुआ है। गाँवों में बाल विवाह का प्रचलन है। छोटी आयु में विवाह तो करवा दिया जाता है परन्तु लड़की के युवा होने पर ही उसे ससुराल भेजा जाता है, उसे ही गौना कहते हैं। हालांकि भारत के कानूनों में बाल विवाह एक आपराधिक कृत्य है।

इस क्षेत्र में पितृवंशीय परम्परा पिता से पुत्र को जाती है तथा सम्पत्ति का हस्तान्तरण भी इस पर आधारित होता है।

NOTES

केन्द्रीय भारत में नातेदारी (Kinship in Central India)

केन्द्रीय भारत के नातेदारी संगठन की विशेषताएँ उत्तर भारत से अधिक भिन्न नहीं है। केन्द्रीय क्षेत्र में राजस्थान, मध्यप्रदेश, गुजरात, काठियावाड, महाराष्ट्र और उड़ीसा के भाषायी लोगों को शामिल किया गया है। पूर्वी क्षेत्र का भी प्रभाव देखा गया है। केन्द्रीय क्षेत्र के संदर्भ में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य

1. भ्राता-भगिनी संतति विवाह मध्य भारत में पाये जाते हैं जबकि उत्तर क्षेत्र में ऐसा नहीं है। ममेरा-फुफेरा भाई बहन विपरीत यौनिकी के सहोदरों की सन्तान होती है। समानान्तर चचेरे मौसेरे भाई-बहन उसी योनि के सहोदरों की सन्तान होती है।
2. उत्तर भारत की तरह यहाँ भी अनेक जातियाँ बहिर्विवाह गोत्र में बँटी हुई है।
3. कुछ जातियों में बहिर्विवाह गौत्र अनुलोमिय सोपान में अनुबद्ध है।

लेकिन ये विशेषताएँ पूरे क्षेत्र में नहीं पायी जाती है। उदाहरणत राजस्थान में द्विगोत्र या ग्राम बहिर्विवाह के नियम पाये जाते हैं, बनियों में चार गोत्र नियमों का पालन किया जाता है। और राजपूतों में अनुलोमिय गोत्र पाये जाते हैं। गुजरात में ममेरा प्रकार का सहोदरज विवाह (माँ के भाई से) और देवर विवाह (पति के भाई से) विवाह कुछ जातियों में प्रचलित है।

दक्षिण भारत में नातेदारी (Kinship in Southern India)

दक्षिण भारत में कर्नाटक आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु केरल राज्यों को सम्मिलित किया है। दक्षिण क्षेत्र में बंधुत्व व्यवस्था और परिवार संरचना का बहुत जटिल स्वरूप है।

पितृवंशीय और पितृस्थानिक व्यवस्थाएँ हैं। परन्तु कुछ समुदायों जैसे नायर, तियान में मातृवंशीय और मातृस्थानिक व्यवस्थाएँ पाई जाती हैं। इसी को थारवाड़ के नाम से जाना जाता है। अविवाहित पुत्र माँ के थारवाड का सदस्य है परन्तु विवाहित पुत्र अपनी पत्नी के थारवाड के सदस्य होते हैं। थारवाड में एक स्त्री, इसके भाई और बहनें, उसके अपने और उसकी बहनों के पुत्र और पुत्रियाँ रहते हैं।

उत्तर भारत की तरह दक्षिण क्षेत्र में जाति अन्तः विवाह और गौत्र बहिर्विवाह के नियम नहीं होते हैं। गोत्र शब्द का प्रयोग होता है जैसे कर्नाटक में बेराग्य या बेदागा, नीलगिरी के कोटा इसको कोताई वेलाल किलई, कुरूब लोग गुनपू कहते हैं।

दक्षिण क्षेत्र में एक ही गाँव में अन्तरवैवाहिक गोत्र के लोग रहते हैं। यहाँ बड़ी बहन की पुत्री, फूफी की पुत्री और मामा की पुत्री के साथ विवाहों को प्राथमिकता दी जाती है। अधिमान्य विवाहों की इस प्रथा का मुख्य उद्देश्य गोत्र की एकता और एकात्मकता तथा एक पीढ़ी के लोगों में विवाह द्वारा आदान-प्रदान के सिद्धान्त को बनाये रखते हैं। परन्तु छोटी बहन की पुत्री से विवाह, भाभी विवाह और माँ की बहन की पुत्री से विवाह करना निषेध है। कहीं कहीं पर मामा-भान्जी और ममेरे-फुफेरे भाई-बहनों में विवाह भी पाया जाता है।

दक्षिण भारत में नातेदारी शब्दावली की दृष्टि से प्रत्येक पीढ़ी दो भागों में विभाजित होती है। एक समूह में व्यक्ति के पंगली (अपने भाई-बहन, चचेरे-मौसेर भाई-बहिन) होते हैं। दूसरे समूह में मामा-मच्चिनन (ममेरे-फुफेरे बच्चे) होते हैं। मच्चिनन व मच्चिनी शब्द से उन सबका बोध होता है जिनसे विवाह सम्बन्ध किया जाता है या किया जा सकता है।

उत्तर और दक्षिण भारत की नातेदारी व्यवस्था में तुलना (Comparison between Kinship of Northern and Southern India)

1. दक्षिण भारत के परिवार और जनन परिवार के बीच कोई भी स्पष्ट भेद नहीं है जैसा कि उत्तर परिवार में होता है।
2. उत्तर में रक्त सम्बन्धियों और वैवाहिक सम्बन्धियों को सम्बोधन के लिए भिन्न-भिन्न शब्द पाये जाते हैं। दक्षिण में इस तरह का विभेद अनेक शब्दों के संदर्भ में अस्पष्ट है उदाहरणतः उत्तर भारत में फूफी, माँ के भाई, बुआ के पति, आदि के लिए अलग-अलग शब्द का प्रयोग होता। परन्तु दक्षिण में फूफी और मामी दोनों के लिए अत्ताताई का उपयोग करते हैं। फूफा और मामा दोनों के लिए मामा शब्द को काम में लेते हैं।
3. दक्षिण भारत में कुछ व्यक्ति नातेदार होते हैं जो केवल रक्त सम्बन्धी हैं और कुछ अन्य होते हैं जो एक साथ रक्त सम्बन्धी और विवाहोपरान्त के सम्बन्धी होते हैं।
4. दक्षिण भारत में नातेदारी संगठन वर्षोक्रम में आयु (Chronological age) के अनुसार अन्तर पर निर्भर करता है जब कि उत्तर में यह पीढ़ी विभाजन के सिद्धान्त पर निर्भर करता है।
5. दक्षिण भारत में विवाहित लड़कियों के लिए व्यवहार के विशेष प्रतिमान नहीं होते हैं जबकि उत्तर भारत में उन पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिए जाते हैं।
6. दक्षिण भारत में विवाह का अर्थ यह नहीं होता कि वह पिता के घर से अलग की गई है, लेकिन उत्तर भारत में स्त्री अपने पिता के घर कभी-कभी जाती है।

पूर्वी भारत में नातेदारी (Kinship in Eastern India)

पूर्वी भारत में नातेदारी संगठन भिन्न है। यहीं आदिवासी अधिक है। प्रमुख जनजातियाँ खासी, विरहोड़ा, मुण्डा औराँव अन्य आस्ट्रो-एशियाई जनजातियाँ भी रहती हैं।

मुण्डारी भाषाएँ बोलने वाले सभी लोगों में पितृवंशीय और पितृस्थानिक परिवार पाये जाते हैं। हो और सन्थाल लोगों में भ्राता भगिनी संतति विवाह प्रथा पाई जाती है। विलिंग सहोदराज विवाद यदा कदा मिलते हैं। और वधू मूल्य आम बात है। लड़की के पिता के घर में होने वाले दामाद द्वारा सेवा भी वधू मूल्य समझा जाता है। खासी और गोरे लोगों में मातृवंशीय संयुक्त परिवार मिलते हैं। मुण्डारी लोगों में संयुक्त परिवार नहीं पाये जाते हैं। असम की खासी समुदाय में पूजा और सामान्य श्मशान घाट के साथ संयुक्त परिवार भी है, परन्तु पति और पत्नी खुद के अपने छोटे से घर में रहते हैं। यदि सभी संबंधी नहीं हैं तो के पश्चात् सम्पत्ति माँ या सबसे छोटी बहन को प्राप्त होती है। विधवा पुर्नविवाह नहीं करती है तो उसे आधी सम्पत्ति मिलती है। खासी समुदाय में गोत्र बहिर्विवाह है।

नातेदारी का समाजशास्त्रीय महत्व (Sociological Importance of Kinship)

नातेदारी समाज की ऐसी सशक्त और महत्वपूर्ण व्यवस्था है जो निम्नलिखित प्रकार से समाज के लिए अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है-

1. विवाह का निर्धारण करना-विवाह से सम्बन्धित अनेक बातें होती हैं। नातेदारी व्यवस्था विवाह की विशेषताएँ, प्रकार उद्देश्य आदि को निर्धारित करती है। नातेदारी द्वारा ही तय किया जाता है कि, एक व्यक्ति का विवाह किन-किन से हो सकता है और किन-किन से निषेध होता है। विवाह से सम्बन्धित

प्रकार, अन्तर्विवाह, बहिर्विवाह, अनुलोम, प्रतिलोम, साली, देवर विवाह सब कुछ नातेदारी प्रथा के द्वारा निश्चित किए जाते हैं।

2. परिवार का निर्धारण करना नातेदारी पर आधारित विवाह संस्था के द्वारा परिवार की स्थापना की जाती है। नातेदारी की भूमिका विवाह के द्वारा परिवार के प्रकार, उद्देश्य, कार्य आदि को भी निर्धारित करती है। समाज में पति-पत्नी की संख्या के आधार पर नातेदारी परिवार के अनेक प्रकारों को मान्यता प्रदान करती है जैसे-एक विवाह परिवार, बहुविवाही परिवार। नातेदारी की अनेक परम्पराओं के द्वारा परिवार में संगठन, सहयोग एकता आदि को बनाये रखा जाता है। अगर परिवार तथा विवाह में नातेदारी प्रथाओं का पालन न किया जाये तो परिवार, परिवार नहीं रहेगा तथा समाज भी पशुवत हो जायेगा। अतः नातेदारी परिवार का मेरूदण्ड है।

3. वंश निर्धारण-परिवार में पति-पत्नी होते हैं। माता-पिता होते हैं। बड़ी पीढ़ी और छोटी पीढ़ी होती है जो वंशों से सम्बन्धित होते हैं। समाज पितृवंश, मातृवंश तथा द्विवंश का वर्गीकरण तथा वंशक्रम तथा क्रम नातेदारी में चारों आयु, लिंग, पीढ़ी, भेद आदि के द्वारा किया जाता है। जैसे नातेदारी के द्वारा ही पितृवंश या मातृवंश का निर्धारण होता है। वंश विभाजन समाज की संरचना तथा संगठन के लिए आवश्यक होते हैं जो नातेदारी की प्रमुख भूमिका के अन्तर्गत आते हैं।

4. उत्तराधिकारी एवं पदाधिकारी का निर्धारण व्यवस्था में वंश परम्परा के अनुसार परिवार के सदस्यों से उत्तराधिकारी के क्रम का निर्धारण होता है। नातेदारी ही यह निश्चित करती हैं, कि एक व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति तथा पद किसे दिया जाएगा। पितृवंशीय समाज में नातेदारी के अनुसार पिता के पुत्र को सम्पत्ति तथा उत्तराधिकारी हस्तान्तरित होते हैं। मातृवंशीय समाज में माता से पुत्री की उत्तराधिकारी हस्तान्तरित होते है। नातेदारी के द्वारा ही पितृसत्तामक तथा मातृसत्तात्मक परिवारों का निर्धारण होता है।

   लूसी मेयर की मान्यता है कि, "सरल प्रविधि वाले समाजों में किसी व्यक्ति समाज में स्थान, उसके अधिकार और कर्तव्य सम्पत्ति पर उसका दावा अधिकतर दूसरे सदस्यों के साथ उसके जन्मजात सम्बन्धों पर निर्भर होते हैं। समाजों में संगठन के चाहे जो भी सिद्धान्त हों प्राथमिक सामाजिक समूह बन्धुत्व से जुड़े रहते हैं। "हैं।"

5. सामाजिक दायित्वों का निर्वाह नातेदारी समाज में व्यक्ति के सामाजिक दायित्वों तथा कर्तव्यों का भी निर्धारण करती है। जिस प्रकार सम्पत्ति तथा उत्तराधिकारी की वरीयता नातेदारी निर्धारण करती है। उसी प्रकार से विभिन्न सामाजिक उत्तरदायित्व भी वरीयता के अनुसार नातेदारी तय करती है। परिवार में किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर विधवा तथा सन्तानों की सुरक्षा और पालन पोषण का निर्धारण नातेदारी द्वारा ही होता है। जैसे-कुछ समाजों में पिता की मृत्यु होने पर चाचा, दादा सन्तान एवं विधवा का पालन पोषण किया जाता है।

6. आर्थिक सुरक्षा का निर्धारण-नातेदारी सामाजिक हितों के साथ-साथ व्यक्ति के आर्थिक हितों, संरक्षण तथा वित्तीय सहायता की व्यवस्था भी करती है। नातेदारी में सम्बन्धी किसी व्यक्ति के जितना अधिक निकट होगा तथा वह उतना ही अधिक आर्थिक सहायता करने को तत्पर पाया जाएगा। जैसे संयुक्त परिवार में सामूहिक सम्पत्ति होती है तथा मुखिया आवश्यकतानुसार प्रत्येक सदस्य के आर्थिक हितों की रक्षा करता है।

आई. पी. देसाई के अनुसार अगर परिवार के सदस्य दूर-दूर रहते हैं जो विवाह तथा आर्थिक संकट में एक दूसरे की सहायता करते हैं।

7. मानसिक सन्तोष प्रदान करना नातेदारी के द्वारा विभिन्न रक्त तथा वैवाहिक सम्बन्धी आपस में एक-दूसरे से घनिष्ठता अनुभव करते हैं। संयुक्त परिवार के रूप में साथ-साथ एक छत के नीचे साथ पूजा पाई करते है। एक चूल्हे के भोजन करते हैं। सम्पत्ति सामूहिक होती है। इस प्रकार से उन्हें आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक सुरक्षा मिलती है और उनको मानसिक सन्तोष प्राप्त होता है। नातेदारी अनेक रिश्तेदारों को साथ-साथ रहने के लिए बाध्य करती है परम्परा के अनुसार संयुक्त परिवार की प्रतिष्ठा को समाज में बढ़ाती है। नातेदारी के द्वारा सम्बन्धियों का क्षेत्र व्यापक हो जाता है उनको विभिन्न प्रकार से मानसिक संतोष मिलता रहता है।

नातेदारी व्यवस्था में परिवर्तन (Changing Pattern in Kinship)

यदि हम भारतीय समाज की तस्वीर खींचे जो सामाजिक प्रतिमानों एवं मूल्यों से बनी है हमें नाते-रिश्तों की दुनिया का अखिल भारतीय रूप समझ में आने लगेगा। परन्तु सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं की ओर ध्यान दें तो स्पष्ट होगा कि कोई भी समाज चिर-शाश्वत मूल्यों पर आधारित नहीं हो सकता और उसी तरह से भारतीय समाज में भी राजनैतिक, आर्थिक, वैश्वीकरण आदि प्रक्रियाओं की गतिकी के फलस्वरूप नये प्रतिमान की स्थापना हो रही है। तेजी से बदलते परिवेश में बहुत कुछ बदल गया है और नाते-रिश्तों के रूप-विस्तार में अनेक नये सवाल उठ खड़े हुए हैं।

अंतर्राष्ट्रीय बाजार व्यवस्था में सहभागिता के लिए तत्पर भारतीय समाज में पुराने सामंतवादी या प्रारम्भिक पूँजीवादी उत्पादन के तरीकों की जगह आज खुली प्रतियोगिता का बोलबाला शुरू हो गया है। फलस्वरूप घर-बाहर घरेलू कामकाज बाहर कामों में लग रही है अर्थात् श्रम बाजार में महिला पुरुष के साथ कंध से कंधा मिला कर उत्पादन ढ़ाने में लग रहा है। प्रत्येक क्षेत्र में महिलाओं का वर्चस्व बूझ रहा है। इसका असर रिश्तों पर पड़ रहा है, घर / बाहर में मानी जाने वाली सत्ता के स्वरूप पर पड़ रहा है।

सारांश

आज नाते रिश्ते या नातेदारी व्यवस्था में परिवर्तन आया है व इनका स्वरूप बदल गया है परिवार में पिता की आज्ञा या निर्णय सर्वोपरि है, माँ-पिता की सेवा अनिवार्य है, छोटा बड़े के सामने मुहँ नहीं खोल सकता है-इन मान्यताओं की जगह नई मान्यताएँ प्रवेश कर रही है और इनसे नातों-रिश्तों के नए मानक बन रहे हैं जिनका अध्ययन हो रहा है। यह प्रश्न भी उठाया जा रहा है कि केवल पुरुष (पिता) सन्तान का अभिभावक हो सकता है। इस प्रश्न से सीधा प्रकार नाते-रिश्तों की जड़ों पर होता है और कानून में बदलाव की संभवना उठती है। समाज में सन्तान होना आवश्यक है परन्तु परिवर्तन के साथ ही आज पति-पत्नी बिना संतान के भी जीवन व्यतीत कर रहे हैं। सिंगल पेरेन्ट (Single Parents) भी समाज में देखा जा रहा है अर्थात् गोद लेने के लिए माँ-पिता का होना आवश्यक नहीं है उदाहरणतः सुष्मिता सेन ने लड़की को गोद लिया अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि गोद लेने के लिए विवाहित होना आवश्यक है। निर्णय लेने की प्रक्रिया में पति-पत्नी के बीच द्वन्द्व की स्थिति में महिलाएँ स्वतन्त्र निर्णय ले रही हैं, जैसे उत्तर प्रदेश के चमेली जिले में महिलाओं ने पुरुषों के विरोध के बावजूद भी चिपको आन्दोलन में सक्रिया भूमिका निभाई है।

दूसरी ओर संचार माध्यमों के विकास के कारण एवं अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन की सुविधाओं के बढ़ने के कारण बड़ी संख्या में भारतीय विदेशों में बस रहे हैं पर संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप कई

बदलाव आ रहे हैं। कानून में परिवर्तन के कारण सम्पत्ति अधिकार, नाते-रिश्तों आदि में कई बदलाव आए हैं। जहाँ सम्पत्ति पर सिर्फ पुत्र का अधिकार होता था वहाँ आज दोनों (पुत्री-पुत्र) का समान अधिकार है। नाते-रिश्तों की भूमिका का रूप भले ही बदल जाए परन्तु अन्त कभी नहीं हो सकता।

NOTES

स्वप्रगति की जाँच के उत्तर देखें :

1. परंपरागत सिद्धान्त जाति की उत्पत्ति से सम्बन्धित परंपरागत सिद्धान्त का स्वरूप भेद, उपनिषद, स्मृति, महाभारत एवम् धर्मशास्त्र में स्पष्ट होता है। इसके अनुसार ब्रह्मा के विभिन्न अंगों से जाति की उत्पत्ति हुई। ब्राह्मणों का जन्म ब्रह्म के मुख से, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य जंघा तथा उदर से तथा शुद्र पैर से उत्पन्न हुए हैं। इसी आधार पर प्रत्येक जाति के कार्य निश्चित हैं, ब्राह्मण का कार्य अध्ययन-अध्यापन करना है जिससे वेदों की रक्षा हो सके। क्षत्रियों का कार्य अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग करना है जिससे जन-धन की रक्षा हो सके। उसी प्रकार वैश्यों का कार्य कृषि करना है और शूद्रों की उत्पत्ति पैरों से होने के कारण उनका कार्य उपरोक्त तीनों वर्णों की सेवा करना है।

   परंपरागत सिद्धान्त की इस आधार पर आलोचना की जाती है कि जाति की उत्पत्ति ब्रह्मा के अंगों से मानी गई है। आज के वैज्ञानिक युग में इसे तर्क पूर्ण नहीं माना जा सकता।

2. ड्यूमोन्ट (Homo Hieratichicus 1971) में स्पष्ट किया है कि जाति-व्यवस्था एक समग्र ढाँचे के रूप में नहीं बदली है, समाज में परिवर्तन हुआ है न कि जाति में। जो परिवर्तन हुआ है वह केवल यह कि जातियों के बीच जो परंपरागत परस्पर निर्भरता थी उसका स्थान अब अवैध गुटों द्वारा सार्वभौमिक रूप से ले लिया गया है जो एक दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा में लिप्त है। ड्यूमोन्ट ने इसे जाति का यथार्थीकरण (Substantialisation) करा है। आन्द्रे बेतेई 1977 ने भी जाति में पाये जाने वाले परिवर्तनों की भी व्याख्या की है। उदाहरण के लिए संरचनात्मक दूरी जीवन शैली में सहभोज संबंधों में अन्तः विवाह में इत्यादि। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जाति व्यवस्था के कुछ पक्षों में परिवर्तन की गति तेज है तो कुछ में धीमी।

3. नातेदारी का प्रत्येक समाज में बहुत महत्व है। संगमन, गर्भावस्था, पितृत्व, समाजीकरण, सहोदरता आदि जीवन के मूलभूत तथ्यों के साथ मानव व्यवहार का अध्ययन ही नातेदारी का अध्ययन है। मनुष्य जन्म के बाद से ही अनेक लोगों से सम्बन्धित हो जाता है। इन सम्बन्धों में विवाह के आधार पर बने सम्बन्ध अधिक स्थायी और घनिष्ठ होते हैं। जिन विशिष्ट सामाजिक सम्बन्ध द्वारा मनुष्य बंधे होते हैं और जो सम्बन्ध समाज द्वारा स्वीकृत होते हैं इन्हें हम नातेदारी के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं।

4. प्रजनन के आधार पर उत्पन्न होने वाले सामाजिक सम्बन्धों में एक प्रकार वह है जो रक्त या समरक्त के आधार पर बनता है, जैसे माता-पिता एवं सन्तानों के बीच का संबंध। सन्तान माता-पिता से वाहकाणु (Genes) ग्रहण करती हैं और ऐसी मान्यता है कि उनमें समान रक्त पाया जाता है इसी आधार पर एक ही माता-पिता की सन्तानों में रक्त संबंध होता है। एक व्यक्ति के माता-पिता, भाई-बहिन, दादा-दादी, बुआ, चाचा आदि रक्त संबंधी हैं। रक्त सम्बन्धियों के बीच सदा ही प्राणी शास्त्रीय सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। इनके बीच काल्पनिक संबंध भी हो सकता है। इसके अन्तर्गत किसी को गोद लेने अथवा अपना लेने से यह काल्पनिक नातेदार बन जाते हैं। इन संबंधों पर समाज की स्वीकृति अनिवार्य होती है। उदाहरण के लिए पिता-पुत्र का संबंध रक्त पर आधारित होता है, लेकिन यह भी सम्भव है कि पुत्र गोद लिया हुआ हो। अतः यह रक्त सम्बन्धी नातेदारी वास्तविक न होकर

दत्तक हुई। इन संबंधों को समाज की स्वीकृति होती है और यह वास्तविक सम्बन्धी की तरह ही माने जाते हैं।

5. नातेदारी की रीतियों में परिहास सम्बन्ध परिहार का बिल्कुल विपरीत रूप है। परिहास दो रिश्तेदारों में परस्पर निकटता लाता है। निश्चित अर्थ में यह दो व्यक्तियों को मधुर सम्पर्क सूत्र में बाँधता है और उन दोनों को एक-दूसरे के साथ हँसी मजाक करने का अधिकार देता है। परिवार में यौन सम्बन्धी विषयों से बचने का भरसक प्रयत्न किया जाता है, परिहास-सम्बन्ध में हँसी मजाक को उतनी ही छूट रहती है। देवर भाभी, जीजा साली, ननद भाभी, मामा भान्जा, चाचा-भतीजा आदि के बीच विभिन्न समूहों में पाए जाने वाले मधुर सम्बन्ध परिहास सम्बन्ध के उत्तम उदाहरण हैं। ये एक-दूसरे की खिल्ली उड़ाते हैं, सबके सामने एक-दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं। यौन सम्बन्धी हँसी-मजाक त्यौहारों के दिनों में बहुत बढ़ जाता है। हिन्दुओं में होली का त्यौहार इस मामले में उल्लेखनीय है।

अभ्यास-प्रश्न

1. जाति व्यवस्था का परिचय दें तथा इसकी परिभाषा प्रस्तुत करते हुए इसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालें।
2. जाति व्यवस्था की उत्पत्ति, प्रकार्यों तथा दुष्कार्यों पर टिप्पणी लिखें।
3. जाति व्यवस्था की वर्तमान संरचना तथा इसके भविष्य पर चर्चा करें।
4. नातेदारी का अर्थ एवं इसकी परिभाषा दें। नातेदारी के भेद तथा श्रेणियों का वर्णन करें।
5. नातेदारी की रीतियों का वर्णन करें तथा भारत में नातेदारी व्यवस्था में क्षेत्रीय भिन्नताओं पर प्रकाश डालें।
6. नातेदारी का क्या शास्त्रीय महत्व है? स्पष्ट करें।

ekMîy&8

NOTES

परिवार
(Family)

इस अध्याय के अन्तर्गत :

- परिचय
- परिवार का अर्थ और परिभाषा
- परिवार की विशेषताएँ
- भारत में परिवार के प्रकार
- भारतीय परिवार के प्रमुख कार्य
- भारतीय परिवार की विशेषताएँ
- संयुक्त परिवार का अर्थ एवं विशेषताएँ
- भारतीय संयुक्त परिवार की संरचना
- संयुक्त परिवार के गुण
- संयुक्त परिवार के दोष
- हिन्दू विवाह रु विवाह की अवधारणा
- विवाह को सम्मान अर्थ
- हिन्दू विवाह के उद्देश्य

अध्याय के उद्देश्य :

इस अध्याय के अध्ययन के उपरांत आप जान सकेंगे :

- परिवार का अर्थ और परिभाषाएँ
- परिवार की विशेषताएँ
- भारत में परिवार के प्रकार तथा भारतीय परिवार के प्रमुख कार्य
- भारतीय परिवार की विशेषताएँ
- संयुक्त परिवार का अर्थ और विशेषताएँ
- भारतीय संयुक्त परिवार की संरचना
- संयुक्त परिवार के गुण एवं दोष
- हिन्दू विवाह की अवधारणा

bdkÃ&11 ifjokj dk vFk] ifjHkk"kk] fo'k"krk,¡] fookg] fgUnw fookg dk vFk ,o ifjHkk"kk] mís';] fo'k"krk,¡] fookg dk Hkkn

परिवार सामाजिक संगठन का आधार है। यह समाज की आधारभूत संस्था है, सामाज की इकाई है। यह लिंग समूह पर आधारित इतना छोटा और स्थाई समूह है जो बच्चों की उत्पत्ति और पालन-पोषण करता है। यद्यपि सभी समाजों में परिवार लिंग संम्बन्धों की स्वीकृति व मान्यता, सन्तानोत्पत्ति एवं उनके पालन-पोषण की प्रक्रियाओं पर आधारित है फिर भी इसके स्वरूपों में भिन्नता है। मोटे रूप से इन्हें दो प्रकारों या स्वरूपों में बाँटा जा सकता है-एकाकी परिवार और संयुक्त परिवार।

परिवार का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning & Definition of Family)

परिवार शब्द के अंग्रेजी पर्याय Family शब्द का उद्गम लैटिन भाषा के Familia शब्द से हुआ है, जो एक ऐसे समूह के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसमें माता-पिता बच्चे, नौकर और दास हों। परिवार के अन्तर्गत पति, पत्नी और बच्चों का होना आवश्यक है।

विभिन्न विद्वानों ने परिवार की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी हैं। कुछ प्रमुख्य परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं-

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार-"परिवार पर्याप्त निश्चित यौन सम्बन्ध द्वारा परिभाषित एक ऐसा समूह है, जो बच्चों के जनन एवं लालन-पालन की व्यवस्था करता है।"

डॉ. दुबे के अनुसार-"परिवार में स्त्री और पुरूष दोनों की सदस्यता पर्याप्त रहती है, उनमें से कम से कम दो विपरीत यौन व्यक्तियों को यौन सम्बन्धों की सामाजिक स्वीकृति रहती है और उनके संसर्ग से उत्पन्न सन्तान परिवार का निर्माण करती है।"

लूसी मेयर के शब्दों में-"परिवार एक गृहस्थ समूह है जिनमें माता-पिता और सन्तान साथ-साथ रहते हैं। इसके मूल रूप में दम्पत्ति और उसकी सन्तान रहती है।"

डेविस के अनुसार-"परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है जिसमें एक-दूसरे से सम्बन्ध सगोत्रता पर आध रित होता हैं और इस प्रकार एक दूसरे से रक्त-सम्बन्ध होते हैं।"

विश्लेषण-उपर्युक्त भाषाओं से स्पस्ट होता है कि प्रत्येक सामाज में परिवार के दो पक्ष हैं :

1. संरचनात्मक पक्ष
2. कार्यात्मक पक्ष।

संरचनात्मक पक्ष-इसमें मूल रूप से पति-पत्नि और बच्चें होते हैं, लेकिन इसमें कम से कम तीन प्रकार के सम्बन्ध पाये जाते हैं। यथा-

1. पति-पत्नि के सम्बन्ध।
2. माता-पिता और बच्चों के सम्बन्ध।
3. भाई-बहनों के सम्बन्ध।

प्रथम प्रकार के सम्बन्धों का आधार जहाँ विवाह है, वहीं दूसरे और तीसरे प्रकार के सम्बन्धों का आध रक्त सम्बन्ध है। इस प्रकार स्पष्ट हैं, कि परिवार में वैवाहिक एवं रक्त सम्बन्धों का होना आवश्यक है। किसी एक के अभाव में परिवार का निर्माण सम्भव नहीं है।

कार्यात्मक पक्ष-अन्तर्गत यौन सम्बन्धों का नियमन करना, सन्तानोत्पत्ति करना, उनका लालन-पालन तथा सामाजीकरण करना तथा उन्हें सामाजिक संरक्षण प्रदान करना आता है।

परिवार की विशेषताएँ (Charateristics of the Family)

मैकाइवर और पेज ने परिवार की विशेषताओं को दो प्रमुख भागों में विभाजित किया है। ये हैं-

I. सामान्य विशेषताएँ   II. विशिष्ट विशेषताएँ।

परिवार की विशेषताओं को इन्हीं दो प्रमुख शीर्षकों के अन्तर्गत नीचे स्पष्ट किया गया है-

I. परिवार की सामान्य विशेषताएँ-ये विशेषताएँ लगभग सभी समाजों के परिवारों में पाई जाती हैं। यथा–

1. **विवाह सम्बन्ध-**प्रत्येक परिवार विवाह सम्बन्धों के बाद ही अस्तित्व में आता है।
2. **विवाह का एक स्वरूप-**प्रत्येक समाज में एक पत्नी विवाह, बहु-पत्नी विवाह या बहु-पति विवाह आदि का कोई एक स्वरूप प्रचलित होता है।
3. **वंशनाम-**प्रत्येक परिवार में मातृ सत्तात्मक या पितृ सत्तात्मक वंश के चलने की परम्परा होती है, जो प्रायः उसके नाम के साथ लगी रहती है।
4. **अर्थव्यवस्था-**प्रत्येक परिवार में अपने सदस्यों के भरण-पोषण हेतु कोई न कोई आर्थिक क्रिया अवश्य पाई जाती है।
5. **सामान्य निवास-**प्रत्येक परिवार के सदस्य 'घर' नामक एक स्थान पर निवास करते हैं।

II. परिवार की विशिष्ट विशेषताएँ-मैकाइवर एवं पेज ने परिवार की अग्रलिखित विशिष्ट विशेषताओं का उल्लेख किया है-

1. **सार्वभौमिक-**यह संस्था सभी कालों एवं स्थानों पर पाई जाती है।
2. **भावात्मकता-**इसके सदस्यों में परस्पर प्रेम, सहयोग, त्याग एवं सहिष्णुता के भावात्मक सम्बन्ध पाए जाते हैं।
3. **रचनात्मकता-**प्रत्येक व्यक्ति या बच्चे के व्यक्तित्व का निर्माण परिवार के अन्तर्गत ही होता है।
4. **केन्द्रीय स्थिति-**समाज में परिवार केन्द्रीय स्थिति रखता है। यह समाज की इकाई है।
5. **उत्तरदायित्व-**परिवार का अपने सदस्यों के प्रति अन्य दूसरे संघों व संस्थाओं से अधिक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है।
6. **सीमित आकार-**इसके सदस्यों की संख्या सीमित होती है।
7. **सामाजिक नियमन-**प्रथाओं एवं परम्पराओं के द्वारा परिवार सदस्यों पर प्रभावी सामाजिक नियन्त्रण की भूमिका निभाता है।
8. **स्थायी व अस्थायी प्रकृति-**संस्था के रूप में परिवार स्थायी है, लेकिन संघ के रूप में परिवार व्यक्तिगत सदस्यों की मृत्यु होने पर समाप्त होते रहते हैं।

भारत में परिवार के प्रकार (Types of Family in India)

भारत में पाये जाने वाले विभिन्न प्रकार के परिवारों का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया गया है-

I. संख्या के आधार पर-संख्या के आधार पर परिवारों को तीन प्रकारों में विभाजित किया गया है। यथा-

1. **केन्द्रीय या नाभिक परिवार**-औद्योगिकीकरण, नगरीकरण, आधुनिक सभ्यता एवं संस्कृति के प्रसार तथा भौतिकवादी एवं व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के विकास ने भारत में एकाकी या नाभिकीय परिवारों को बढ़ाया है। यह परिवार का सबसे छोटा रूप है। जो पति-पत्नी और उनके बच्चों से मिलकर बनता है। इसमें बच्चे भी अविवाहित रहने तक ही सम्मिलित पाये जाते हैं। ऐसे परिवार के सदस्य भावात्मक रूप से परस्पर जुड़े होते हैं। इसका आकार सीमित होता है। आज भारत में ऐसे परिवारों की वृद्धि हो रही है।

2. **संयुक्त परिवार**-इसमें तीन या तीन से अधिक पीढ़ियों के सदस्य साथ-साथ एक ही घर में निवास करते हैं, सम्पत्ति सामूहिक होती है, रसोई सामूहिक होती है तथा पूजा व अन्य सार्वजनिक कार्य सामूहिक रूप से ही सम्पन्न होते हैं। इसमें प्राय: दादा-दादी, माता-पिता, चाचा-चाची, चचेरे भाई-बहिन व उनकी पत्नियाँ और बच्चे शामिल होते हैं। गाँवों में परिवार का यही रूप प्रचलित है।

3. **विस्तृत परिवार**-ऐसे परिवारों की सदस्य संख्या बहुत अधिक होती है। दुबे ने विस्तारित परिवार की संज्ञा उस परिवार संकुल से दी है जो वंशानुक्रम से सम्बद्ध होते हुए भी अपनी भिन्न-भिन्न इकाइयों में परिवारों में बँटा हुआ हो।

II. निवास के आधार पर-दम्पत्ति के निवास स्थान के आधार पर परिवारों को वर्गीकरण अग्र प्रकार से किया गया है-

1. पितृ-स्थानीय परिवार-जब विवाह के बाद पत्नी अपने पति और पति के मां-बाप के निवास स्थान पर रहने लगती है तो उसे पितृ स्थानीय परिवार कहा जाता है। हिन्दुओं में यह प्रथा प्रचलित है।

2. मातृ-स्थानीय परिवार-जब विवाह के बाद पति, पत्नी के साथ या पत्नी के मां-बाप के निवास स्थान पर रहने लगता है। उसे मातृ-स्थानीय परिवार कहा जाता है। भारत में मालाबार के नायरों, खासी व गारो जन-जातियों में यह प्रथा पाई जाती है।

3. नव-स्थानीय परिवार जब पति-पत्नी विवाह के बाद अपना अलग घर बसाकर रहने लगते हैं, तब इसे नव-स्थानीय परिवार कहा जाता है।

4. मातृ-पितृ स्थानीय परिवार जब पति-पत्नी दोनों के मां-बाप में से किसी के भी साथ रहने को स्वतन्त्र होते हैं, उन्हें मातृ-पितृ स्थानीय परिवार कहा जाता है।

5. मामा-स्थानीय परिवार जब नव-विवाहित दम्पत्ति पति के मामा के परिवार में जाकर रहने लगते हैं, तो उसे मामा-स्थानीय परिवार कहा जाता है। ट्रोब्रियाण्डा द्वीपवासियों में यह प्रथा प्रचलित है। भारत में मातृवंशी परिवारों में यह प्रथा प्रचलित थी।

6. द्वि-स्थानीय परिवार-कुछ स्थानों में ऐसे भी परिवार हैं जहां विवाह के बाद पति-पत्नी अपने-अपने जन्म के परिवारों में ही रहते हैं। केरल, लक्षद्वीप में इस प्रकार के परिवार पाये जाते हैं। पति रात्रि को अपनी पत्नी के घर जाता है, परन्तु दिन वह अपने जन्म के परिवार में ही व्यतीत करता है।

III. अधिकार के आधार पर-अधिकार के आधार पर परिवार का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया गया है-

1. पितृ सत्तात्मक परिवार-वे परिवार जिनमें परिवार के अधिकार पिता-पक्ष के हाथों में होते हैं। इसमें सत्ता पुरुष के हाथ में होती है।

NOTES

2. मातृ सत्तात्मक परिवार-उसमें परिवार की सत्ता पत्नी या पत्नी की माँ में ही निहित होती है। भारत में नायर, खासी और गारो आदि लोगों में इस प्रकार के परिवार पाए जाते हैं।

IV. उत्तराधिकार के आधार पर-इस आधार पर परिवारों को निम्नलिखित दो भागों में विभाजित किया गया है-

1. पितृ-मार्गी परिवार ऐसे परिवार में उत्तराधिकार के नियम मातृ पक्ष के आधार पर तय किये जाते हैं।

2. मातृ-मार्गी परिवार ऐसे परिवार में उत्तराधिकार के नियम मातृ पक्ष के आधार पर तय किये जाते हैं।

V. वंश के आधार पर-इस आधार पर परिवारों को निम्न प्रकारों में विभाजित किया गया है-

1. पितृवंशीय परिवार-ऐसे परिवारों में वंश-परम्परा पिता के नाम से चलती है।

2. मातृवंशीय परिवार-ऐसे परिवारों में वंश-परम्परा माँ के नाम से चलती है। मां से पुत्रियों के वंश के नाम मिलते हैं। मालाबार के नायरों की यही प्रथा है।

3. उभयवाही परिवार-कुछ परिवारों में वंश सभी निकट सम्बन्धियों पर समान रूप से आध रित होता है। यह परिवार नाना-नानी, दादा तथा दादी चारों के सम्बन्धियों से समान रूप से सम्बद्ध रहता है।

4. द्विनामी परिवार-ऐसे परिवारों में एक व्यक्ति का एक ही समय में अपनी दादी और नानी से सम्बन्ध रहता है और दादा और नाना के सम्बन्ध को छोड़ दिया जाता है।

VI. विवाह के आधार पर-विवाह के आधार पर परिवार के निम्न भेद किये जाते हैं-

1. एक-विवाही या एक पत्नी कर परिवार-यह परिवार एक पति और एक पत्नी के मिलने या जुड़ने से बनता है।

2. बहु-विवाही परिवार या बहु-पत्नीक व बहु-पति विवाह परिवार-एक पत्नी के अनेक पति रखने की मान्यता होती है।

3. समूह-विवाही परिवार जब कई भाई या कई पुरुष मिलकर स्त्रियों के एक समूह से विवाह करें और सब पुरुष सब स्त्रियों के समान रूप से पति हों तो वह समूह-विवाही परिवार कहलाता है।

VII. अन्य आधार-लिण्टन ने परिवार के दो प्रकार बताए हैं, जो निम्न हैं-

1. समरक्त परिवार-इसमें सभी सदस्य एक रक्त सम्बन्धी होते हैं और कोई भी विवाह सम्बन्धी उसमें नहीं रहता। उदाहरण के लिए नायर परिवार में पति यदा-कदा ही पत्नी के यहाँ आकर रहता है अधिकांशतः एक स्त्री के सभी वंशज ही उसमें रहते हैं।

2. विवाह सम्बन्धी परिवार-ऐसे परिवारों में विवाह-सम्बन्धी और रक्त सम्बन्धी दोनों प्रकार के सदस्य रहते हैं।

भारतीय परिवार के प्रमुख कार्य-यद्यपि विवाह, संतानोत्पत्ति, बच्चों का पालन-पोषण और विविध धार्मिक कार्यों का सम्पादन तो विश्व के सभी समाजों में परिवार के महत्वपूर्ण दायित्व माने गए हैं, परन्तु तीन ऋणों से मुक्ति पाना, पंच महायज्ञ एवं संस्कारों का सम्पादन भारतीय परिवार के विशिष्ट कार्य हैं। भारतीय परिवार के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं-

1. विवाह एवं सन्तानोत्पत्ति-विवाह एक धार्मिक संस्कार था तथा सन्तानोत्पत्ति करना भी एक धार्मिक कार्य माना जाता था। अतः पुत्र व पुत्री का उचित समय पर विवाह संस्कार करना भी परिवार का एक प्रमुख कार्य था।

2. बच्चों का पालन-पोषण करना-बच्चों का पालन-पोषण करना भी भारतीय परिवार का एक प्रमुख कार्य था। बच्चों के रहने, भोजन, वस्त्र, मनोरंजन एवं विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करना परिवार का महत्वपूर्ण कार्य था।

3. बच्चों को शिक्षा की व्यवस्था करना-अपने सदस्यों की शिक्षा का प्रबन्ध करना भी परिवार का कार्य था। अपने सदस्यों को उचित शिक्षा दिलाना एवं उनका सर्वांगीण विकास करने का प्रयत्न करना परिवार का कार्य था।

4. धार्मिक कार्य करना-परिवार के मूल में धर्म था। परिवार के सदस्यों को धर्मरत रखना परिवार का कार्य था। परिवार में धार्मिक कार्य सबके द्वारा संयुक्त रूप से किये जाते थे।

5. तीन ऋण-धर्मशास्त्रों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति देवताओं, ऋषियों और अन्य मनुष्यों से समय-समय पर ज्ञान, साधन व शक्ति प्राप्त कर अपने जीवन को सफल एवं सुखी बनाता है।

   इस प्रकार वह देवताओं, ऋषियों तथा अन्य प्राणियों के प्रति ऋणी हो जाता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को इन तीन ऋणों से उऋण होने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। ये तीन ऋण हैं-

   i) पितृ ऋण-इस ऋण से व्यक्ति सन्तानोत्पत्ति करके उऋण समझा जाता है।

   ii) ऋषि ऋण-इसकी पूर्ति स्वाध्याय द्वारा मानी जाती थी।

   iii) देव ऋण-नियमपूर्वज यज्ञों का अनुष्ठान करके व्यक्ति इस ऋण से उऋण समझा जाता है।

   धर्मशास्त्रों की इस व्यवस्था के अनुसार इन तीन ऋणों को चुकाना प्रत्येक व्यक्ति का क्रमशः सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक कर्तव्य माना जाता था।

6. पंच महायज्ञ-प्राचीन भारतीय परिवारों के दैनिक कार्यक्रम में पंच-महायज्ञों को करने का विधान था। ये पंच महायज्ञ निम्नलिखित थे-

   i) ब्रह्मयज्ञ-इस यज्ञ के माध्यम से व्यक्ति विद्याध्ययन कर ऋषियों एवं विद्वानों के प्रति सम्मान प्रकट करता है।

   ii) देवयज्ञ-यह यज्ञ देवताओं के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए किया जाता था। इस यज्ञ के माध्यम से देवताओं को अग्नि में घी, अन्न आदि की आहूतियाँ दी जाती थी।

   iii) पितृयज्ञ-इस यज्ञ के द्वारा अपने पितरों के लिए श्राद्ध एवं तर्पण का आयोजन किया जाता था।

   iv) अतिथि यज्ञ-अतिथि सत्कार साधुओं को भोजन देना आदि इस यज्ञ के अन्तर्गत आते थे।

   v) भूत यज्ञ-भोजन करने से पूर्व पशु-पक्षियों को भोजन देना इस यज्ञ के अन्तर्गत आता था।

इन यज्ञों का महत्व इस बात में निहित है कि समाज और संस्कृति के प्रति भी मनुष्य के कुछ कर्तव्य हैं जिनको पूरा करना उसका परम धर्म है। इन यज्ञों का मुख्य प्रयोजन मनुष्य को नित्य ईश्वर भक्ति, स्वाध्याय, ऋषियों के प्रति श्रद्धा, पूर्वजों को स्मरण रखने आदि के लिए प्रेरित करना था।

7. संस्कार-भारतीय परिवारों में संस्कारों में महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय शास्त्रकारों ने मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों और व्यक्तित्व के विकास के लिए इन संस्कारों का विधान बनाया। इनकी मान्यता थी कि संस्कारों से मनुष्य का शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक एवं सांस्कृतिक विकास सम्भव है। धर्मशास्त्रों में निम्नलिखित 16 संस्कारों की व्यवस्था की गई

1. गर्भाधान, 2. पुसवन, 3. सीमन्तोन्नयन, 4. जातकर्म, 5. नामकरण, 6. निष्क्रमण, 7. अन्नप्राशन, 8. चूड़ाकर्म, 9. कर्णछेदन, 10. विद्यारम्भ, 11. उपनयन, 12 वेदारम्भ, 13. गोदान (केशान्त) 14. समावर्तन, 15 विवाह, 16 अन्त्येष्टि।

भारतीय परिवार की विशेषताएँ

भारतीय परिवार की प्रमुख विशेषताएँ अग्रलिखित हैं-

1. संयुक्त परिवार प्रथा-संयुक्त परिवार प्रथा भारतीय समाज की प्रमुख विशेषता है। संयुक्त परिवार प्रथा परिवार के समस्य सदस्यों की बहुमुखी उन्नति में सहायक सिद्ध हुई है। इसके माध्यम से परिवार के दुर्बल, वृद्ध, अनाथ तथा विधवाओं को भी जीवनयापन की सुविधाएँ प्राप्त होती हैं।
2. स्त्रियों का आदर-भारतीय परिवार में नारियों को सम्मान दिया जाता है। परिवार की व्यवस्था में स्त्रियों का महत्वपूर्ण हाथ रहता है। वह गृहस्वामिनी होती है। 'मनुस्मृति' में कहा गया है कि "जहाँ नारियों की पूजा की जाती है, उनका सम्मान किया जाता है, वहाँ देवताओं का निवास होता है। जहाँ स्त्रियों का सम्मान नहीं होता, वहाँ सब काम निष्फल होते हैं।" इससे स्पष्ट है कि भारतीय परिवारों में नारियों को पूर्ण सम्मान प्राप्त था।
3. पारिवारिक प्रेम-भारतीय परिवार के सभी सदस्यों में प्रगाढ़ प्रेम की भावना पाई जाती है। परिवार के सभी सदस्य आपस में मिल-जुलकर प्रेमपूर्वक रहते हैं तथा सुख-दुःख में एक-दूसरे की सहायता करते हैं। इसी प्रेम की भावना के कारण विवाह के बाद भी पुत्र अपने परिवार से अलग नहीं होता तथा अपने परिवार के साथ ही रहता है। पुत्री के विवाह के बाद भी परिवार के सदस्य समय-समय पर उसे बुलाते हैं तथा उसे त्यौहारों पर भेंट, उपहार आदि देते हैं। यह सब प्रेम का प्रतीक है।
4. कर्तव्य की प्रधानता-परिवार में कर्तव्यपालन पर विशेष बल दिया जाता है। परिवार के सभी सदस्यों के कर्तव्य निर्धारित किये हुए हैं, जिनका पालन करना प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य माना जाता है। हमारे धर्म-ग्रन्थों में एक मनुष्य का दूसरे के प्रति कर्तव्य, समाज तथा राज्य के प्रति कर्तव्य, माता-पिता एवं गुरुजनों के प्रति कर्तव्यों का विस्तार से वर्णन किया गया है।
5. नियमों का बन्धन-भरतीय परिवार में प्रत्येक सदस्य के लिए नियम बने हुए हैं जिनका पालन करना प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य माना जाता है जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त प्रत्येक हिन्दू परिवार को अनेक संस्कारों की व्यवस्था करनी पड़ती है। इसी प्रकार धर्मशास्त्रों में व्रत-उपवास तथा त्यौहारों का भी विधान है। भारतीय परिवार के सभी सदस्यों को इन नियमों के अन्तर्गत कार्य करना पड़ता है।
6. अतिथि सत्कार-अतिथियों का सत्कार करना भारतीय परिवारों की एक अन्य प्रमुख विशेषता है। घर में आने वाले किसी भी अतिथि का सत्कार करना तथा उसके भोजन एवं निवास की व्यवस्था करना

प्रत्येक गृहस्थ का प्रमुख कर्तव्य माना जाता है। 'मनुस्मृति' में कहा गया है कि "जो गृहस्थ देवता, अतिथि, मृत्यु, माता-पिता का संरक्षण नहीं करता, वह श्वास लेते हुए भी निष्प्राण है।"

7. धर्म का महत्व-भारतीय परिवार में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। परिवार के सभी सदस्य ध र्मानुसार आचरण करते हैं। धर्म का अभिप्राय कर्तव्य से है। परिवार के मुखिया की आज्ञाओं का पालन करना सबका धर्म माना जाता है।

8. एक विवाह की प्रधानता-भारतीय परिवारों में एक विवाह को ही महत्व दिया गया हैं यद्यपि कुछ लोग अनेक स्त्रियों से भी विवाह करते हैं, परन्तु अधिकांश लोग केवल एक स्त्री से ही विवाह करते हैं। भारतीय परिवार पश्चिमी परिवारों से भिन्न हैं क्योंकि यहाँ उन्हें यौन सम्बन्धों के साथ-साथ सामाजिक मूल्यों से भी बाँधा गया है।

निष्कर्ष-उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि एक परिवार में संरचनात्मक और कार्यात्मक दोनों प्रकार की विशेषताओं का होना आवश्यक है। संरचनात्मक पक्ष के अन्तर्गत जहाँ पति-पत्नी और बच्चों का होना, उनके वैवाहिक और रक्त सम्बन्धों का होना आवश्यक है। उसी प्रकार कार्यात्मक पक्ष के अन्तर्गत बच्चों की उत्पत्ति, उनका पालन-पोषण व समाजीकरण की प्रक्रियाएँ मिलकर उस समूह को परिवार का रूप देती हैं। विभिन्न सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार परिवार की रचना के सम्बन्ध में विभिन्न प्रथाएँ प्रचलित हैं। इस कारण परिवार के अनेक प्रकार भी पाये जाते हैं।

भारतीय संस्कृति की विशेषताओं में से संयुक्त परिवार विशेषतया भी एक महत्वपूर्ण विशेषता है। यह प्रणाली भारत के हर क्षेत्र में आज भी विद्यमान है। मैक्समूलर नाम विद्वान ने संयुक्त परिवार को भारत की आदि परम्परा माना है जो सदियों से भारतीयों को सामाजिक विरासत के रूप में प्राप्त होती रही है। श्री पणिक्कर ने लिखा है, "सैद्धान्तिक रूप में असम्बन्धित होते हुए भी, ये दोनों संस्थाएँ, जाति और संयुक्त परिवार, व्यावहारिक रूप में एक-दूसरे में इस प्रकार गुँथी हैं कि वे एक सामान्य संस्था ही हो गई हैं; हिन्दू समाज की इकाई व्यक्ति न होकर संयुक्त परिवार है।"

यद्यपि लेखक ने दोनों ही संस्थाओं को एक ही संस्था के रूप में मान लिया है, मगर वास्तविकता यह है कि दोनों ही संस्थाएँ एक-दूसरे से भिन्न संस्थाएँ हैं।

संयुक्त परिवार का अर्थ एवं परिभाषाएँ (Meaning and Definitions of Joint Family)

भिन्न-भिन्न समाजशास्त्रियों ने संयुक्त परिवार हेतु भिन्न-भिन्न प्रकार की परिभाषाएँ दी हैं, उनमें निम्नलिखित मुख्य हैं-

1. श्रीमती इरावती कर्वे ने अपनी पुस्तक "Kinship Organization in India" में इस बात का उल्लेख किया है कि "एक संयुक्त परिवार उन लोगों का समूह है, जो साधारणतः एक ही भवन में रहते हैं, जो एक ही रसोई में बना हुआ भोजन करते हैं, जो सम्पत्ति के सम्मिलित स्वामी होते हैं, सामान्य पूजा में भाग लेते हैं और जो किसी न किसी प्रकार एक-दूसरे के रक्त सम्बन्धी हैं।"

2. डॉ. आर. पी. देसाई ने अपनी पुस्तक "The Joint Family in India" में उल्लेख किया है कि हम उस गृह को संयुक्त परिवार कहते हैं, जिसमें एकाकी परिवार से अधिक पीढ़ियों (अर्थात् तीन या अधिक) के सदस्य रहते हों और जिसके सदस्य एक-दूसरे से सम्पत्ति और पारस्परिक अधिकारों तथा कर्तव्यों द्वारा सम्बद्ध हों।"

3. बुलेटिन ऑफ दी क्रिश्चियन इन्स्टीट्यूट फॉर दी स्टडी ऑफ सोसायटी में उल्लेख है कि "संयुक्त परिवार से हमारा अभिप्राय उस परिवार से है जिसमें कई पीढ़ियों के सदस्य एक-दूसरे के प्रति पारस्परिक कर्तव्यपरायणता के बन्धन में बँधे रहते हैं।

NOTES

4. डॉ. एस. सी. दुबे ने लिखा है कि "यदि कई मूल परिवार एक साथ रहते हों और इनमे निकट का नाता हो, एक ही स्थान पर भोजन करते हों और एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करते हों तो उन्हें सम्मिलित रूप में संयुक्त परिवार कहा जा सकता है। '
5. जौली के अनुसार, "न केवल माता-पिता तथ सन्तान, भाई तथा सौतेले भाई सामान्य सम्पत्ति पर रहते हैं, बल्कि कभी-कभी इनमें कई पीढ़ियों तक की सन्तानें, पूर्वज तथा समानान्तर सम्बन्धी भी सम्मिलित रहते हैं।"
6. श्री मुल्ला के अनुसार, "संयुक्त परिवार में वे सभी व्यक्ति आ जाते हैं जो एक सामान्य पूर्वज के वंशज हैं। ऐसे परिवार में न केवल रक्त सम्बन्धी ही, बल्कि विवाह सम्बन्धों के आधार पर बनने वाले सदस्य भी पाये जाते हैं। ये सभी सदस्य न केवल सम्पत्ति के दृष्टिकोण से, बल्कि पूजा और भोजन के दृष्टिकोण से अलग भी रहें परन्तु इनमें सम्पत्ति का विभाजन नहीं हुआ है तो ऐस परिवार कानूनी दृष्टिकोण से संयुक्त परिवार ही कहलाते हैं। '
7. बी. आर. अग्रवाल "संयुक्त परिवार के सदस्य परिवार के मामलों में, धर्म में, पूँजी के विनियोग में, लाभ के उपयोग में और संयुक्त धनराशि के जन्म, विवाह और मृत्यु व्यय करने के मामले में वृद्ध आदमी के अधिकार को मानते हैं।"

डॉ. श्यामाचरण दुबे, देसाई, कर्वे इत्यादि की परिभाषाओं से यह ज्ञात होता है कि संयुक्त परिवार एक वह समूह है, जिसमें माता-पिता, दादा-दादी, बच्चों के बच्चे एक सामान्य निवास स्थान, एक सामान्य रसोई घर, एक सामान्य कोष, एक सामान्य धर्म, एक सामान्य पितृ पूजा में विश्वास करते हैं। इन गुणों के अतिरिक्त भी डॉ. देसाई की परिभाषा से तो यह सिद्ध होता है कि यदि केवल सामान्य पैतृक सम्पत्ति पर सामान्य अधिकार सभी सदस्यों में विद्यमान हों तो उसे भी संयुक्त परिवार ही कहा जाएगा। वर्तमान काल में औद्योगीकरण एवं नगरीकरण की प्रक्रियाओं के प्रभावों के परिणामस्वरूप सभी तरह की विशेषताएं तो सम्भव नहीं हो सकती, मगर सामान्य सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार वाली विशेषता अवश्य पाई जाएगी।

संयुक्त परिवार के लक्षण / विशेषताएँ (Common Features of Joint Family)

भिन्न-भिन्न समाजशास्त्रियों की अवधारणाओं से यह ज्ञात होता है कि संयुक्त परिवार के प्रमुख लक्षण अग्रलिखित हैं-

1. सामान्य निवास स्थान संयुक्त परिवार में सभी सदस्य एक ही सामान्य निवास स्थान पर रहते हैं। यही कारण है कि परिवार में प्रेम और सहयोग की भावनाएँ स्वतः उत्पन्न हो जाती हैं। डॉ. आर. पी. देसाई ने सामान्य निवास स्थान को संयुक्त परिवार का आवश्यक लक्षण नहीं माना है-मगर उनका यह दृष्टिकोण उचित प्रतीत नहीं होता। इस बात का समर्थन श्री मोती लाल गुप्ता ने भी किया है। इसका मुख्य कारण है कि पृथक्-पृथक् घरों में अलग-अलग निवास करने वाले एकाकी परिवार ही कहलाते हैं और उनके संकलन को संयुक्त परिवार नहीं कहा जा सकता। यदि इससे देसाई की परिभाषा को लागू कर लें, तो फिर हर एकाकी परिवार किसी न किसी रूप में संयुक्त परिवार ही कहलाएगा। ऐसे निवास स्थान में तो और भी कई असमानताएँ होती हैं।

2. सामान्य रसोईघर-संयुक्त परिवार के निर्माण हेतु सामान्य रसोईघर का होना भी आवश्यक है। भारत में परिवार के भी सदस्य एक ही रसोईघर में पके हुए भोजन का प्रयोग करते थे। ऐसा करने से सभी सदस्यों में स्वाभाविक रूप से प्रेम एवं सहयोग की भावनाएँ उत्पन्न हुआ करती थी। यद्यपि आध निक नवीन व्यवस्थाओं ने इस व्यवस्था को बहुत ही आघात पहुँचाया है, मगर फिर भी जहाँ पर भी संयुक्त परिवार मिलते हैं, उनमें यह विशेषता अभी भी पाई जाती है।

3. सामान्य कोष – संयुक्त परिवार की यह भी विशेषता है कि सभी सदस्यों हेतु एक सामान्य कोष का निर्माण किया जाता है। परिवार के समस्त सदस्यों की आय सामान्य कोष में जमा हो जाती है तथा इसमें से सम्पूर्ण परिवार का व्यय चलता है। इसमें व्यय आय पर आधारित न होकर आवश्यकता पर आधारित होता है। परिवार के सभी सदस्य पुरुष चाहे वे कमाते हों या नहीं, स्त्रियाँ विवाहिता, विधवा इत्यादि तथा बच्चे, परिवार में उपलब्ध सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं के उपभोग करने के सामन अधिकारी होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आय के अनुसार न मिल करके उसकी आवश्यकताओं के अनुसार मिलता है। संयुक्त परिवार में सम्पत्ति परिवार की होती है, न कि व्यक्ति की। समाजशास्त्री चन्द्रशेखर ने उचित लिखा है कि, "संक्षेप में संयुक्त परिवार केवल उत्पादन के साधनों का सामान्य स्वामित्व तथा श्रम के प्रतिफल का सामान्य उपभोग है। '

4. सामान्य पूजा तथा धर्म-कर्म संयुक्त परिवार के सभी सदस्य एक ही धर्म के सिद्धान्तों को मानते हैं तथा पूर्वजों का देवी-देवताओं के रूप में सम्मान करते हैं। पितृ पूजा परिवार की संस्था को कई प्रकार से प्रभावित करती है। इसे पारिवारिक सदस्य सामूहिक ढंग से किया करते थे। उनकी पूजा का स्थान वही होता है, जो कि पूर्वजों ने निश्चित किया है। श्री राधाविनोद पाल का यह कथन है कि "धार्मिक विधियों का प्रारम्भिक रूप मृत व्यक्तियों की पूजा थी। वंशजों का यह कथन था कि वे उनकी पूजा को जारी रखें। अतः इससे पूर्ण रूप से न सही आँशिक रूप से ही परिवार के संरक्षण को सर्वत्र बड़ा महत्व मिला। इसलिए हिन्दू, यूनानी और रोमन कानूनों में पुरानी सीमाओं (पूर्वजों द्वारा बनाई पारिवारिक भू-सम्पत्ति की) के उल्लंघन के लिए कठोर दण्ड नियत किए गए थे। प्रारम्भिक युगों के लोगों ने परिवार तथा भूमि में एक रहस्यमय सम्बन्ध की कल्पना की। परिवार के सदस्यों के पितरों के प्रति धर्म पालन के कुछ कर्तव्य होते थे। वे उन कर्तव्यों से (पारिवारिक) भूमि और यज्ञ वेदी से जुड़े रहते थे। जैसे यज्ञवेदी भूमि से संयुक्त रहती थी, उसी प्रकार परिवार भूमि के साथ बँधा रहता था। "इस तरह से दैनिक पूजा, त्यौहार के अवसर पर पूजा, संस्कार तथा श्रद्धा इत्यादि परिवार के सदस्यों को एक-दूसरे से बाँधे रहते हैं।

5. रक्त सम्बन्ध से सम्बन्धित-परिवार के सभी सदस्य परस्पर रक्त सम्बन्धी होते हैं किन्तु पत्नियाँ विवाह सम्बन्धी होती हैं।

6. सहयोगी व्यवस्था-संयुक्त परिवार पारस्परिक सहयोग पर आधारित है। सहयोग के अभाव में संयुक्त परिवार का अधिक समय तक संयुक्त बना रहना सम्भव नहीं हैं संयुक्त परिवार में, 'एक सबके लिए और सब एक के लिए' वाला सिद्धान्त लागू होता है। संयुक्त परिवार के सदस्यों में एक उत्पादक इकाई के रूप में परस्पर सहयोग पाया जाता है।

7. सामान्य संस्कृति-संयुक्त परिवार की विशेषताओं में यह भी एक विशेषता है। सभी सदस्य सामान्य जनरीतियों, रूढ़ियों, प्रथाओं एवं परम्पराओं को स्वीकारते हैं। एक सामान्य संस्कृति का विश्वास ही परिवार में प्रेम एवं सहयोग की भावनाओं को बनाने में योगदान देता है। भौतिकवाद से प्रेम होने के

पश्चात् भी आध्यात्मिकता एवं अपनी संस्कृति के सिद्धान्तों के प्रति विश्वास की भावनाएँ कम नहीं हुई हैं। इस तरह की समानताएँ भी प्रेम एवं सहयोग का कारण बनती हैं।

8. बड़ा आकार-संयुक्त परिवार में कई पीढ़ियों के सदस्य एक साथ रहते हैं, जैसे-दादा-पिता-पुत्र, उनकी पत्नियाँ और अनके नाते-रिश्तेदार। इन सभी के एक साथ रहने पर परिवार का स्वरूप बड़ा होना स्वाभाविक ही है। संयुक्त परिवार में सदस्यों की संख्या काफी अधिक होती है। कभी-कभी तो इसके सदस्यों की संख्या 50-60 तक हो जाती है। गाँवों में शहरों की अपेक्षा बड़े आकार वाले परिवार पाए जाते हैं।

9. स्थायित्व डॉ. मोतीलाल गुप्ता के अनुसार, इस तरह के परिवारों में अन्य परिवारों की तुलना में स्थायित्व का तत्व अधिक मात्रा में पाया जाता है। सभी सदस्य पारस्परिक कर्तव्यपरायणता के सूत्र में बँधे रहते हैं। सभी एक-दूसरे के लिए कार्य करते रहते हैं। किसी सदस्य के मरने, अपंग या वृद्ध होने पर भी परिवार में विघटनकारी प्रक्रिया शुरू नहीं हो पाती है। इसके अतिरिक्त इस तरह के परिवारों में सांस्कृतिक निरन्तरता भी रहती है, जो युगों-युगो से चली आ रही है। इस कारण भी इसमें स्थायित्व का गुण उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

10. सामान्य सामाजिक कार्य-कापड़िया के अनुसार संयुक्त परिवार में सभी सामाजिक कार्यों के लिए परिवार को एक व्यक्ति माना जाता है और उसका एक प्रतिनिधि ही सारे परिवार की तरफ से भाग लेता है जो प्रायः मुखिया होता है। चाहे वह जाति-पंचायत की सभा हो या किसी के यहाँ विवाह, मृत्यु-भोज आदि में सम्मिलित होना हो।

11. सम्मिलित सम्पत्ति संयुक्त परिवार का यह भी एक मुख्य लक्षण है कि इसमें सम्पत्ति का सम्मिलित स्वामित्व रहता है। पारिवारिक सम्पत्ति पर व्यक्ति का अधिकार न होकर सम्पूर्ण परिवार का अधिकार होता है। इस सम्पत्ति का प्रयोग सम्पूर्ण परिवार के हितों के लिए किया जाता है। सभी सदस्यों की आय एक सामान्य कोष में जमा हो जाती है और परिवार का मुखिया प्रत्येक की आवश्यकतानुसार उस सम्मिलित कोष में से खर्च करता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार कमाता है मगर आवश्यकतानुसार उसे सब कुछ मिल जाता है।

12. परिवार का मुखिया परिवार का सबसे बुजुर्ग सदस्य मुखिया के रूप में कार्य करता है जिसे कर्त्ता कहा जाता है। परिवार के सभी सदस्यों में कर्त्ता की स्थिति सर्वोच्च होती है। परिवार के प्रत्येक महत्वपूर्ण निर्णय उसी के द्वारा लिए जाते हैं। सभी सदस्य उनकी आज्ञा का पालन करते हैं और वही अनुशासन और एकता बनाये रखता है।

13. सदस्यों में एक निश्चित संस्तरण संयुक्त परिवार के सदस्यों के अधिकारों और स्थितियों में भिन्नता एवं निश्चितता पाई जाती है। संयुक्त परिवार में कर्त्ता का सर्वोच्च स्थान होता है। कर्त्ता की पत्नी का दूसरा स्थान होता है। वह धार्मिक कार्यों का संचालन करती है एवं घरेलू कार्यों को कराने के लिए परिवार की अन्य स्त्रियों को आदेश एवं निर्देश देती है। इस संस्तरण में तीसरा स्थान कर्त्ता के भाइयों का होता है। चौथा स्थान कर्त्ता के सबसे बड़े पुत्र का होता है। उसके बाद छोटे पुत्र, पुत्रों की पत्नियों, पुत्रियों का स्थान होता है। संयुक्त परिवार में विधवा स्त्रियों का सबसे निम्न स्थान होता है।

14. पारस्परिक कर्तव्यपरायणता उपर्युक्त सभी लक्षणों के अतिरिक्त संयुक्त परिवार का एक प्रमुख लक्षण परिवार के सभी सदस्यों में कर्तव्यपरायणता की भावना का होना है। श्री मोतीलाल गुप्ता के अनुसार, "सामान्य निवास-स्थान, सामान्य रसोईघर, सामान्य सम्पत्ति, सामान्य पूजा एवं

धार्मिक कर्तव्यपरायणता इसकी आत्मा है। ''डॉ. देसाई के अनुसार, ''यदि संयुक्त परिवार के सदस्य परिस्थितियोंवश अलग-अलग स्थानों पर रहते हुए भी एक-दूसरे के प्रति कर्तव्यों का पालन करते हैं, एक-दूसरे के सुख-दुःख में साथ देते हैं तो अन्य भौतिक लक्षणों के न होने पर भी, वे सभी एक संयुक्त परिवार के सदस्य ही माने जाएंगे।''

संयुक्त परिवार की रचना संयुक्त परिवार की संरचना के निम्नलिखित प्रमुख अंग हैं-

1. पिता-संयुक्त परिवार में पिता का सर्वोच्च स्थान होता था। वह परिवार का मुखिया होता था। परिवार के सभी सदस्य उसकी आज्ञाओं का पालन करते थे। परिवार की आय और व्यय पर उसी का नियन्त्रण होता था। वह परिवार के धार्मिक कार्य सम्पन्न कराता था। बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था करता था तथा सभी सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति करता था।

2. माता-संयुक्त परिवार में माता की स्थिति भी महत्वपूर्ण होती थी। उसका भी परिवार में सम्मान किया जाता था। वैदिक काल में माता को उच्च स्थान प्राप्त था। वह परिवार के आन्तरिक मामलों के प्रबन्ध में हाथ बँटाती थी। वह स्त्री-सदस्यों से सम्बन्धित मामलों का निपटारा करती थी।

3. पुत्र – संयुक्त परिवार में पुत्र का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है। श्रद्धा, तर्पण, संस्कार आदि से सम्बन्धित अधिकार पुत्रों को ही प्राप्त होते हैं। पुत्र उत्पन्न होने पर ही पिता पितृ ऋण से मुक्त माना जाता था। परिवार एवं भावी वंश के विकास के लिए भी पुत्र का होना आवश्यक समझा जाता था। पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान था। पिता की मृत्यु के पश्चात् वही परिवार का प्रधान होता था।

4. पति-संयुक्त परिवार में पति का भी महत्वपूर्ण स्थान था। पति का पत्नी पर नियंत्रण होता था। पति को भर्ता कहा गया है। वह अपनी पत्नी को प्रताड़ना अथवा दण्ड दे सकता था।

5. पत्नी-पत्नी अर्द्धांगिनी के रूप में पुरुष का आधा अंग मानी जाती थी। पति को देवता मानकर उसकी प्रत्येक आज्ञा और इच्छा का पालन करते रहना ही उसका कर्तव्य था। धीरे-धीरे स्त्रियों की स्थिति में गिरावट आती गई और पत्नी भार वहन करने वाली स्त्री के रूप में समझी जाने लगी। सामाजिक कुरीतियों जैसे; बाल-विवाह, बहु-विवाह, सतीप्रथा, पर्दाप्रथा, दहेज-प्रथा आदि के कारण स्त्रियों की दशा दयनीय होती गई।

6. पुत्री-संयुक्त परिवार में पुत्री की स्थिति अच्छी नहीं थी। यद्यपि मनु ने पुत्र तथा पुत्री में कोई अन्तर नहीं किया है, परन्तु भारतीय संयुक्त परिवारों में पुत्रियों की उपेक्षा की जाती थी। उन्हें दुःख तथा कष्ट का सूचक माना जाने लगा।

7. सास एवं बहू-संयुक्त परिवार में प्रायः सास एवं बहू के सम्बन्ध कटुतापूर्ण होते हैं। अनेक बातों को लेकर दोनों के बीच तनाव और संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। यदि सास बहू के प्रति दया एवं सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करे तथा बहू सास का आदर करते हुए उसकी आज्ञाओं का पालन करे, तो दोनों के बीच मधुर सम्बन्ध स्थापित हो सकते हैं।

8. देवर-भाभी-संयुक्त परिवार में देवर-भाभी के सम्बन्धों में मधुरता रहती है। देवर अपनी व्यक्तिगत बातों को अपनी भाभी के सामने निस्संकोच कह देता है। भाभी भी उसकी समस्याओं के समाध न में सहायता करती है। वह देवर के लिए माँ, बहिन और परामर्शदाता के रूप में होती है।

9. ननद-भाभी-संयुक्त परिवार में ननद-भाभी के सम्बन्ध बड़े रोचक होते हैं। भाभी ननद के माध्यम से परिवार के बड़े-बूढ़ों तथा सास तक अपनी बात पहुँचाती हैं दूसरी ओर ननद भी अपने दिल की बात

भाभी को बता देती है, परन्तु कभी-कभी दोनों के बीच कटुता भी उत्पन्न हो जाती है तथा भाभी को अनेक परेशानियों का सामना करना पड़ता है।

NOTES

संयुक्त परिवार के कार्य-सन्तानोत्पत्ति तथा बच्चों के पालन-पोषण के अतिरिक्त संयुक्त परिवारों के प्रमुख कार्य अग्रलिखित हैं-

1. विवाह एवं सन्तानोत्पत्ति-विवाह एक धार्मिक संस्कार था तथा सन्तानोत्पत्ति करना भी एक ध ार्मिक कार्य माना जाता था। अतः पुत्र एवं पुत्री का उचित समय पर विवाह संस्कार करना भी संयुक्त परिवार का एक प्रमुख कार्य था।
2. बच्चों का पालन-पोषण करना-बच्चों का पालन-पोषण करना भी भारतीय संयुक्त परिवार का एक प्रमुख कार्य था। बच्चों के निवास, भोजन, वस्त्र, मनोरंजन, आर्थिक आवश्यकताओं आदि की पूर्ति करना तथा उनके विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करना भी संयुक्त परिवार का महत्वपूर्ण कार्य था।
3. सदस्यों की शिक्षा की व्यवस्था करना-अपने सदस्यों की शिक्षा का प्रबन्ध करना भी संयुक्त परिवार का कार्य था। अपने सदस्यों को उचित शिक्षा दिलाना एवं उनके सर्वांगीण विकास करने का प्रयत्न करना संयुक्त परिवार का दायित्व था।
4. धार्मिक कार्य सम्पन्न करना-संयुक्त परिवार के मूल में धर्म था। संयुक्त परवार के सदस्यों को धर्मरत रखना संयुक्त परिवार का कार्य था। संयुक्त परिवार में धार्मिक कार्य सबके द्वारा संयुक्त रूप से किये जाते थे। धार्मिक उत्सवों की तैयारी मिल-जुलकर की जाती थी और उन्हें उत्साहपूर्वक मनाया जाता था।
5. तीन ऋण-भरतीय चिन्तकों के अनुसार प्रत्येक मनुष्य देवताओं, ऋषियों तथ माता-पिता आदि से कुछ न कुछ ज्ञान, शक्ति आदि प्राप्त करता है, जिसके आधार पर वह अपने जीवन को सुखी एवं सम्पन्न बनाता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को इन ऋणों से मुक्त होने के लिए प्रयास करना चाहिए। ये तीन ऋण हैं-
   (i) देवऋण-यज्ञादि द्वारा देवऋण से मुक्त होने का प्रयास करना।
   (ii) ऋषिऋण-स्वाध्याय द्वारा ऋषिऋण से मुक्त होने का प्रयास करना।
   (iii) पितृऋण-संतान उत्पन्न कर उसे योग्य बनाकर पितृ ऋण से मुक्त होने का प्रयास करना।
6. पंच महायज्ञ-धर्मशास्त्रों के अनुसार प्रत्येक परिवार को प्रतिदिन निम्नलिखित पांच महायज्ञ करने चाहिए-
   (i) ब्रह्मयज्ञ-इस यज्ञ के माध्यम से मनुष्य वेदों के अध्ययन तथा अध्यापन के द्वारा अपने प्राचीन ऋषियों के प्रति सम्मान की भावना व्यक्त करता है।
   (ii) देवयज्ञ-यह यज्ञ देवताओं के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए सम्पादित किया जाता है। इसके अन्तर्गत देवताओं के लिए घी, दूध, अन्न आदि की अग्नि में आहूती दी जाती है।
   (iii) पितृयज्ञ-इस यज्ञ में पितरों के लिए श्रद्धा एवं तर्पण का आयोजन होता है।
   (iv) मनुष्य यज्ञ-इस यज्ञ में स्वयं भोजन करने से पहले किसी अतिथि को भोजन कराया जाता है।
   (v) भूतयज्ञ-इसमें जीव-जन्तुओं को भोजन डाला जाता है।

स्व-प्रगति की जाँच करें :

1. भारतीय परिवार के 'संस्कार' कार्य स्पष्ट करें।
2. भारतीय परिवार में एक विवाह की प्रधानता का विचार क्या है?

7. सोलह संस्कार-भारतीय संयुक्त परिवार में संस्कारों का महत्वपूर्ण स्थान है, संस्कारों से मनुष्य का शारीरिक, बौद्धिक, मानिसक, चारित्रिक एवं व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सम्भव हो सकता है। धर्मशास्त्रों के अनुसार प्रत्येक भारतीय संयुक्त परिवार के निम्नलिखित 16 संस्कारों का सम्पादन करना चाहिए 1. गर्भाधान 2. पुसवंन 3. सीमन्तोन्नयन 4. जातकर्म 5. नामकरण 6. निष्क्रमण 7. अन्नप्राशन 8. चूड़ाकर्म 9. कर्णवेध 10. विद्यारम्भ 11. उपनयन 12. वेदारम्भ 13. केशान्त 14. समावर्तन 15 विवाह 16. अन्त्येष्टि।

भारतीय संयुक्त परिवार की संरचना

भारतीय संयुक्त परिवार की संरचना का विवेचन निम्नलिखित हैं-

1. पिता-भारतीय संयुक्त परिवार में पिता का सर्वोच्च स्थान होता है। प्राचीन काल से ही पिता का परिवार पर पूर्ण अधिकार और नियन्त्रण होता था। परिवार के सभी सदस्य उसे आदर और सम्मान की दृष्टि देखते थे। वह 'गृहपति' या 'गृहस्वामी' कहलाता था। वह परिवार का भरण-पोषण तथा देख-रेख करता था। इसलिए उसे सन्तान की रक्षा करने वाला कहा गया है। ऋग्वेद में पिता को 'त्राता' 'खाद्य सामग्री दाता' और 'पोषक' बताया गया है। अतः पूर्व वैदिक युग में पिता का गौरवपूर्ण स्थान था। आवश्यकतानुसार वह अपने पुत्रों को स्वयं शिक्षा प्रदान करता था। आरुणेय श्वेतकेतु ने अपने पिता से 24 वर्षों में सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन कर लिया था। मनु का कथन है कि माता-पिता सन्तान उत्पन्न करने में जो कष्ट सहते हैं। उसका बदला 100 वर्ष में भी उनकी सन्तान नहीं दे सकती।

   पिता के लिए कहा गया है कि वह अपने शील, चरित्र, गोत्र और कुल की रक्षा के लिए अपने आपको पत्नी में धारण करता है, उसी से सन्तान उत्पन्न होती है। महाभारत का कथन है कि 'अध्ययन और पोषण' प्रदान करने वाला पहला गुरु पिता ही परम धर्म है। पिता जिस प्रकार का आदेश दे वही ध र्म है। जो पिता के वचनों का पालन करते हैं, उनके पाप धुल जाते हैं। पिता ही धर्म है, परम तप है जिसके प्रसन्न होने पर देवता हर्षित होते हैं।

   परिवार का सर्वोच्च व्यक्ति होने के कारण पिता सदस्यों के प्रति सहृदय, जागरूक और उत्सर्जित रहता था। कभी-कभी सन्तानों द्वारा किये गये अपराधों पर वह कठोर दण्ड भी देता था। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि ऋज्राश्व के अपराध पर उसके पिता ने निर्दयतापूर्वक उसकी आँखें निकालकर उसे दण्डित किया था। उसका केवल यह अपराध था कि उसने 100 भेड़ें एक भेड़िये को खिला दी थी। परन्तु ऐसे उदाहरण अपवाद मात्र हैं। पिता प्रायः पुत्रों को उनकी जुआ खेलने जैसी बुरी आदतों पर प्रताड़ित करता था।

   पिता का अपने कुटुम्ब के सदस्यों पर पूर्ण नियन्त्रण था। पुत्र पर तो उसका सर्वाधिक अधिकार माना जाता था। वह पुत्र का अपनी इच्छानुसार उपयोग कर सकता था। यहाँ तक कि वह उसे बेच सकता था अथवा दान कर सकता था। फिर भी समाज में पिता का विशिष्ट स्थान था। परिवार के सदस्यों पर उसका प्रभावशाली अधिकार था।

2. माता-हिन्दू समाज में माता का स्थान अत्यन्त ऊँचा और गौरवपूर्ण रहा है। पारिवारिक जीवन ही वह अटूट कड़ी है, जिससे परिवार के सभी सदस्य जुड़े हुए हैं। सन्तान का जन्म, पालन-पोषण या शिक्षा-दिक्षा आदि माता से ही होता रहा है। वेदों में माता का अभिनन्दन किया गया है। जब ब्रह्मचारी अध्ययन समाप्त कर लेता था, तो गुरु उसे यह निर्देश देता था कि वह देवता की तरह माता की पूजा करे। धर्मपुत्रों में माता को श्रेष्ठ गुरु कहा गया है क्योंकि सन्तान अपनी प्रारम्भिक शिक्षा माँ से ही

ग्रहण करती है। माता के समान कोई गुरु नहीं है। धर्मशास्त्रकारों के अनुसार पतित-पिता छोड़ा जा सकता था, किन्तु माँ नहीं छोड़ी जा सकती थी। महाभारत के अनुसार माता के लिए कहा गया कि उसकी जैसी छाया, आश्रय स्थल, रक्षा-स्थान और प्रिय वस्तु कोई नहीं है। इसलिए पुत्रों का उसके प्रति प्रगाढ़ प्रेम और असीम श्रद्धा थी।

माता का भी अपने पुत्रों के प्रति असीम स्नेह और अपनत्व होता था। कुन्ती, सत्यवती, सुभद्रा आदि ऐसी माताएँ थीं जिनका पुत्रों के प्रति अगाध स्नेह था। कभी-कभी पराजित तथा हतोत्साहित पुत्र को माता अपनी प्रेरणा से इतना प्रोत्साहित करती थी कि वह पुनः युद्धभूमि में जाने के लिए तैयार हो जाता था तथा विजयश्री प्राप्त करता था। स्मृतिकारों ने भी माता को 'परमगुरु' मानकर परिवार और समाज में उसकी सर्वोच्चता स्वीकार की है। स्पष्ट है कि परिवार में माता का पद अत्यन्त सम्मानित और गौरवपूर्ण रहा है।

3. पति-भारतीय संयुक्त परिवार में पति का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है। अर्जन करने के लिए पति परिवार की सारी व्यवस्था देखता था और परिवार के सदस्यों को अपने विचारों तथा कर्मों से प्रभावित करता था। पत्नी पर उसकी पूर्ण प्रभुता थी। वह पत्नी के लिए देवता माना जाता था। परिवार के सदस्यों के प्रति उसका व्यवहार उदार और सहानुभूतिपूर्ण होता था। वैदिक युग में वह पत्नी का सखा था। दम्पत्ति के रूप में वह परिवार की देखभाल करता था और पत्नी के समान अधिकार को स्वीकार करता था। पति प्रत्येक कार्य में पत्नी का सहयोग प्राप्त करता था। परिवार में दोनों की समान स्थिति थी। पत्नी उसका आधा अंग मानी जाती थी। परवर्ती काल में भी पति और पत्नी की समान स्थिति बनी रही।

दूसरी सदी ई. पूर्व तक आकर पति की श्रेष्ठता परिवार में बढ़ गई। इस युग तक आकर पति अत्यन्त प्रभावशाली और प्रभुता-सम्पन्न हो गया था। परिवार में उसका नियन्त्रण और निर्देश महत्वपूर्ण था। पत्नी का स्तर पति की तुलना में नीचा होने लगा था। आर्थिक व सुरक्षा की दृष्टि से वह पति पर निर्भर होने लगी। विपुल धन प्रदान करने वाला पति पत्नी के पूजा योग्य था। अतः धीरे-धीरे परिवार पर पति की एकछत्र प्रभुता स्थापित हो गई। पत्नी को दण्ड देने तथा अपना दूसरा विवाह करने का अधिकार उसने प्राप्त कर लिया था।

पति को यह अधिकार नहीं था कि वह नारी की हत्या करे। स्त्री का वध 'ब्रह्म-हत्या' और 'गौ-हत्या' जैसे महान पापों के समान माना जाता था तथा ऐसे कार्यों का समाज में कोई भी प्रायश्चित नहीं था। पति अपनी पत्नी को दान भी कर सकता था। महर्षि वशिष्ठ को राजा मित्रसह ने अपनी पत्नी दमयन्ती दान में दी थी। परन्तु परवर्त्ती शास्त्रकारों ने पत्नी-दान पर प्रतिबन्ध लगाया था। याज्ञवल्क्य के अनुसार पत्नी अदेय थी, पत्नी के विक्रय और दान करने का पति को कोई अधि कार नहीं था। पति अपनी पत्नी को दण्ड भी दे सकता था।

पत्नी का भरण और रक्षण पूर्णतः पति पर निर्भर करता था। पत्नी का पालन और उसकी देखभाल करना उसका परम कर्तव्य था। पत्नी की रक्षा करना पति का नैतिक दायित्व था। पत्नी की रक्षा न कर सकने वाला पुरुष पापी और नरकगामी कहा जाता था। पति का व्यवहार अपनी पत्नी के प्रति सदा उदार और सहृदयतापूर्ण रहा है। पत्नी का परिवार में सम्माननीय स्थान था। वह पूजनीय, महाभाग्यवती तथा गृह शोभा थी। प्रायः सभी धर्मशास्त्रकारों ने पति को पत्नी के साथ सर्वोत्तम व्यवहार करने का निर्देश दिया है।

पूर्व मध्ययुगीन भाष्यकारों और लेखकों ने भी पति के कर्तव्यों और अधिकारों का उल्लेख किया है। पत्नी और परिवार का भरण-पोषण पति का प्रधान कर्तव्य था। मेघातिथि के अनुसार वृद्ध माता-पिता, साध्वी, पत्नी और शिशु का पालन सैकड़ों अनुचित कार्य करके भी होना चाहिए। स्वच्छन्द पत्नी का भी भरण-पोषण करना पति का प्रमुख कर्तव्य था। योग्य और उत्तरदायी पति वही था जो अपने दाम्पत्य जीवन को सरस, सुखमय और प्रेमपूर्ण बनाता था। प्रायः सभी धर्मशास्त्रकारों का यह मत रहा है कि पत्नी के ऋतुकाल की सम्पूर्ण अवधि में वह उसके साथ रहकर सन्तान उत्पन्न करे। जो पुरुष ऐसा नहीं करता था, वह भ्रूण हत्या के पाप का भागी होता था। पुरुष प्रत्येक स्थिति में अपनी पत्नी का ध्यान रखता था तथा कठिन और विपरीत परिस्थितियों में भी अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक रहता था।

4. पत्नी-परिवार में पत्नी का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। वह 'जाया' और 'जनि' भी कही जाती थी। परिवार का विकास और महत्व उसी से था। वस्तुतः पत्नी ही घर की आत्मा और प्राण थी। परिवार के सभी कार्यों में उसका सक्रिय सहयोग होता था। वह पुरुष का आधा भाग मानी जाती थी। वह पुरुष की सर्वोत्तम सखा थी। वह धर्म तथा काम की मूल और भव-सागर से तरने की साधन मानी गई थी। वह घर की शोभा और कान्ति थीं। शास्त्रकारों ने कहा है कि सन्तान उत्पन्न करना, धर्म, सेवा, उत्तम सुख (रति) पितरों का और अपना स्वर्ग पत्नी के ही अधीन था। ऐसी पत्नी स्वभावतः पूजनीय थी।

वैदिक युग में पत्नी सर्वोत्कृष्ट थी। वह घर की रानी थी। पति के साथ मिलकर वह सामाजिक और धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करती थी। यज्ञ में वह पति के साथ रहती थी। बिना पत्नी के कोई भी व्यक्ति यज्ञ सम्पन्न नहीं कर सकता था। उत्तर वैदिक काल में पत्नी द्वारा किया जाने वाला याज्ञिक कार्य पुरोहित द्वारा किया जाने लगा। इससे प्रकट होता है कि पत्नी का अधिकार क्रमशः कम होने लगा था। जिससे उसका महत्व भी घटने लगा था। दूसरी सदी ई. पूर्व से स्त्री का स्तर और घटने लगा।

स्नेह युक्त तथा इच्छा के अनुकूल वर्तमान में रहने वाली पत्नी के द्वारा धर्म, अर्थ और काम का फल मिलता है। जो पति के सदा अनुकूल हो, वाणी से दुष्ट न हो, यक्ष हो, साध्वी हो, प्रिय बोलने वाली हो, स्वामिभक्त हो, ऐसी पत्नी देवी के समान है। जिसकी पत्नी सर्वदा पति के अनुकूल रहने वाली हो, उस व्यक्ति के लिए यही स्वर्ग है और यदि वह प्रतिकूल रहने वाली हो तो वह नरक है। जो सर्वदा अनुराग करने वाली हो, वही वास्तविक पत्नी है। सर्वप्रथम तो स्त्री धर्मपत्नी है अर्थात् धार्मिक विधि से धर्म-वृद्धि के लिए ही होती है। दूसरे वह रति बढ़ाने वाली होती है।

वेदव्यास के अनुसार पत्नी को पूर्वान्ह के समस्त कार्य करके अपने गुरु वर्ग का अभिवादन करना चाहिए। तत्पश्चात् भोजन तैयार करके पति को भोजन खिलाना चाहिए। इसी प्रकार वह प्रातः और सायं घर के समस्त कार्य सम्पादित करे। घर का समस्त कार्य पूरा करके सोने के लिए रात्रि में शय्या बिछाये और पति की परिचर्या करे। वह कभी भी न उच्च स्वर से बोले, न कठोर स्वर से और न बहुत अधिक बोले। वह अधिक खर्च न करे।

पति-सेवा और पतिव्रत्य धर्म का पत्नी के लिए अपार महत्व था। अपने कर्तव्यों से वह घर में सुख-समृद्धि का वातावरण बनाये रखती थी। सभी पारिवारिक सदस्यों के प्रति उसका अपार स्नेह और अपनत्व होता था। सास-ससुर, पति, देवर, ननद आदि के प्रति उसकी निष्ठा होती थी तथा उनके प्रति अपने कर्तव्यों का भली-भाँति पालन करती थी। मनु का कथन है कि पत्नी सदा हँसमुख रहे, घर की समस्त वस्तुएँ सुन्दर ढंग से रखे, गृह कार्य को कुशलतापूर्वक करे। अपव्यय न करे, पति के प्रिय कार्यों को करे, सास-ससुर की सेवा करे तथा संयमपूर्वक रहे। कालिदास के अनुसार पति द्वारा

अपमानित किये जाने पर भी पत्नी को पति के विरुद्ध नहीं जाना चाहिए।

पति के विदेश जाने पर पत्नी के लिए विशेष नियमों के पालन का निर्देश धर्मशास्त्रकारों ने किया है। क्रीड़ा, शरीर-सज्जा, अलंकरण, समाजोत्सवों में जाना, हँसना और दूसरों से बातचीत करना आदि का उसके लिए निषेध किया गया है। पतिव्रता स्त्री के लिए यह भी आवश्यक था कि वह निष्ठापूर्वक पति के साथ रहे।

5. पुत्र-संयुक्त हिन्दू परिवार में पुत्र का अत्यधिक महत्व रहा है क्योंकि उससे कुल और वंश की वृद्धि तथा उत्कर्ष होता है। सन्तान से परिवार की वृद्धि होती है और उसकी पूर्णता का लक्ष्य भी पूरा होता है। वेदों में पुत्र-प्राप्ति की अभिलाषा प्रकट की गई तथा पिता को दस पुत्र उत्पन्न करने का आशीर्वाद दिया गया है। पुत्र से ही परिवार की धार्मिक क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं। वह उत्तराधि कारी होता है। पुत्र ही अपने पिता की वृद्धावस्था में देखभाल करता है और उसकी मृत्यु के बाद परिवार का संचालन करता है। पुत्र उत्पन्न होने पर ही पिता को पितृ ऋण से मुक्ति मिलती थी।

   परिवार की सुख-शान्ति पुत्र से ही थी। वह सभी सम्बन्धों का आधार माना गया था। परिवार और समाज में पुत्र से यश मिलता था तथा गौरव बढ़ता था। इसलिए वह वंश का बीज तथा आधार कहा गया। उसके उत्पन्न होने से व्यक्ति का इहलोक और परलोक दोनों सुधर जाते थे।

   अपने माता-पिता की सेवा करना पुत्र का परम कर्तव्य माना गया है। श्रवण कुमार ने अपने अन्ध माता-पिता की निष्ठापूर्वक सेवा की थी और उन्हें विभिन्न तीर्थ कराये थे। माता-पिता का भरण-पोषण करना भी पुत्रों का परम कर्तव्य स्वीकार किया गया है।

6. पुत्री हिन्दू संयुक्त परिवार में पुत्र की तुलना में पुत्री का स्थान उपेक्षणीय तथा दयनीय रहा है। उसके सामाजिक एवं आर्थिक अधिकार अपेक्षाकृत गौण रहे हैं। उसे दुःख और क्लेश का कारण माना जाने लगा। उस पर अनेक प्रकार के नियन्त्रण एवं बन्धन प्रारम्भ हो गए। 'एतरेय ब्रह्मण' में कहा गया है कि "कन्या जन्म के समय स्वजनों को दुःख देती है, विवाह के समय समुचित धन (दहेज) ले जाती है, यौवनावस्था में अनेक दोषों से युक्त होकर वंश को कलंकित कर सकती है। अतः कन्या माता-पिता के हृदय को आघात पहुँचाने वाली होती है।"

   दूसरी ओर महाभारत में कहा गया है कि कन्या में सर्वथा लक्ष्मी निवास करती है। मनु ने उसे पुत्र के समकक्ष माना है और पुत्र के अभाव में उसे उत्तराधिकारी स्वीकार किया है। देवयानी अपने पिता का प्राण थी। द्रौपदी भी अपने पिता से अगाध प्रेम करती थी। राजा जनक अपनी पुत्री सीता के प्रति अगाध स्नेह रखते थे।

   पुत्री को परिवार में अनेक सुविधाएँ और अधिकार प्राप्त थे। यह सही है कि पुत्रों की तुलना में पुत्रियों के अधिकार कम थे, परन्तु वह पूर्ण रूप से उपेक्षणीय नहीं थी। वह पिता द्वारा लालित-पालित होती थी, पिता के ही संरक्षण में बड़ी होती थी और योग्यवर मिलने पर पिता द्वारा ब्याही जाती थी। ध र्मशास्त्रकारों ने यह व्यवस्था दी थी कि यदि बिना विवाह किये ही उसके पिता की मृत्यु हो गई हो, तो उसके विवाह के लिए निश्चित सम्पत्ति सुरक्षित कर दी जाए। इसके अतिरिक्त उसके आजीवन अविवाहित रहने पर भी भरण-पोषण के लिए व्यवस्था की गई थी। माता की मृत्यु पर तो उसका माता के धन पर अधिकार है।

   विज्ञानेश्वर का मत है कि सम्पत्ति के विभाजन के समय पुत्री को चतुर्थांश मिलता था, यह भाग पुत्र की उपस्थिति में उसका चतुर्थांश होता था। 'दायभाग' में वर्णित है कि पैतृक सम्पत्ति थोड़ी होने पर

भी भाई अपने भाग का चतुर्थ हिस्सा देकर बहन का विवाह करता था। यद्यपि प्राचीनकाल में कन्या का सम्पत्ति में अधिकार नहीं था तथापि मध्यकाल में शास्त्रकारों ने सम्पत्ति में उसके अधि कार को मान्यता दी है। दायभाग के अनुसार पुत्र के न होने पर पिता की उत्तराधिकारिणी पुत्री होती थी। पुत्र और पुत्री दोनों ही पिता के सन्तान कारक थे। विज्ञानेश्वर ने लिखा है कि पत्नी पति के धन की उत्तराधिकारिणी थी और उसके न रहने पर पुत्री, क्योंकि पुत्री मनुष्यों के अंग-अंग से उत्पन्न होती है।

संयुक्त परिवार के गुण (Merits of Joint Family)

डॉ. के. एम. कापड़िया, देसाई तथा अन्य विद्वानों ने संयुक्त परिवार को एक श्रेष्ठ व्यवस्था के रूप में स्वीकार किया है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में यह व्यवस्था एक अनुपम एवं प्रेरणास्पद व्यवस्था है। इसी कारण प्राचीन समय में भारत के लोगों की इसमें अत्यधिक आस्था थी और आज भी पाश्चात्य-संस्कृतियों के प्रभाव पड़ने के पश्चात् भी इसमें निष्ठाभाव अभी विद्यमान है। संयुक्त परिवार के गुणों का विवेचन निम्नानुसार है-

1. बच्चों का समुचित ढंग से पालन-पोषण सम्भव संयुक्त परिवार में बच्चों का पालन-पोषण उचित तरीके से हो पाता है, क्योंकि ऐस परिवारों में परिवार के वृद्ध सदस्य भी रहते हैं। वे कठोर परिश्रम करने में तो असमर्थ होते हैं, परन्तु बच्चों को पालन-पोषण में पूर्ण अनुभव होने के कारण अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जबकि एकाकी परिवारों में बच्चों के पालन-पोषण की समस्या पाई जाती है, क्योंकि पति अपने कार्य में व्यस्त रहता है और पत्नी या तो नौकरी करती है या फिर किसी कार्य में व्यस्त रहती है अतः ऐसी स्थिति में वे दोनों ही बच्चों के पालन-पोषण की ओर ध्यान नहीं दे पाते हैं, जिससे बच्चों का विकास अवरुद्ध हो जाता है।

2. परोपकारी एवं सामूहिक जीवन सम्भव संयुक्त परिवार प्रणाली एक ऐसी प्रणाली है, जिसमें सभी सदस्य एक-दूसरे के उद्देश्यों को पूरा करने हेतु एक-दूसरे की सहायता करना अपना कर्तव्य समझते हैं। परिवार में उत्पन्न साधारण व गम्भीर समस्याओं का समाधान वे सामूहिक रूप से करते हैं। परिवार पर किसी प्रकार का संकट आने पर उसका सामना भी वे मिल-जुलकर कर लेते हैं, जिससे ऐसे परिवारों के सदस्यों को अधिक कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता है।

3. धन का उचित उपयोग-संयुक्त परिवार में एक सामान्य कोष होता है और इस कोष में वृद्धि के लिए परिवार का प्रत्येक सदस्य प्रयास करता है। इसी कोष में से परिवार के सदस्यों की सर्वोत्तम आवश्यकताओं के आधार पर धनखर्च किया जाता है। इससे अनावश्यक खर्च से बचा जाता है। इसके अलावा संयुक्त रूप से रहनेपर कम खर्च में ही अधिक व्यक्तियों का भरण-पोषण हो जाता है। इस कोष पर कर्ता का नियन्त्रण होने के कारण धन का उचित तरीके से उपयोग सम्भव होता है।

4. संकट का बीमा मानव जीवन में सुख और दुःख दोनों विद्यमान रहते हैं। कभी-कभी व्यक्ति पर अप्रत्याशित दुःख आ पड़ता है, जैसे-दुर्घटना, बीमारी, मानसिक अस्वस्थता, नौकरी छूट जाना तथा वैधव्य आदि। ऐसे समय पर संयुक्त परिवार ऐसे सदस्यों को संरक्षण प्रदान करता है। इसके अलावा संयुक्त परिवार अनाथ बच्चों, विधवाओं एवं वृद्ध व्यक्तियों को भी शरण देते हैं। संयुक्त परिवार अपने प्रत्येक सदस्य को हर अवस्था में आर्थिक सुरक्षा प्रदान कर उन्हें चिन्ता से मुक्त करता है। अतः इस प्रकार संयुक्त परिवार अपने सदस्यों के लिए संकटकालीन बीमा है।

5. सम्पत्ति के विभाजन से बचाव-संयुक्त परिवार में परिवार के सभी सदस्य एक साथ ही रहते हैं जिससे परिवार की सम्पत्ति का विभाजन नहीं होता है। उस सम्पत्ति का उपयोग परिवार के सभी सदस्यों के

लिए सामूहिक रूप से किया जाता है। इस सम्पत्ति को सामूहिक रूप से व्यापार, उद्योग या अन्य धन्धों में लगाकर इसमें और अधिक वृद्धि की जा सकती है। कृषि के क्षेत्र में तो संयुक्त परिवार और भी उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इसने ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि भूमि के विभाजन को रोकने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है जिससे उत्पादन में वृद्धि हुई है। जबकि एकाकी परिवार में विभाजित भूमि पर उत्पादन के लिए किए गए खर्चों की अपेक्षा कम खर्च किया जाता है।

6. वृद्ध सदस्यों का निर्देशन संयुक्त परिवार में रहने वाले युवा सदस्यों को परिवार के वृद्ध सदस्य अपने अनुभव के आधार पर निर्देशित करते हैं। कई बार युवा सदस्यों के सामने ऐसी विकट स्थिति आ जाती है जिसका समाधान वे नहीं कर पाते हैं, ऐसे समय पर परिवार के वृद्ध सदस्य ही उन्हें मार्गदर्शन देते हैं और उन्हें गलत निर्णय लेने से बचा लेते हैं। एकाकी परिवार में वृद्ध सदस्यों के अभाव में यह लाभ उठा पाना सम्भव नहीं है जिससे कई बार ऐसे परिवार के सदस्य अनुभव के अभाव में गलत निर्णय लेकर परिवार को संकट में डाल देते हैं।

7. कर्ता का नियन्त्रण भारतीय गाँवों का सामाजिक संगठन जटिल नहीं है। यहाँ व्यक्ति की अपेक्षा परिवार को अधिक महत्व दिया जाता है और परिवार का प्रतिनिधित्व कर्ता करता है। कर्त्ता को एक प्रकार से परिवार का शासक भी कहा जा सकता है अतः परिवार के सभी कार्य कर्ता द्वार निर्देशित होते हैं।

8. श्रम विभाजन-संयुक्त परिवार में परिवार के सदस्यों के बीच में उनकी योग्यता एवं रुचि के अनुसार ही कार्यों का विभाजन किया जाता है जिससे प्रत्येक सदस्य की कार्यक्षमता बनी रहती है। संयुक्त परिवार में विशेष रूप से कार्य विभाजन आयु एवं लिंग के आधार पर किया जाता है। अतः पुरुषों को धनोपार्जन एवं बाह्य कार्य सौंपे जाते हैं एवं स्त्रियों को आन्तरिक कार्य जैसे-बच्चों का लालन-पालन, घर की देखभाल आदि। स्त्रियाँ आवश्यकतानुसार आर्थिक कार्यों में भी सहयोग देती हैं। अतः संयुक्त परिवार को श्रम विभाजन का पूर्ण लाभ प्राप्त होता है।

9. बच्चों के समाजीकरण में योगदान-संयुक्त परिवार में बालक विभिन्न सदस्यों के सम्पर्क में रहते हुए प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करते हैं। अतः परिवार के वृद्ध सदस्यों के अनुभव का लाभ उन्हें प्राप्त होता है और साथ ही वृद्ध सदस्यों द्वारा उनका समय-समय पर मार्ग-दर्शन भी होता रहता है। ये बालकों के समाजीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, क्योंकि वृद्ध सदस्यों के संसर्ग से बालकों में सद्गुणों का विकास होता है। उनमें प्रेम, सहयोग, सत्य, सहनशीलता, परोपकार, सेवा आदि की भावना जागृत होती है।

10. मनोरंजन का केन्द्र संयुक्त परिवार के सदस्यों की अधिकता होने के कारण इनमें हमेशा चहल-पहल व हँसी-खुशी का वातावरण बना रहता है। श्रीमती कर्वे ने कहा है कि संयुक्त परिवार में समय-समय पर कोई न कोई सामाजिक कार्य होता है। जैसे; कभी लड़के या लड़की की शादी हो रही है, तो कभी नामकरण संस्कार का उत्सव मनाया जा रहा है, तो कभी नई दुल्हन से पहली बार खाना बनाने की रस्म पूरी की जा रही है। कभी श्राद्ध व व्रत है तो कभी किसी का जन्म दिन मनाया जा रहा है। इसी प्रकार हर समय कोई न कोई मेहमान आया रहता है। कभी देवर भाभी की हँसी मजाक तो कभी ननद-भौजाई की नोंक-झोंक। अतः ऐसे में संयुक्त परिवार के सदस्यों का पर्याप्त व सस्ता मनोरंजन होता रहता है।

11. सांस्कृतिक स्थायित्व भारतीय संस्कृति की निरन्तरता एवं स्थायित्व बनाये रखने में संयुक्त परिवारों ने

एक महत्वपूर्ण कड़ी का कार्य किया है। इन परिवारों के माध्यम से ही सामाजिक प्रथाओं, परम्पराओं, रूढ़ियों और सामाजिक मान्यताओं का स्थानान्तरण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में होता है। ऐसे परिवार परिवर्तन के प्रारम्भ में ही विरोधी रहे हैं। इसीलिए इन परिवारों ने भारतीय संस्कृति की विभिन्न विशेषताओं को ज्यों की त्यों भावी पीढ़ी में स्थानान्तरित कर सांस्कृतिक स्थिरता में अपना योगदान दिया है।

12. अनुशासन एवं नियन्त्रण-संयुक्त परिवार में सभी सदस्य परिवार के मुखिया के आदेशानुसार कार्य करते हैं। परिवार के सदस्यों पर मुखिया का पूर्ण नियन्त्रण होता है। अतः ऐसे परिवार में प्रत्येक सदस्य मनमाना व्यवहार नहीं करता है, इसके विपरीत एकाकी परिवार में बड़े-बूढ़ों के अभाव में परिवार का प्रत्येक सदस्य मनमाना आचरण करता है, क्योंकि उन पर किसी का नियन्त्रण नहीं होता है। अतः ऐसे परिवार अनुशासनहीन हो जाते हैं। इसके अलावा संयुक्त परिवार अनैतिक एवं परिवार की प्रतिष्ठा पर विपरीत प्रभाव डालने वाले कार्यों पर भी रोक लगाता है।

13. राष्ट्रीय एकता एवं देश सेवा संयुक्त परिवार में रहने से व्यक्ति में प्रेम, सहानुभूति, त्याग एवं सहयोग की भावना का विकास होता है। इन भावनाओं से राष्ट्रीय एकता को बल मिलता है। संयुक्त परिवार में रहकर कुछ सदस्य अपना जीवन देश सेवा में भी लगा सकते हैं क्योंकि परिवार में सदस्यों की अधिक संख्या होने कारण वह अपने आपको पारिवारिक दायित्वों से मुक्त कर सकता है। एकाकी परिवार के किसी भी सदस्य को सार्वजनिक कार्यों के लिए समय निकालना कठिन है। इसके आलावा देश सेवा के लिए जिन गुणों की आवश्यकता होती है, वे गुण एकाकी परिवार में पले व्यक्ति में नहीं आ सकते हैं।

14. उत्पादन में वृद्धि-संयुक्त परिवार में सभी सदस्य योग्यता तथा क्षमता के अनुसार कार्य करते हैं। सभी लोग मिल-जुलकर उत्साहपूर्वक कार्य करते हैं, जिससे उत्पादन में वृद्धि होती है। संयुक्त परिवार प्रथा के कारण खेतों का छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजन नहीं हो पाता। अतः सम्मिलित भूमि के कारण भी उत्पादन में वृद्धि होती है।

15. अधिकार और कर्तव्य का समन्वय-संयुक्त परिवार में छोटे अपने से बड़ों का आदर करते हैं तथा उनकी आज्ञाओं का पालन करते हैं। दूसरी ओर अपने से छोटों को प्यार करना, उनके साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना तथा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करना बड़ों का धर्म होता है। इस प्रकार संयुक्त परिवारों में अधिकार एवं कर्तव्य का सुन्दर समन्वय दिखाई देता है।

16. सम्मान एवं प्रभाव में वृद्धि संयुक्त परिवार में योग्य, अनुभवी एवं कुशल व्यक्तियों की एक सुसंगठित शक्ति होती है। परिवार के सभी सदस्य अपनी योग्यता तथा अनुभव से परिवार को समाज में सम्मानपूर्ण स्थान दिलाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे सम्माननीय परिवार का समाज में काफी प्रभाव रहता है। सामाजिक कार्यों में ऐसे परिवारों को प्रमुख स्थान मिलता है।

17. व्यक्तिवाद पर रोक-संयुक्त परिवार में सामान्य हितों का जोर दिया जाता है। इसमें व्यक्तिगत स्वार्थों की उपेक्षा की जाती है। संयुक्त परिवार में सभी के हितों का ध्यान रखते हुए सामूहिक जीवन पर बल दिया जाता है। "प्रत्येक सब के लिए तथा सब प्रत्येक के लिए" का आदर्श संयुक्त परिवारों में देखने को मिलता है।

18. सामाजिक सुरक्षा संयुक्त परिवार व्यक्ति को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है। भारत में बाल-विवाह के प्रचलन के कारण जब तक वर-वधू आत्म-निर्भर नहीं हो जाते तब तक उनके भरण-पोषण की

जिम्मेदारी संयुक्त परिवार ही उठाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संयुक्त परिवार अपने आप में एक ऐसा समुदाय है जो एक व्यक्ति की सभी भौतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। हमारे समाज में संयुक्त परिवार का इतना महत्व है कि इसके सम्मुख सभी नागरिक इकाइयाँ विशेषकर राज्य भी महत्वहीन प्रतीत होता है। श्रीमती कर्वे के अनुसार एक व्यक्ति की सारी कमाई चाहे दूसरे व्यक्तियों से, राज्य से गबन की गई हो, विशाल संयुक्त परिवार या वृहत्तर बान्धव समूह पर ही खर्च होती है। सामान्यतः संयुक्त परिवार में विद्यमान उपर्युक्त तत्वों ने ही संयुक्त परिवार की निरन्तरता में सहयोग दिया है। इन गुणों के कारण ही भारत में संयुक्त परिवार प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है और वर्तमान समय में भी विद्यमान है।

संयुक्त परिवार के दोष (Demerits of Joint Family)

समय के परिवर्तन के अनुसार जब संस्था में परिवर्तन नहीं आते हैं तो उसमें कई दोष उत्पन्न हो जाते हैं। संयुक्त परिवार मे कई तरह के दोष उत्पन्न हो गए हैं। विभिन्न समाजशास्त्रियों ने उसके विरुद्ध भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किये हैं, जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं-

1. औपचारिक सम्बन्ध संयुक्त परिवार के सदस्यों के सम्बन्धों में आत्मीयता वास्तविक रूप से न होकर दिखावा मात्र होती है। सदस्य भाई-भाई होने पर भी एक-दूसरे की न तो सहायता करना पसन्द करते हैं और न सुझाव ही देना पसन्द करते हैं। उनके सम्बन्धों में कृत्रिमता की भावनाएं उत्पन्न होने लगी हैं।

2. द्वेष एवं क्लेश का केन्द्र-संयुक्त परिवार एक ऐसा केन्द्र है, जिसमें सदस्यों में छोटी-छोटी एवं व्यर्थ बातों के लिए एक-दूसरे में तनाव एवं संघर्ष उत्पन्न होते रहते हैं। विशेषकर भारतीय नारियों मे अधिकांशतः अशिक्षित एवं अज्ञानी होने के कारण अधिक संघर्ष होते रहते हैं। वे अन्धविश्वासी होती हैं। सास-बहुओं में दहेज के प्रश्नों को लेकर तनाव और संघर्ष चलते ही रहते हैं। इसी तरह दोनों ही पारिवारिक सत्ता हेतु एक-दूसरे के साथ संघर्ष करना ही उपयुक्त समझती हैं। इनके पारस्परिक संघर्ष से अन्य सदस्यों के मध्य झगड़े बढ़ने लगते हैं। डॉ. रामबिहारी सिंह तोमर का यह कथन है कि यदि किसी ने नर्क के दर्शन न किये हों तो संयुक्त परिवारों में कुछ ही दिनों तक रहकर कर सकता है। इस तरह के संघर्ष एवं तनाव एकाकी परिवारों में नहीं होते हैं, पति-पत्नी एवं बच्चे सुखपूर्वक निवास करते हैं।

3. आर्थिक निर्भरता की स्थिति इस तरह की परिवार व्यवस्था में सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि परिवार के परम्परागत नियमानुसार बड़े लड़के को सम्पूर्ण उत्तरदायित्व सौंप दिये जाते हैं। अतः कमाने वाले कम और खाने वाले अधिक होते हैं। परिणामस्वरूप आमदनी कम और खर्च अधिक होते हैं। इससे सदैव आर्थिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त रहती है, बच्चों की आवश्यकताओं की पूर्ति भी भली प्रकार से नहीं हो पाती है।

4. अकर्मण्य व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि-संयुक्त परिवार में यह सबसे बड़ा दोष है कि इसमें कुछ सदस्य ही धनोपार्जन करने वाले होते हैं और अधिकांश सदस्य दूसरे पर निर्भर रहने वाले होते ; परन्तु फिर भी परिवार के कर्त्ता द्वारा प्रत्येक सदस्य को समान सुविधाएँ दी जाती हैं। इसलिए कुछ सदस्य कामचोर हो जाते हैं, वे हर तरह से शारीरिक एवं मानसिक रूप से शक्तिशाली होने पर भी काम नहीं करना चाहते, क्योंकि वे जानते हैं कि उनकी आवश्यकताएँ, सुविधाएँ, विलासिताएँ तथा भिन्न-भिन्न तरह की इच्छाएँ जब वैसे ही पूरी हो जाती हैं तो वे कर्मठ क्यों हों। दूसरी ओर परिश्रम करने

वाले सदस्यों को भी विशेष प्रोत्साहन नहीं मिलने के कारण वह भी अपने कार्य के प्रति उदासीन होने लगता है। परिणामस्वरूप कार्यकुशलता का ह्रास होता है। इस प्रकार संयुक्त परिवार अकर्मण्य व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि करते हैं।

5. स्त्रियों की दुर्दशा होना-संयुक्त परिवार प्रणाली एक ऐसी प्रणाली है, जिसमें सास, बहुएँ, ननदें, पारिवारिक जीवन को नारकीय बना देती हैं। वे एक-दूसरे का विरोध करना अपना परम कर्तव्य मानती। चाहे दहेज व्यवस्था का ही प्रश्न हो या पारिवारिक प्रभुसत्ता का प्रश्न, वे हर समय चाहे-अनचाहे रूप में एक-दूसरे के मध्य तनाव व संघर्ष उत्पन्न करती रहती हैं। ऐसे परिवारों में स्त्री को एक दासी के समान माना जाता है। उसका जीवन घर की चाहर दीवारी के अन्दर ही निरन्तर कार्य करते हुए, डांट-फटकार खाते हुए एवं विभिन्न प्रकार के ताने सुनते हुए गुजर जाता है। वह खुली हवा में कभी सांस नहीं ले पाती। उसे अपने सास-ससुर के कठोर नियन्त्रण में ही रहना पड़ता है।

6. अन्धविश्वासों का दुर्ग-समाजशास्त्रियों का कथन है कि इस संस्था के कारण अन्धविश्वासों को प्रोत्साहन मिले हैं। संयुक्त परिवार के वृद्ध लोग बाल विवाहों को, दहेज व्यवस्था तथा पुराने जमाने की जन-रीतियों को स्वीकारने पर जोर देते हैं। इस कारण व्यर्थ में ही पारिवारिक व्यय आय के नियन्त्रण से बाहर हो जाता है। कमाने वाले व्यक्ति इसी कारण सदैव परेशान रहते हैं। वे न तो बड़ों का विरोध कर पाते हैं और न ही अपने बजट को नियन्त्रित कर पाते हैं। अतः इस प्रणाली को स्वीकार करने का अभिप्राय ही अन्धविश्वासों को जागृत करना है।

7. भय का पर्यावरण-डॉ. रामबिहारी सिंह तोमर जैसे समाजशास्त्रियों का कथन है कि परिवार के सदस्यों के भाईचारे एवं सहयोग की भावनाओं के अभाव के कारण वे एक-दूसरे को किसी मामले में सुझाव देने से भी बचते रहते हैं। वे यही सोचते हैं कि यदि उनके सुझावों से कोई खराब परिणाम निकल गया तो उनकी प्रतिष्ठा पर प्रभाव पड़ेगा। अतः ऐसे भय का पर्यावरण जिन्दगी में वेदना को बढ़ा देता है।

8. कमाने वालों में असन्तोष-संयुक्त परिवार का एक बड़ा दोष यह संयुक्त परिवार का एक बड़ा दोष यह है कि इसमें सभी कमाने वालों में हमेशा असन्तोष व्याप्त रहता है क्योंकि हर तरह के प्रयास के बाद भी उन्हें अपनी मेहनत का फल नहीं मिल पाता है, तो उन्हें अपने परिवार से घृणा होने लगती है। इसके अतिरिक्त स्त्रियाँ भी अपने पति को समझाती रहती हैं कि वे ज्यादा कमा रहे हैं, मगर दूसरे सदस्य कम कमाने पर भी अधिक से अधिक लाभान्वित हो रहे हैं। इस तरह विकासपूर्ण भाव उत्पन्न होते हैं, जो परिवार में विघटनकारी प्रक्रियाओं को जन्म देते हैं।

9. बालविवाहों को प्रात्साहन मिलना संयुक्त परिवार एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें वृद्ध लोग मोक्ष प्राप्ति हेतु अपने बच्चों का, पौत्र-पौत्रियों का विवाह शीघ्र करना उचित समझते हैं। उनके मस्तिष्क में यह भाव विद्यमान रहता है कि पौत्र-पौत्रियों का आँखों के सम्मुख विवाह करने से ईश्वर के द्वार विशेष रूप से मोक्ष प्राप्त करने हेतु रियायत प्राप्त कर लेंगे। यही कारण है कि भारतीय ग्रामीण समाजों में अभी भी बाल विवाह प्रणाली प्रचलित है। वे विलम्ब विवाह को स्वीकार नहीं करना चाहते हैं।

10. जनसंख्या में वृद्धि-संसार में भिन्न-भिन्न समूह के सदस्य तो सर्वश्रेष्ठ उद्देश्यों को पूरा करने हेतु एक-दूसरे के साथ प्रतियोगिता करते हैं मगर संयुक्त परिवार में बच्चों में वृद्धि की प्रतियोगिता होती रहती है। संयुक्त परिवार के सदस्य को स्वावलम्बी न होने पर भी अपने भरण-पोषण की चिन्ता नहीं रहती है। इसलिए व्यक्ति अपने धार्मिक विधि-विधानों की पूर्ति के लिए पुत्र न होने पर पुत्र प्राप्ति के लिए कई पुत्रियों को जन्म देता है, जिससे जनसंख्या में वृद्धि होती है।

11. व्यक्तित्व के विकास में बाधक संयुक्त परिवार में परिवार के सभी सदस्यों के साथ समानता बरती जाती है। अतः ऐसे परिवार में होनहार बालकों का अपने व्यक्तित्व के समुचित विकास का अवसर नहीं मिल पाता है, क्योंकि उन बालकों को जो विशेष सुविधाओं की आवश्यकता होती है वे नहीं मिल पाती हैं। इनके अलावा कर्त्ता का कठोर नियन्त्रण होने के कारण ऐसे परिवार के सदस्यों को नियमानुसार ही आचरण करना पड़ता है और उनकी विभिन्न इच्छाओं को दबाना पड़ता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं कर पाता है।

12. सामाजिक समस्याओं को प्रोत्साहन संयुक्त परिवार के माध्यम से कई सामाजिक समस्याएँ जैसे- दहेज प्रथा, विधवा विवाह पर राक, पर्दा-प्रथा, जाति-अन्तर्विवाह, अशिक्षा, जातिगत भेदभाव में वृद्धि आदि समस्याएं उत्पन्न होती हैं। यद्यपि इन समस्याओं के जन्म के लिए और भी अनेक कारण उत्तरदायी हैं परन्तु संयुक्त परिवार का भी इन समस्याओं के प्रोत्साहन में महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

13. गतिशीलता में बाधक डॉ. मोतीलाल गुप्ता के अनुसार संयुक्त परिवार का स्नेहयुक्त वातावरण व्यक्तियों का परिवार में ही बने रहने और किसी प्रकार का दायित्व अथवा जोखिम उठाने की प्रेरणा प्रदान नहीं करता है। संयुक्त परिवार का व्यक्ति पर इतना प्रभाव है कि व्यक्ति अपनी उन्नति-अवनति के बारे में न सोच करके परिवार की परम्पराओं एवं साँस्कृतिक सिद्धान्तों को ही अधिक महत्व प्रदान करता है। वह अपने रक्त सम्बन्धियों के बीच ही रहना चाहता है, चाहे उस स्थान पर रोजगार मिलने की सुविधा हो या नहीं। वह घर छोड़कर दूसरी जगह जाना नहीं चाहता है। एक तरह से संयुक्त परिवार परिवर्तन में भी बाधक है। इस प्रकार संयुक्त परिवार सामाजिक गतिशीलता में बाधाक होते हैं।

14. मुखिया की स्वेच्छाचारिता डॉ. मोतीलाल गुप्ता के अनुसार, संयुक्त परिवार का यह भी एक दोष है कि सभी सदस्यों को मुखिया के आदेशानुसार कार्य करना पड़ता है। उसकी इच्छा के अनुसार ही परिवार में सभी कार्य चलते हैं। पारिवारिक मामलों में उसका निर्णय ही अन्तिम निर्णय माना जाता है। सभी सदस्यों को उसकी इच्छा एवं उसके निर्णय आज्ञा के सम्मुख अपनी इच्छाओं को दबाना पड़ता है। कई बार परिवार का मुखिया अपने अधिकारों का दुरुपयोग भी करता है। इस कारण नवीन पीढ़ी के लोगों के साथ मुखिया का झगड़ा होता रहता है जिससे ऐसे परिवार में तनाव एवं संघर्षों में वृद्धि होती है।

15. गोपनीय स्थानों का अभाव-संयुक्त परिवार में सदस्यों की संख्या में तो वृद्धि होती है परन्तु उसी अनुपात में रहने के स्थान पर वृद्धि नहीं हो पाती। अतः संयुक्त परिवारों में गोपनीय स्थानें का अभाव पाया जाता है। ऐसे वातावरण में नव-विवाहित दम्पत्ति रात्रि में ही कुछ समय तक एक-दूसरे के साथ रह सकते हैं। दिन में अन्य सदस्यों की उपस्थिति में उनको आपस मे बात करने की स्वतन्त्रता नहीं रहती है जिससे पति-पत्नी में सच्चे दाम्पत्य एवं आपसी सद्भावना का विकास नहीं हो पाता है और न ही दोनों को आपस में इतना समझने का ही अवसर मिल पाता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि संयुक्त परिवार एक ऐसी संस्था है, जो भारतीय सामाजिक व्यवस्था में युगों-युगों से चली आ रही है तथा आज भी विद्यमान है। यद्यपि आधुनिक परिवेशों को दृष्टिगत रखते हुए इन परिवारों में परिवर्तन न होने के कारण इनके दोषों को समाप्त तो नहीं किया जा सकता, परन्तु फिर भी इस बात को स्वीकार किया जा सकता है कि इसने हिन्दू समाज की व्यवस्था में संगठनकारी प्रक्रियाओं, प्रेम एवं सहयोग की भावनाओं को, मानवोचित गुणों को उत्पन्न करने में अत्यधि क योगदान दिया है।

विवाह विश्व के सभी भागों में पायी जाने वाली सार्वभौमिक संस्था है। अविवाहित व्यक्ति कई धार्मिक

अनुष्ठानों में भाग लेने का अधिकारी नहीं होता है। पश्चिमी समाज में विवाह एक समझौते के रूप में लिया जाता है। मुसलमानों में विवाह को एक नागरिक सजिंदा माना गया है।

विवाह समाज एवं कानून द्वारा मान्यता प्राप्त पद्धति है जिसके द्वारा सभी स्त्री पुरुष परिवार की स्थापना करते हैं, यौन इच्छा की पूर्ति, सन्तानोत्पति, पालन-पोषण, धार्मिक अनुष्ठानों की पूर्ति करते हैं। चार पुरुषार्थ एवं पाँच ऋणों से मुक्ति प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त करते हैं।

हिन्दू विवाह : विवाह की अवधारणा

विवाह एक सार्वभौमिक संस्था है जो विश्व के सभी भागों में पाई जाती है। प्रत्येक समाज चाहे वह आदिम हो या आधुनिक ग्रामीण हो या नगरीय, विवाह एक आवश्यक या एक सीमा तक अनिवार्य संस्था के रूप में विद्यमान है। भारतीय समाज विशेषतः हिन्दुओं में विवाह संस्था का सामाजिक संरचना में विशिष्ट स्थान है तथा यह विश्व के अन्य समाजों में पाये जाने वाले विवाहों से भिन्नता लिए हुए है। पश्चिमी समाजों में जहाँ विवाह सामान्यतः एक समझौते के रूप में लिया जाता है वहीं हिन्दुओं सहित विभिन्न सामाजिक, धार्मिक श्रेणियों में विवाह का स्वरूप धार्मिक है। हिन्दू विवाह का भारतीय सामाजिक संस्थाओं में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। यह गृहस्थाश्रम का प्रवेश द्वार है। "मनु ने लिखा है जैसे सब प्राणी वायु के सहारे जीवित रहते हैं उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थाश्रम से जीवन प्राप्त करते हैं। विवाह के द्वारा ही व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का प्रयत्न करता है। इसी आश्रम के द्वारा व्यक्ति पाँच ऋणों देव, ऋषि, पितृ, अतिथि और भूत ऋण से उऋण हो सकता है। "एम. एल. गुप्ता भारत में समाज, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी पृष्ठ-44

हिन्दू विवाह यौन सम्बन्धों को प्राथमिकता न देकर धार्मिक कार्यों को विशेष महत्व प्रदान करना है। यह व्यक्ति को कर्म-प्रधान प्राणी बनाने में योग देता है। जिससे व्यक्ति अपने धार्मिक व सामाजिक कर्तव्यों को पूर्ण कर सके। मूलतः यही कारण है कि हिन्दू संस्थाओं में से अनेक के अत्यधिक रूढ़िगत हो जाने के बाद भी "विवाह" का महत्व कम नहीं हुआ है। पवित्रता, धार्मिकता, एक विवाह प्रथा एवं स्थायित्व आदि हिन्दू विवाह की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो इसे तुलनात्मक रूप से विशिष्ट बनाती हैं।

हिन्दू विवाह ने जहाँ एक ओर व्यक्ति को मनोभावात्मक संतुलन, सरल जीवन की प्रेरणा और व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के समाजीकरण में योग दिया है वही दूसरी तरफ सामाजिक जीवन को व्यवस्थित बनाने में भी अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

हिन्दू विवाह का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Hindu Marriage)

विवाह शब्द संस्कृत भाषा के 'उद्वह' शब्द से बना है जिसका अर्थ है वधू को वर के घर पर ले जाना। विवाह पुरुष और स्त्री के पारस्परिक सहयोग पर आधारित एक संस्था है। विवाह की अवधारणा को कुछ समाजशास्त्रियों ने परिभाषाओं के आधार पर विश्लेषित किया है।

एच. पी. फेयरचाइल्ड ने समाजशास्त्र के अपने शब्दकोष डिक्शनरी ऑफ सोशियोलॉजी में लिखा है "विवाह एक सामाजिक संस्था है जो पारिवारिक इकाई की स्थापना करने या वैवाहिक सम्बन्धों में प्रवेश करने को मान्यता प्राप्त स्वरूप प्रदान करती है।"

विवाह का सामान्य अर्थ (General Meaning of Marriage)

विवाह की संस्था विश्व के प्रत्येक समाज में विद्यमान है। इस संस्था के उद्देश्य भी अलग-अलग समाजों

में भिन्न-भिन्न हैं। समाजशास्त्रियों ने विवाह की निम्न परिभाषाएँ उन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखकर दी हैं।

NOTES

1. रिवर्स के अनुसार, "जिन साधनों द्वारा मानव समाज यौन सम्बंधों का नियमन करता है, उन्हें विवाह की संज्ञा दी जाती है।"
2. गिलिन और गिलिन के अनुसार "विवाह एक प्रजननमूलक परिवार की स्थापना की समाज-स्वीकृति विधि है।"
3. वेस्टरमार्क ने हिस्ट्री ऑफ ह्यूमन मैरिज में लिखा है कि "विवाह को एक या अधिक पुरुषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ होने वाले सम्बंध कह कर परिभाषित किया जा सकता है, जो प्रथा और कानून के द्वारा स्वीकृत होता है जिसमें विवाह से सम्बंधित दोनों पक्षों और उनसे उत्पन्न होने वाले बच्चों के अधिकारों तथा कर्तव्यों का समावेश होता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि विवाह समाज एवं कानून द्वारा मान्यता प्राप्त पद्धति है जिसके द्वारा स्त्री-पुरुष परिवार की स्थापना करते हैं तथा पारिवारिक जीवन प्रारम्भ करते हैं। यौन इच्छा की पूर्ति करते हैं। सन्तानोत्पत्ति, बच्चों का पालन-पोषण तथा समाजीकरण करते हैं। पति-पत्नी तथा सन्तानों में परस्पर सामाजिक, आर्थिक, कानूनी अधिकार तथा कर्तव्यों की व्यवस्था होती है।

हिन्दू विवाह को सामान्यतः एक धार्मिक संस्कार के रूप में स्वीकार किया जाता है, किन्तु यह अर्थ उपर्युक्त किसी भी परिभाषा में सम्मिलित नहीं है, डॉ. के. एम. कपाड़िया के अनुसार "हिन्दुओं में विवाह प्राथमिक रूप से कर्तव्यों की पूर्ति के लिए होता है, इसलिए विवाह का आधारभूत उद्देश्य धर्म था। "इस प्रकार हिन्दुओं में विवाह को न तो एक मित्रतापूर्ण समझौते के रूप में समझा जा सकता है न ही संविदा के रूप में और न ही केवल यौन-सम्बंधों की पूर्ति के लिए किए गए बन्धन के रूप में है। इस प्रकार हिन्दू विवाह स्त्री पुरुष का पति-पत्नी के रूप में एक अलौकिक, अविच्छेद एवं शाश्वत मिलन है तथा इस पवित्र बन्धन को तोड़ना अधार्मिक है। हिन्दुओं में एक विवाह को ही आदर्श माना गया है अन्य प्रकार के विवाह को नहीं। मेघातिथि के अनुसार, "हिन्दू विवाह कन्या को पत्नी बनाने के लिए एक निश्चित क्रम से किया जाने वाला, अनेक विधियों से सम्पन्न होने वाला पाणिग्रहण-संस्कार है जिसकी अन्तिम विधि सप्तर्षिदर्शन है।"

ए. एस. अल्टेकर ने द पोजिशन ऑफ वूमन इन हिन्दू सिविलाइजेशन मे लिखा है कि वेदों में उस व्यक्ति को अपवित्र बताया गया है जो विवाहित नहीं हैं अविवाहित व्यक्ति अनेक धार्मिक संस्कारों में भाग नहीं ले सकता। इस प्रकार धार्मिक दृष्टि से अविवाहित व्यक्ति पूर्ण नहीं है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि हिन्दू विवाह धार्मिक कर्तव्यों की पूर्ति, पुत्र प्राप्ति ऋण से मुक्ति, पुरुषार्थों की पूर्ति, सामाजिक एकता, पारिवारिक सुख, सामाजिक कर्तव्यों का पालन करने के लिए स्त्री और पुरुष का निश्चित विधि-विधान के अन्तर्गत गृहस्थ आश्रम में प्रवेश का साधन या धार्मिक संस्कार है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि स्त्री-पुरुष पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए विवाह करते हैं।

हिन्दू विवाह के उद्देश्य (Aims of Hindu Mariage)

विवाह के बिना एक हिन्दू उन दायित्वों को पूरा करने में असफल रहता है, जिन्हें भरतीय सामाजिक व्यवस्था का अनिवार्य अंग माना गया है। पुरुषार्थ में प्रदत्त जीवन के लक्ष्यों धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति, यौन सन्तुष्टि, सन्तानोत्पत्ति, विभिन्न धार्मिक क्रियाओं और संस्कारों को सम्पन्न किया जाना, विभिन्न ऋणों से उऋण होने के लिए प्रत्येक हिन्दू को विवाह करना होता है। के. एम. कपाड़िया ने लिखा

है "धर्म, प्रजा (सन्तति) और रति (आनन्द) हिन्दू विवाह के संस्तरणात्मक उद्देश्य माने जाते हैं। "कपाड़िया के अनुसार हिन्दू विवाह के उद्देश्य संक्षिप्त में निम्नलिखित हैं :

1. धार्मिक उद्देश्य (Religious Aim) : कपाड़िया के अनुसार विवाह का सर्वोच्च उद्देश्य धर्म अथवा धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति करना है। प्रत्येक पुरुष के अपने जीवन में कुछ धार्मिक कर्तव्य हैं और इन कर्तव्यों को निभाने के लिए पत्नी की आवश्यकता होती है। विवाह के द्वारा पुरुष पत्नी को प्राप्त करता है जिसके साथ वह अपने धार्मिक कर्तव्यों को पूरा करता है। विवाह तब पूर्ण माना जाता है जब होम (पवित्र अग्नि में आहुति) पाणिग्रहण (वधु का हाथ पकड़ना) और सप्तपदी (पति-पत्नी साथ-साथ सात कदम चलते है) आदि प्रमुख संस्कार पूर्ण किये जाते है। पति-पत्नी के साथ ही यज्ञ और धार्मिक संस्कार कर सकता है। याज्ञवल्क्य एक पत्नी के मरने पर यज्ञ करने के लिए तुरन्त दूसरी स्त्री से विवाह करने का आदेश देता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि विवाह का मौलिक उद्देश्य धर्म है।

   शास्त्रों का निर्देश है कि प्रत्येक हिन्दू को पंच महायज्ञों ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ तथा नृयज्ञ को सम्पन्न करना अनिवार्य है और एक अविवाहित पुरुष इन्हें पूरा नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए पितृयज्ञ को यदि हम लें तो यह यज्ञ भी तभी पूर्ण किया जा सकता है जब पितरों को तर्पण या पिण्डदान देकर पितृऋण से उऋण हुआ जाए। यह कार्य पुत्र ही कर सकता है, ऐसा तभी सम्भव है जब विवाह किया जाए।

   सारांश में हम कह सकते हैं हिन्दू-शास्त्रों और परम्पराओं के अनुसार अनेक धार्मिक कर्तव्यों को सम्पादित करने के लिए पति-पत्नी का होना अनिवार्य है और यह विवाह की संस्था के द्वारा ही संभव है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि विवाह का मौलिक उद्देश्य धर्म है।

2. पुत्र प्राप्ति (Progeny) हिन्दू विवाह का दूसरा उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति है जिसमें भी पुत्र को जन्म देना प्रथम बात है। धर्म शास्त्रों के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग पुत्र-लाभ से सुगम हो जाता है। महाभारत में जगह-जगह विवाह का प्रयोजन सन्तानोत्पत्ति बताया गया है, और तर्पण का महत्व बताया गया है। तर्पण शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार पुत्र वह है जो पिता को नरक से बचाये, पितृऋण से उऋण होने के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति विवाह करके उत्तम सन्तानों को जन्म दे। समाज की निरन्तरता और वंश के अस्तित्व के लिए भी पुत्र पैदा करना एक कर्तव्य है।

3. रति आनन्द (Sexual Pleasure) हिन्दू विवाह का तीसरा उद्देश्य रति आनन्द अथवा यौन सन्तुष्टि है। उपनिषदों में यौन सुख को सबसे बड़ा सुख कहा गया है। धर्मशास्त्रों में यौन इच्छाओं की पूर्ति को आवश्यक माना गया है किन्तु यह मनमाने ढंग से नहीं बल्कि समाज द्वारा स्वीकृत तरीकों से होनी चाहिए।

   यौन कामना की तृप्ति यद्यपि अन्य समाजों के विवाहों का उद्देश्य भी है पर अन्तर यह है कि अन्य समाजों में विवाहों में यौन संबंधों को प्राथमिक उद्देश्य माना गया है जबकि हिन्दू विवाह में इसे ध ार्मिक क्रिया का स्वरूप दिया गया है। रति क्रिया धार्मिक कर्तव्यों के सम्पादान में सहयोगी है क्योंकि इससे सन्तान पैदा होती है, जो विभिन्न धार्मिक संस्कारों को पूरा करने के लिए आवश्यक है।

4. व्यक्तित्व का विकास (Development of Personality)-समाज में व्यक्ति के अनेक सामाजिक गुणों का विकास विवाहोपरान्त ही होता है। विवाह के पश्चात व्यक्ति अनेक नवीन पद ग्रहण करता है, भूमिकाएँ निभाता है, नयी परिस्थितियों के अनुसार अपने को ढालने में समर्थ होता है। मनु कहते हैं कि मनुष्य अपूर्ण है जिसे विवाह पूर्णता प्रदान करता है। यह भी कहा गया है कि व्यक्ति पूर्ण तब

बनता है जब उसके सन्तान उत्पन्न होती है। पूर्ण व्यक्ति वही कहलता है जिसके पत्नि और सन्तानें हों। इस प्रकार विवाह व्यक्तित्व के विकास एवं संगठन की दृष्टि से आवश्यक है।

5. पारिवारिक उत्तरदायित्व (Family Obligations) विवाह के द्वारा व्यक्ति अपने पारिवारिक ऋण एवं दायित्वों का निर्वाह करता है। जिन माता-पिता ने उसे जन्म दिया, पालन-पोषण किया, शिक्षा प्रदान की तथा समाज में रहने योग्य बनाया, उनकी वृद्धावस्था में, बीमारी या संकट में सेवा-सुश्रुषा करना व्यक्ति का कर्तव्य है, किसकी पूर्ति विवाह के बाद ही संभव है। साथ ही अनेक उत्तरदायित्व ऐसे भी हैं जिनकी पूर्ति व्यक्ति अकेला नहीं कर सकता बल्कि पति-पत्नी मिलकर उसे पूरा कर सकते हैं।

6. सामाजिक उत्तरदायित्व (Social Obligations) समाज की निरन्तरता को बनाये रखने का उत्तरदायित्व समाज के सदस्यों पर होता है। मानव नश्वर है इसलिए नये सदस्यों का जन्म, पालन-पोषण, शिक्षा-दिक्षा, समाजीकरण यदि नहीं होगा तो समाज एक दिन नष्ट हो जाएगा। हिन्दू विवाह का यह आदर्श है कि वह सन्तान ऐसी जन्में जो विभिन्न सामाजिक कर्तव्यों का पालन करें और अपने समाज की संस्कृति का विकास करें। हिन्दू समाज ने इस कार्य के लिए विवाह को एक धार्मिक संस्कार बनाकर सदस्यों के लिए एक महत्वपूर्ण और आवश्यक कर्तव्य बना दिया, समाज की निरन्तरता के लिए सामाजिक नियन्त्रण, यौन इच्छाओं की व्यवस्थित रूप से पूर्ति आदि विवाह के द्वारा नियंत्रित, निर्देशित और संचालित होती है। यदि व्यक्ति विवाह नहीं करता है तो समाज में असंतुलन और गैर संस्थागत आचरण उत्पन्न हो जाएगा।

अतः सामाजिक उत्तरदायित्वों को पूर्ण करने के लिए विवाह को एक धार्मिक संस्कार का रूप दिया गया है।

हिन्दू विवाह : एक धार्मिक संस्कार

हिन्दू विवाह की प्रकृति एवं विशेषताएँ
(Nature and Characteristics of Hindu Marriage)

हिन्दू विवाह अनेक धार्मिक विधानों से किया गया एक पवित्र संस्कार है न कि एक संविदा अथवा मित्रतापूर्ण समझौता या ऐसा ही कोई अस्थाई बन्धन। ''संस्कार'' शब्द का शाब्दिक आशय है ''शुद्धिकरण'' की प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन लाना। विवाह भी अनेक संस्कारों में से एक संस्कार माना गया है, जिसके बिना मनुष्य का धार्मिक, सामाजिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष असंभव है। हिन्दू विवाह को धार्मिक संस्कार स्वीकार किये जाने की कपितय निम्नलिखित विशेषताएँ है।

1. विवाह का धार्मिक आधार (Religious basis of Marriage)-यदि हिन्दू विवाह के उद्देश्यों का विश्लेषण किया जाए तो हम पायेंगे कि उसमें धर्म को प्रधानता दी गई है। प्रत्येक हिन्दू प्रतिदिन अनेक धार्मिक कार्य करता है जो वह पत्नी के साथ ही कर सकता है, अकेला नहीं जैसे-प्रतिदिन पंच महायज्ञ, पिण्डदान, तर्पण, कन्यादान आदि। पुत्र प्राप्ति हिन्दू विवाह का दूसरा उद्देश्य है। पुत्र के बिना पिता को मोक्ष संभव नहीं है। स्पष्ट है कि अनेक धार्मिक क्रियाओं के कारण ही हिन्दू विवाह आवश्यक रूप ये एक संस्कार माना जाता है।

2. विवाह का स्थायित्व (Stability of Marriage)-हिन्दू समाज में यह धार्मिक मान्यता है कि पति-पत्नी के संबंध जन्म-जन्मांतर के होते हैं जिन्हें तोड़ा नहीं जा सकता। पति-पत्नी आपस में एक-दूसरे से अनुकूलन का प्रयास करते हैं जिससे विवाह का स्थायित्व बना रहता है। यह अटूट पवित्र और

धार्मिक बंधन है जिसे तोड़ने की कल्पना तक नहीं की जा सकती है।

3. ऋणों से मुक्त होने के लिए (For getting Rid of Debts)-हिन्दुओं की मान्यता है कि व्यक्ति पर जन्म से ही अनेक ऋण होते हैं और विवाह करके व्यक्ति देव ऋण, ऋषि ऋण एवं पितृ ऋण से उऋण हो सकता है। विवाह को "मनु" ने स्वर्ग की सीढ़ी बताया है। धर्मग्रन्थों में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि विवाह के बिना व्यक्ति को स्वर्ग प्राप्त नहीं होता।

4. धार्मिक अनुष्ठान एवं संस्कार (Rituals and Ceremonies)-हिन्दू विवाह की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अनेक धार्मिक अनुष्ठानों एवं संस्कारों से परिपूर्ण होता है जिनके बिना विवाह को पूर्ण नहीं माना जाता है। विवाह के दौरान सम्पन्न किये जाने वाले संस्कारों में होम, वाग्दान, कन्यादान, पाणिग्रहण, अग्नि परिणन, अश्मारोहण, लाजा होम, सप्तपदी आदि प्रमुख है। पाणिग्रहण में वर-वधू दोनों एक-दूसरे का हाथ स्वीकार करते हैं। सप्तपदी में वर-वधू सात कदम साथ-साथ चलते हैं, कन्यादान में कन्या का पिता वर को कन्यादान करता है और दोनों ही अग्नि को साक्षी मानकर अग्नि की परिक्रमा करते हैं।

5. पुरोहितों की उपस्थिति (Presence of Purohit)-हिन्दू धर्म में जितने भी धार्मिक अनुष्ठान और संस्कार होते हैं उन्हें पुरोहित सम्पन्न करवाता है। किसी भी कार्य में पुरोहित की उपस्थिति उस कार्य की पवित्रता और गरिमा बढ़ाने वाली होती है। वही वर-वधू को दम्पति के रूप में पारिवारिक जीवन में वेद मन्त्रों के उच्चारण के साथ प्रवेश की प्रक्रिया पूर्ण करता है।

6. वेद मन्त्रों का उच्चारण (Recitation of Vedic Mantras)-हिन्दू विवाह के समय वैदिक रीति-रिवाजों का पालन और वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। वेदों में जो मंत्र लिखे हैं वह ब्रह्मा के मुख से निकले आप्त (वाक्य) माने जाते हैं। सभी अनुष्ठान, संस्कार तथा कृत्य मंत्रों के उच्चारण के साथ धार्मिक विधि-विधान के साथ-साथ किये जाते हैं। मंत्रों के माध्यम से ईश्वर, देवी-देवआतों का आह्वान विवाह संस्कार के प्रारम्भ में किया जाता है। तथा विवाह संस्कार के समाप्त होने पर उन्हें विदा किया जाता है। अतः वैदिक मन्त्रों का उच्चारण भी विवाह को धार्मिक संस्कार बनाता है।

7. अग्नि की साक्षी (Presence of Fire)-पुरोहित और वेदों की भांति अग्नि को भी पवित्र माना गया है। विवाह भी धार्मिक संस्कार है इसलिए अग्नि को साक्षी करके वर-वधू से सारे संस्कार करवाये जाते हैं। वर-वधू अग्नि तथा देवी-देवताओं से स्वयं के दाम्पत्य जीवन को सुखी और आनन्दमय होने की प्रार्थना करते हैं उनसे वरदान माँगते हैं।

8. कन्या दान (Kanya-Dan)-धर्मशास्त्रों के अनुसार कन्यादान को श्रेष्ठ दान माना गया है तथा सबसे बड़ा पुण्य माना गया है, जिसके बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। कन्या को देना और लेना एक आवश्यक धार्मिक कृत्य माना गया है। यह कार्य ईश्वर, अग्नि और ब्राह्मण को साक्षी मानकर किया जाता है। अतः यह एक पवित्र एवं धार्मिक कार्य है जो विवाह को धार्मिक संस्कार बनाता है।

9. पत्नी के सम्बोधक शब्द (Address terms for wife)-हिन्दू-पत्नी के जो सम्बोधक शब्द हैं, उससे भी यह ध्वनि निकलती है कि पत्नी काम-तृप्ति के लिए नहीं बल्कि धार्मिक कार्यों, संस्कारों, अनुष्ठानों आदि में बराबर का सहयोग करने वाली होती है। उदाहरणार्थ, पत्नी को धर्मपत्नी सहधर्मिणी सहधर्मचारिणी आदि शब्दों से सम्बोधित किया जाता है। जिसका आशय है कि पत्नी पति के धर्म कार्यों में सहभागी है।

10. स्त्री के लिए एक मात्र संस्कार (Only Sanskar for Woman) एक हिन्दू पुरुष अपने जीवनकाल में

अनेक संस्कार सम्पन्न करता है। इनसे उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। किन्तु स्त्री के जीवनकाल में विवाह ही एकमात्र संस्कार है, अन्य संस्कार उसके द्वारा सम्पन्न नहीं किये जा सकते हैं।

NOTES

11. पतिव्रत धर्म (Pativrat Dharma)-हिन्दू विवाह के द्वारा पत्नी आदर्श पतिव्रत के रूप में कार्य करती है। पति की सेवा और उसकी हर आज्ञा का पालन करना वह अपने जीवन का प्रथम कर्तव्य समझती है। वह अपने पति की सुख सुविधाओं का ध्यान रखती है। तथा उसके लिए हर प्रकार का त्याग करना अपना धर्म समझती है। पतिव्रता का यह आदर्श विवाह की धार्मिक प्रकृति को व्यक्त करता है।

12. धार्मिक आदेश तथा निषेध (Religious Sanction & Taboo)-हिन्दू विवाह में एक दम्पत्ति को गृहस्थ जीवन में प्रवेश करवाने से पहले पण्डित या पुरोहित उन्हें आदेशों और निषेधों से अवगत करवाता है। इसका उल्लंघन करना अधार्मिक माना जाता है। ईश्वर की पूजा पाठ करना, पंच महायज्ञ करना, दान देना, अतिथि सत्कार करना तथा समय-समय पर धार्मिक कृत्य करना एक विवाहित हिन्दू दम्पति के लिए आवश्यक है। धर्मशास्त्रों में अनेक निषेधों का भी उल्लेख किया गया है जिनका विवाह के समय तथा बाद में ध्यान रखना तथा आचारण करना आवश्यक है जैसे सपिण्ड, प्रवर ओर सगोत्र विवाह नहीं करना चाहिए।

इन तथ्यों से हिन्दू विवाह की धार्मिक प्रकृति स्वतः ही स्पष्ट होती है अतः यह कहा जा सकता है कि यह एक धार्मिक संस्कार है, इसे सामाजिक समझौता नहीं माना जा सकता। पी. एन. प्रभु ने लिखा है कि "हिन्दू के लिए विवाह संस्कार है तथा इस कारण विवाह सम्बंध में जुड़ने वाले पक्षों का सम्बन्ध संस्कार रूपी है न कि प्रसंविदा की प्रकृति का।"

विवाह के भेद

पति-पत्नी की संख्या के आधार पर विवाह के प्रमुख प्रकारों को हम निम्नलिखित प्रकार से समझ सकते हैं-

1. एक विवाह (Monogamy)

सामान्यतः एक पति या पत्नी या पत्नी के जीवित रहते हुए किसी दूसरे से विवाह न करना ही एक विवाह है। वुकेनोविक के अनुसार "" उस विवाह को एक विवाह कहना चाहिए जिसमें न केवल एक पुरुष की एक पत्नी या एक स्त्री का एक पति हो बल्कि दोनों में से किसी की मृत्यु हो जाने पर भी दूसरा विवाह न करें। "परन्तु यह एक आदर्श नीति है। साधारणतः स्त्री पर तो पति की मृत्यु के पश्चात् विवाह न करने का नियन्त्रण लगा दिया जाता है, परन्तु पुरुष स्वयं दूसरा विवाह कर लेता है। वास्तव में एक पति या पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरा विवाह नहीं करना ही एक विवाह कहलाता है। एक विवाह में एक समय में एक पुरुष एक ही स्त्री से विवाह करता है। धर्मशास्त्रों के अनुसार आदर्श पुरुष वही है जो एक पत्नीव्रत का पालन करे।

यद्यपि एक विवाह में पति पत्नी दोनों से ही यह अपेक्षा की गई है कि पर स्त्री या पर पुरुष से यौन सम्बन्ध या काम-भाव से नहीं जुड़ेंगे तथापि किन्हीं परिस्थितियों में दोनों को ही इस व्यवस्था में छूट दी गई है ये व्यवस्थाएँ हैं-

1. पत्नी से पुत्र प्राप्त न होने या निःसंतान मर जाने पर पुरुष दूसरी स्त्री से विवाह कर सकता है।
2. पुत्र या सन्तान प्राप्ति के लिए स्त्री देवर से नियोग कर सकती है। यदि पति की मृत्यु हो गई हो

तो उससे शादी कर सकती है।

3. "बौद्धता धर्मसूत्र "के अनुसार विधवा तो नियोग कर सकती है या सधवा भी ऐसा कर सकती है यदि पति नपुंसक या व्याधि से पीड़ित हो।
4. मनु ने व्यवस्था दी है कि स्त्री पुत्र न होने पर देवर से या सपिण्ड (सातवीं पीढ़ी तक के सम्बन्धी) से नियोग अर्थात् यौन सम्बन्ध कर सकती है।

मनु ने कहा है कि "नियोग के उद्देश्य के पूर्ण होने के पश्चात् पुरुष और स्त्री को एक दूसरे के प्रति एक पिता और एक पुत्र-वधु के समान व्यवहार करना पड़ता था। इसके विपरीत आचरण करने वाले गुरुपत्नीगामी या पुत्र वधूगामी होने के अपराधी समझे जाते थे। जब नियोग संबंधी कठोर नियमों के उपरांत भी अनैतिकता का प्रसार होने लगा, तो इस प्रथा को निषिद्ध माना गया है।"

एक विवाह के लाभ (Merit of Monogamy)

1. एक विवाह से निर्मित परिवार सामान्यतः अधिक स्थाई होते हैं तथा स्त्री की प्रतिष्ठा ऊँची होती है।
2. एक विवाह परिवारों में बच्चों का लालन-पालन, समाजीकरण एवं शिक्षा का कार्य उचित रूप से संभव हो जाता है।
3. एक विवाही परिवारों में संघर्षों के अभाव में मानसिक तनाव कम पाया जाता है।
4. एक विवाही परिवारों में संतानों की संख्या कम होती है तथा परिवारों का जीवन स्तर ऊँचा होता है।

2. बहु-विवाह (Polygmy)

जब एक पुरुष का, एक से अधिक स्त्रियों या एक स्त्री का एक से अधिक पुरुषों से विवाह हो तो उसे बहु-विवाह कहा जाता है। बहु-विवाह में सामान्यतः चार रूप पाये जाते हैं। बहु पति विवाह, बहु पत्नी विवाह, द्विपत्नी विवाह एवं समूह पत्नी विवाह।

3. बहु-पत्नी विवाह (Polygyny)

बहु-पत्नी विवाह उस विवाह को कहते हैं जिसमें एक पुरुष एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह करता है। ऐसे विवाह में एक पुरुष के एक ही समय में एक से अधिक पत्नियाँ होती हैं। यद्यपि भारत में एक विवाह की ही प्रधानता रही है किन्तु बहु पत्नी विवाह भी प्रचलित रहे हैं। याज्ञवल्क्य ने बताया है कि ब्राह्मण प्रत्येक वर्ण की एक स्त्री से अर्थात् चार स्त्रियों से, क्षत्रिय, तीन से, वैश्य दो से, और शुद्र एक से विवाह कर सकता है। कहा जाता है कि स्वयं मनु के पास दस पत्नियां और याज्ञवल्क्य के दो पत्नियाँ थीं। डॉ. ए. एस. अल्टेकर ने कहा है "बहु पत्नी विवाह ध नी, शासक और अभिजात वर्ग में सामान्य थे।"

प्रतिबन्ध (Prohibitions)

यद्यपि बहुपत्नी विवाह सैद्धान्तिक रूप में शास्त्रों द्वारा मान्य था किन्तु एक से अधिक पत्नी रखने पर अनेक प्रतिबन्ध थे जैसे-

NOTES

1. पत्नी के बाँझ होने पर भी पुरुष काफी समय तक विवाह नहीं कर सकता। बौद्धायन सूत्र का निर्देश है कि विवाह के बाद 10 वर्ष तक यदि स्त्री बाँझ रहे तो दूसरा विवाह किया जा सकता है। कौटिल्य भी 8 वर्ष पत्नी के निःसन्तान रहने पर ही पति को दूसरे विवाह की आज्ञा देता है।
2. पत्नी द्वारा केवल कन्याओं को जन्म देने या जन्म दी हुई सन्तान के जीवित न रहने की स्थिति में भी पुरुष काफी वर्षों तक विवाह नहीं कर सकता। मनु का आदेश है कि जिस पति की सन्तान जीवित नहीं रहती, वह ग्यारहवें वर्ष दूसरी पत्नी ग्रहण कर सकता है। कौटिल्य के अनुसार यदि पत्नी के पिछले दस वर्षों से गर्भपात होता रहा हो या पिछले बारह वर्षों में वह केवल कन्या संतान को जन्म देती रही हो। मनु ने यह भी लिखा है कि "जो पत्नी मद्यपान करती हो अथवा दुराचारिणी हो, जो अपने पति के अनुकूल नहीं हो, जो रोगग्रस्त अथवा अपव्ययी हो अथवा क्रूर हो तो, उसे त्याग देना ही उचित है।" इस सम्बंध में विज्ञानेश्वर ने व्याख्या दी है "किसी भी पत्नी को तभी त्यागना चाहिए जब उसने शूद्र से व्यभिचार किया हो। इस परित्याग का अर्थ यह है कि उसे धार्मिक कृत्यों तथा दाम्पत्य के कार्यों में भाग नहीं लेने दिया जाए न ही उसे गलियों में छोड़ दिया जाये। उसे एकान्त कमरे में सुरक्षित रखना चाहिए और भोजन-वस्त्र प्रदान करने चाहिए।"
3. आपस्तम्ब "धर्म-सूत्र" में स्पष्ट निर्देश है कि यदि प्रथम पुत्र की प्राप्ति हो गई हो तो दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए।

प्रचलन में वृद्धि-स्पष्ट है कि बहुपत्नी विवाह को सैद्धान्तिक रूप से अवश्य मान्यता थी किन्तु बहुत कुछ अंशों में उसे अपवाद के रूप में देखा जाता था, इसलिए इसे प्रतिबंधित रखा गया किन्तु समय के प्रवाह के साथ, विशेषकर स्मृति युग के बाद ही इस प्रथा का प्रचलन मुख्यतः निम्नलिखित कारणों से बढ़ता गया

1. प्रथम पत्नी से पुत्र प्राप्त न होने पर एकाधिक स्त्रियों से विवाह करने की प्रवृति बढ़ती गई। इसमें अवधि सम्बन्धी प्रतिबन्धों की अवहेलना की गई।
2. मध्य युग में सामन्ती प्रथा के विकास के साथ-साथ अधिकाधिक पत्नियाँ रखना सामाजिक प्रतिष्ठा का घोतक था। इस कारण धनिक व्यक्ति, जमींदार, राजा आदि बहुपत्नी विवाह करते थे।
3. धनोपार्जन में स्त्रियों की उपयोगिता ने भी बहुपत्नी प्रथा को प्रोत्साहन दिया। भारत एक कृषि प्रधान देश है जहाँ कृषि सम्बंधी अनेक कार्यों को करने के लिए अधिक से अधिक स्त्रियों की आवश्यकता होती है। इस कारण बहुपत्नी विवाह कर लिया जाता था क्योंकि इसके द्वारा परिवार को पत्नियों तथा उनकी सन्तानों के रूप में काम करने वाले विश्वस्त श्रमिक मिल जाते थे।
4. कुलीन विवाह प्रणाली ने बहुपत्नी विवाह को अधिक लोकप्रिय बनाया क्योंकि उच्च कुल के पुरुषों को दहेज के रूप में भारी आर्थिक लाभ होने लगा। इस कारण दूसरे तथा तीसरे विवाह का प्रलोभन उत्पन्न हो जाता था और इसी कमी को बहुपत्नी विवाह द्वारा पूरा किया जाता था। इस प्रथा का सबसे प्रमुख दोष यह है कि इससे स्त्रियों की सामाजिक स्थिति बहुत गिर जाती है। ऐसे विवाह से परिवार पर आर्थिक बोझ बढ़ जाता है। परिवार में अधिक स्त्रियों का अर्थ है कि परिवार का वातावरण ईर्ष्या, द्वेष और लड़ाई-झगड़े से कलुषित होना।

स्वतंत्र भारत में प्रतिबन्ध (Prohibition in Independent India)

स्त्रियों को इस दयनीय स्थिति से उबारने, नारी सम्मान की रक्षा करने और पुरुषों के समान ही नारियों के समान अधिकारों को संरक्षण देने की भावना के कारण प्रारम्भ में अनेक राज्यों ने बहुपत्नी विवाह के विरुद्ध अधिनियम पारित किए।

बहुपत्नी विवाह सर्वथा अप्रजातान्त्रिक और सामाजिक विघटन पैदा करने वाली प्रथा है। अधिनियम बाद में रद्द कर दिए गए हैं। केन्द्रीय सरकार ने "हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 "पारित कर दिया। जिसके अनुसार हिन्दू विवाह वैध तभी हो सकता है जब विवाह के समय दोनों पक्षों में से किसी का भी जीवन साथी (पति या पत्नी) जीवित न हो। जहाँ तक धार्मिक, सामाजिक विश्वासों का सवाल है, आज भी यह धारणा है कि पुत्र प्राप्ति के लिए दूसरा विवाह करने की अनुमति दी जानी चाहिए।

1. बहुपति विवाह (Polyandry)

बहुपति विवाह में एक पत्नी के एक ही समय में एक से अधिक पति होते हैं मिचेल ने लिखा है कि "एक स्त्री का एक पति के जीवित होते हुए अन्य पुरुषों से विवाह करना या एक समय पर ही दो या दो से अधिक पुरुषों से विवाह करना बहुपति विवाह है। "डॉ. कपाडिया के अनुसार "बहुपति विवाह एक प्रकार का सम्बन्ध है, जिसमें एक स्त्री के एक से अधिक पति होते हैं या जिसमें सब भाई एक पत्नी या पत्नियों का सम्मिलित रूप से उपभोग करते हैं। "इसमें दो मुख्य रूप पाये जाते हैं भ्राता बहुपति विवाह, जिसमें सब पति भाई-भाई होते हैं और अभ्राता बहुपति विवाह जिसमें पतियों का भाई होना आवश्यक नहीं है।

2. द्विपत्नी विवाह (Bigamy)

जब एक पुरुष का विवाह दो स्त्रियों के साथ सम्पन्न किया जाता है एवं उसमें से प्रत्येक स्त्री उस पति की पत्नी होती है तो उसे ही द्विपत्नी विवाह कहा जाता है।

हिन्दू विवाह के आदर्शों में बहु-पति विवाह को स्थान नहीं है। पत्नी से पूर्णतः एक पतिव्रता रहने की आशा की जाती है। महाभारत में द्रोपदी के पांच पतियों (पाण्डवों) का उल्लेख आता है। भारतवर्ष में इसका प्रचलन टोडा तथा खासी जन जातियों तथा नायरों में विशेष रूप से देखने को मिलता है। किन्तु सामान्य रूप से बहुपति को हिन्दू समाज में बुरा माना गया है।

हिन्दू विवाह के स्वरूप (विधियाँ) (Forms or Methods of Hindu Marriage)

विवाह के स्वरूप से हमारा तात्पर्य विवाह बन्धन में बंधने की विभिन्न विधियों से है। मनु स्मृति, ग्रह्य सूत्रों तथा धर्म सूत्रों में भी इनका उल्लेख मिलता है। मुख्य रूप से आठ विधियाँ या पद्धतियाँ हैं :

1. ब्रह्म विवाह (Brahma Marriage) ब्राह्म विवाह सभी प्रकार से विवाहों में श्रेष्ठ माना गया है। मनु के अनुसार "वेदों के ज्ञाता शीलवान वर को स्वयं बुलाकर वस्त्र एवं आभूषण आदि से सुसज्जित कर पूजा एवं धार्मिक विधि से कन्या दान करना ही ब्रह्म विवाह है। "याज्ञवल्क्य के अनुसार ब्रह्म विवाह उसको कहते हैं जिसमें वर को बुलाकर अपनी शक्ति के अनुसार अलंकारों से अलंकृत कर कन्या दान कर दिया जाता है। ऐसे विवाह से उत्पन्न पुत्र इक्कीस पीढ़ियों को पवित्र करने वाला होता है।
2. दैव विवाह (Daiva Marriage)-मनुस्मृति में लिखा है "सद्कर्म में लगे पुरोहित को जब वस्त्र और आभूषणों से अलंकृत कन्या दी जाती है तो इसे दैव विवाह कहते हैं। "प्राचीनकाल में यज्ञ और

अनुष्ठानों का अत्यधिक महत्व था तथा जो ऋषि या पुरोहित इन पवित्र धार्मिक कार्यों को सम्पन्न कराता था यजमान उससे अपनी कन्या का विवाह कर देता था। देव विवाह वैदिक यज्ञों के साथ-साथ लुप्त हो गए।

3. आर्ष विवाह (Arsha Marriage) मनु के अनुसार इस प्रकार के विवाहों में वर अपने श्वसुर को एक गाय और एक बैल अथवा इनके दो जोड़े देता था और पत्नी प्राप्त करता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार जब दो गाय लेकर कन्यादान किया जाये तो उसे आर्ष विवाह कहते हैं। आर्ष का सम्बन्ध ऋषि शब्द से है। जब कोई ऋषि किसी कन्या के पिता को गाय और बैल भेंट के रूप में देता था तो यह समझ लिया जाता था कि अब उसने विवाह करने का निश्चय कर लिया है। वर्तमान में इसका प्रचलन नहीं है।

4. प्रजापत्य विवाह (Prajapatya Marriage)-प्रजापत्य विवाह वह विवाह है जिसमें कन्या का पिता वर को कन्यादान करते हुए कहता है "तुम दोनों एक साथ मिलकर आजीवन धर्म का आचरण करो। "इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न सन्तान अपने वंश की बारह पीढ़ियों को पवित्र करती है। ऐसा याज्ञवल्क्य का मानना है।

5. असुर विवाह (Asura Marriage) मनु के अनुसार "कन्या के परिवार वालों एवं कन्या को अपनी शक्ति के अनुसार धन देकर अपनी इच्छा से कन्या को ग्रहण करना असुर विवाह कहा जाता है। "कन्या मूल्य देकर सम्पन्न सभी विवाह असुर विवाह की श्रेणी में आते हैं।

6. गन्धर्व विवाह (Gandharva Marriage)-मनु के अनुसार, "कन्या और वर की इच्छा से पारस्परिक प्रेम द्वारा काम और मैथुन भावों से जो विवाह किया जाए उसे गन्धर्व विवाह कहते हैं। "याज्ञवल्क्य के अनुसार "प्रेम द्वारा होने वाले विवाह को गन्धर्व विवाह कहते हैं। "आधुनिक समय में इसे प्रेम-विवाह कहते हैं। यह वर और वधु की स्वतंत्र इच्छा पर आधारित है।

7. राक्षस विवाह (Rakshasa Marriage) मनु के अनुसार युद्ध में स्त्री का हरण करके उससे विवाह किया जाता है तो वह विवाह राक्षस विवाह कहलाता है। विभिन्न समाजों में प्राचीनकाल में युद्ध अधिक हुआ करते थे तथा स्त्री को पुरस्कार माना जाता था। महाभारत काल में ऐसे विवाहों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जैसे श्री कृष्ण का रूकमणी तथा अर्जुन का सुभद्रा के साथ आदि।

8. पैशाच विवाह (Paishacha Marriage)-मनु ने पैशाच विवाह की निम्न व्याख्या की है "सोई हुई, उन्मुक्त, घबराई हुई, मदिरा पान की हुई या राह में जाती हुई लड़की के साथ बलपूर्वक कुकृत्य करने के बाद उससे विवाह करना पैशाच विवाह है। किन्तु इस प्रकार के विवाह को लड़की का दोष न होने के कारण तथा कौमार्य भंग हो जाने के बाद उसे सामाजिक बहिष्कार से बचाने एवं उसका सामाजिक सम्मान बनाये रखने के लिए ही स्वीकृति प्रदान की गई है।"

मजूमदार कहते हैं कि उपर्युक्त आठ प्रकार के विवाह में ब्रह्म विवाह सर्वोत्तम देव और प्रजापत्य को मध्यम, आर्ष, असुर और गान्धर्व को निष्कृष्ट तथा राक्षस और पैशाच विवाह को महाभ्रष्ट विवाह माना गया है।

हिन्दू विवाह के नियम (Rules of Hindu Marriage)

हिन्दू विवाह एक ऐसी सामाजिक संस्था है जिसमें अनेक निषेध के अधीन जीवन-साथी का चुनाव किया जाता है। हिन्दू समाज में विवाह सम्बन्धी चार नियम हैं।

1. अन्तर्विवाह (Endogamy)
2. बहिर्विवाह (Exogamy)
3. अनुलोम (Hypergam)
4. प्रतिलोम (Hypogam)

1. अन्तर्विवाह (Endogamy)-इसके अन्तर्गत एक व्यक्ति अपने समूह में ही विवाह करता है। वैदिक और उत्तर वैदिक काल में द्विज जातियों का एक वर्ण था और यह लोग अपने ही वर्ण में विवाह करते थे। किन्तु जब एक वर्ण कई जातियों और उपजातियों में विभक्त हुआ तो विवाह का दायरा सीमित हो गया। लोग अपनी ही जातियों या उपजातियों में विवाह करने लगे जिसे अन्तर्विवाह कहते हैं।

   अन्तर्विवाह के कई कारण थे जिसमें है-प्रमुख बौद्ध और जैन धर्म मानने वालों का विभेद और अधिक हो गया और अन्तर्विवाह के द्वारा अपने-अपने को पृथक् रखने का प्रयत्न किया गया। इसके अतिरिक्त प्रजाति मिश्रण पर रोक सांस्कृतिक भिन्नता को बनाये रखना, जन्म का महत्व, उपजातियों का केन्द्रीकरण, व्यावसायिक ज्ञान की सुरक्षा, बाल विवाह का प्रचलन आदि।

   उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त व्यक्ति का अपनी ही जाति के प्रति लगाव, जाति से बहिष्कृत किये जाने का डर तथा जाति पंचायत एवं ग्राम पंचायत द्वारा जातीय नियमों को कठोरता से लागू करना आदि के कारण अन्तर्विवाह के नियमों का पालन बढ़ता गया।

   वर्तमान में नगरीकरण, औद्योगीकरण, यातायात एवं संचारवाहन के साधनों के विकास के कारण अन्तर्विवाह के नियम शिथिल होते जा रहे हैं।

2. बहिर्विवाह (Exogamy) बहिर्विवाह से तात्पर्य है कि एक व्यक्ति जिस समूह का सदस्य है उससे बाहर विवाह करे। हिन्दुओं में बहिर्विवाह के नियमों के अनुसार एक व्यक्ति को अपने परिवार, गोत्र, प्रवर, पिण्ड के कुछ समूहों से बाहर विवाह करना चाहिए।

   हिन्दुओं में बहिर्विवाह के निम्नलिखित प्रकार प्रचलित हैं

   a. गोत्र बहिर्विवाह

   b. सप्रवर बहिर्विवाह

   c. सपिण्ड बहिर्विवाह

   a. गोत्र बहिर्विवाह (Gotra Exogamy)-हिन्दुओं में सगोत्र विवाह निषेध है। गोत्र का सामान्य अर्थ उन व्यक्तियों के समूह से है जिनकी उत्पति एक ही ऋषि पूर्वज से हुई हो। गोत्र शब्द के तीन या चार अर्थ हैं जैसे गौशाला, गायों का समूह, किला तथा पर्वत आदि। इस प्रकार एक घेरे या स्थान पर रहने वाले लोगों में परस्पर विवाह वर्जित था।

      स्मृतिकारों ने सगोत्र विवाह करने वालों के लिए अनेक दण्ड, प्रायश्चित एवं जाति से बहिष्कृत करने की व्यवस्था की है। हिन्दू विवाह अधिनियम द्वारा वर्तमान में सगोत्र विवाह से प्रतिबन्ध हटा दिए गए हैं किन्तु व्यवहार में आज भी इसका प्रचलन है।

   b. सप्रवर बहिर्विवाह (Sapravara Exogamy)-पी. एन. प्रभु का मत है कि प्राचीन समय में अग्नि और हवन का प्रचलन था। हवन करने के लिए अग्नि प्रज्जवलित करते समय पुरोहित अपने ऋषि पूर्वजों का नामोच्चारण करते थे। इस प्रकार समाज पूर्वज के नाम का उच्चारण

करने वाले व्यक्ति अपने को एक प्रवर का सम्बन्धी मानते हैं अतः वह परस्पर विवाह नहीं कर सकते।

हिन्दू विवाह अधिनियमों द्वारा अप्रवर विवाह सम्बन्धी निषेधों को समाप्त कर दिया गया है।

c. सपिण्ड बहिर्विवाह (Sapinda Exogamy)-हिन्दुओं में सपिण्ड विवाह निषेध है। सपिण्ड का अर्थ-समान पिण्ड या देह वाला। मिताक्षरा व कर्वे के अनुसार सपिण्ड का अर्थ है मृत व्यक्ति को पिण्डदान देने वाले सभी सदस्य सपिण्ड हैं अथवा मृत व्यक्ति के रक्त कण से सम्बन्धित आदि सपिण्ड है। पिता-पुत्र, दादा-पोता, माता-पुत्र, नानी-दोहता आदि सपिण्ड सम्बन्धी हैं। एक निश्चित पीढ़ी तक के सदस्य सपिण्ड कहलाते हैं। निकट सम्बन्धियों तथा सपिण्ड सम्बन्धियों में विवाह निषेध रहे हैं। वशिष्ठ के अनुसार पिता की ओर से सात तथा माता की ओर से पाँच पीढ़ियों तक के सम्बन्धियों में विवाह करना वर्जित था। अगर कोई सपिण्ड विवाह करता है तो गौतम के अनुसार उसे जाति से निकाल देना चाहिए।

3. अनुलोम (Hypergamy)-अगर वर वधू से उच्च सामाजिक श्रेणी, वर्ण, जाति, वर्ग, अथवा कुल का है तो ऐसा विवाह अनुलोम विवाह या कुलीन विवाह कहलाता है। इसमें उच्च सामाजिक स्थिति का वर होता है तथा निम्न सामाजिक स्थिति की वधू होती है।

   अनुलोम विवाह के अनेक प्रभाव हिन्दू समाज में देखने को मिलते हैं जैसे उच्च कुलों में लड़कों की कमी, निम्न कुलों में लड़कियों की कमी, वर मूल्य प्रथा, बेमेल और बाल विवाह, बहु विवाह का प्रचलन तथा सामाजिक बुराईयाँ जैसे विलम्ब विवाह, विधवाओं का बढ़ना आदि।

4. प्रतिलोम (Hypogamy)-अनुलोम का विपरीत रूप प्रतिलोम विवाह है। इस प्रकार के विवाह में लड़की उच्च वर्ण, जाति, उपजाति, कुल या वंश की होती है लड़का निम्न वर्ण या जाति का होता है। स्मृतिकारों ने इस प्रकार के विवाह की कटु आलोचना की है। ऐसे विवाह से उत्पन्न सन्तान को 'चाण्डाल' कहा जाता था। हिन्दू विवाह वैधता अधिनियम 1949 और 1955 के हिन्दू विवाह अधि नियम के अनुलोम और प्रतिलोम विवाह दोनों को वैध माना गया है।

हिन्दू विवाह का बदलता स्वरूप (Changing forms of Hindu Marriage)

पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति, औद्योगीकरण, नगरीकरण, आधुनिकीकरण, संचार तथा यातायात के साध न व्यवसायों की बहुलता, सामाजिक विधान, सामाजिक चेतना आदि ने हिन्दू विवाह संस्था को प्रभवित किया है तथा उसमें अनेक परिवर्तन हो रहे हैं। यह परिवर्तन पति-पत्नी, परिवार तथा समाज से सम्बन्धि त हैं। विवाह के अनेक लक्षण बदल रहे हैं जैसे विवाह की आयु, उद्देश्य, प्रकार, निषेध, विधि-विध ान, रीति-रिवाज, पति-पत्नी के अधिकार, संस्कारात्मक प्रकृति आदि। हिन्दू विवाह धार्मिक संस्कार से एक सामाजिक और कानूनी समझौता बनता जा रहा है।

मुसलमानों में विवाह (Marriage Among Muslims)

मुस्लिम विवाह जिसे निकाह कहते हैं। इसका शाब्दिक अर्थ नर-नारी का विषयी समागम है। हिन्दुओं में विवाह को धार्मिक संस्कार माना है। परन्तु इसके विपरीत मुस्लमानों में इसे एक नागरिक संविदा माना हैं इसके प्रमुख उद्देश्य हैं: यौन संबंध, सन्तानोत्पत्ति करना, परिवार को चलाना, बच्चों का पालन-पोषण करना, घरेलू जीवन को व्यवस्थित करना डी. एफ. मुल्ला लिखते हैं "विवाह एक विशिष्ट समझौता है

जिसका उद्देश्य बच्चे उत्पन्न करना और उनको वैध घोषित करना है।"

आमिर अली के अनुसार, "मुस्लिम विवाह एक कानूनी संविदा है जिसके लिए न तो किसी मुल्ला (पुरोहित) की आवश्यकता है न ही किसी धार्मिक कर्मकाण्ड की। "एस. सी. सरकार भी मानते हैं कि मुस्लिम विवाह धार्मिक कर्तव्य नहीं है यह एक प्रकार की निष्ठा या ईबादत है।

NOTES

मुस्लिम विवाह की विशेषताएं (Characteristics of Muslim Marriage)

1. प्रस्ताव और उसकी स्वीकृति
2. विवाह संविदा करने की क्षमता
3. समानता का सिद्धांत
4. वरीयता प्रथा
5. मेहर

दूल्हे द्वारा मौलवी और दो गवाहों की उपस्थिति में दुल्हिन के सामने विवाह का प्रस्ताव रखा जाता है। विवाह को 'सही' मानने के लिए यह आवश्यक है कि प्रस्ताव और उसकी स्वीकृति एक ही बैठक में हो। ऐसा न होने पर यह विवाह फासिकद (अनियमित) हो जाता है किन्तु बातिल (अवैध) नहीं है। फासिद विवाह सही में बदला जा सकता है बातिल नहीं।

निम्नलिखित अवस्थाओं में विवाह शून्य या बातिल हो जाता है।

1. अगर कोई स्त्री पहले पति के रहते हुए दूसरा विवाह कर लेती है तो दूसरा विवाह रद्द हो जाता है। पहला विवाह बना रहता है।
2. निकट सम्बंधियों में विवाह निषेध है-माता, दादी, नानी, सास, पुत्र, सगी बहन, चाची, भाभी, दोहिती आदि।
3. मूर्तिपूजक से विवाह नहीं किया जाता।
4. तीर्थयात्रा के समय वैवाहिक सम्बंध स्थापित करना वर्जित है।
5. एक मुसलमान पुरुष चार पत्नियों के बाद पांचवीं स्त्री से विवाह नहीं कर सकता।
6. जब स्त्री इद्दत की अवधि में होती है तो उससे विवाह करना निषेध है। चार मासिक धर्मों के बीच की तीन माह की अवधि इद्दत कहलाती है। यह स्त्री के गर्भवती होने का पता लगाने के लिए किया जाता है।
7. पागल अथवा अल्पव्यस्क बिना संरक्षकों की अनुमति के विवाह करते हैं तो वह विवाह बातिल माना जाता है।
8. गर्भवती स्त्री को तलाक दिए जाने पर वह स्त्री बच्चे को जन्म देने के बाद ही पुनः विवाह कर सकती है।

स्व-प्रगति की जाँच करें :

3. संयुक्त परिवार में वृद्ध सदस्यों का निर्देशन युवाओं को किस तरह मिला करता है?
4. क्या आप समझते हैं कि संयुक्त परिवार आपकी द्वेष और क्लेश का केन्द्र बन जाता है?

शिया कानून अल्प वयस्क के वली को उसके विवाह का संविदा करने का अधिकार देता है। अल्प वयस्क के सम्बंधी "फजूली" द्वारा संविदा किया हुआ विवाह अल्प वयस्क को यौन अवस्था प्राप्त कर लेने के बाद विवाह को अनुसमर्थन करवा लेने का अधिकार देता है।

समानता के सिद्धांत का तात्पर्य है कि निम्नलिखित परिस्थिति के व्यक्ति के साथ विवाह नहीं करना और न ही भाग कर विवाह करना। ऐसे विवाह को हेय दृष्टि से देखा जाता है।

वरीयता प्रथा का अर्थ है कि पहले तो समानान्तर सहोदरज संतति (चचेरे, मौसेरे) को वरीयता देना फिर विलिंग सहोदरज संतति (केवल ममेरा फुफेरा नहीं) को।

मेहर प्रथा का अर्थ है वह धन जिसे पत्नी विवाह के उपरान्त पति से लेने की अधिकारी होती है। मेहर निश्चित या उपयुक्त हो सकती है मेहर फौजी (पति की मृत्यु या तलाक के समय देय) या विभेदी हो सकती है।

ईसाइयों में विवाह (Marriage Among Christians)

हिन्दू और मुसलमानों की तरह इसाईयों में भी दो सम्प्रदाय हैं

1. कैथेलिक
2. प्रोस्टेण्ट

हिन्दू और मुसलमानों की तरह ईसाईयों में भी विवाह का उद्देश्य यौन सम्बन्धों के लिए सामाजिक स्वीकृति प्राप्त करना तथा प्रजनन है।

क्रिश्चियन बुलेटिन में ईसाई विवाह को परिभाषित किया गया है विवाह समाज में एक पुरुष तथा एक स्त्री के बीच एक समझौता है, जो साधारणतः सम्पूर्ण जीवन भर के लिए होता है और इसका उद्देश्य यौन सम्बन्ध पारस्परिक सहयोग और परिवार की स्थापना करना है"।

विवाह करने की विधि की दृष्टि से विवाह दो प्रकार के होते हैं-

1. **धार्मिक विवाह**-ऐसे विवाह का निर्धारण लड़के-लड़की के माता-पिता या परिजनों के द्वारा होता है। ये विवाह, गिरजाघरों में संपन्न किये जाते हैं।
2. **सिविल मैरिज**-ऐसे विवाह के लिए लड़के-लड़की को मैरिज रजिस्ट्रार के कार्यालय में उपस्थित होकर आवश्यक कानूनी कार्यवाही करनी होती है।

ईसाईयों में रक्त संबंधी को छोड़कर शेष सभी से परस्पर विवाह किया जा सकता है। इसमें विधवा विवाह निषेध नहीं है तथा दहेज या मेहर जेसा लेन-देन नहीं होता।

मंगनी की रस्म के बाद, विवाह से पूर्व कुछ औपचारिकताऐं हैं जैसे-चरित्र प्रमाण पत्र प्रस्तुत करना, विवाह की तारीख से तीन सप्ताह पहले गिरजाघर में प्रार्थना पत्र प्रस्तुत करना। पादरी विवाह के विरुद्ध ऐतराज आमंत्रित करता है और यदि ऐतराज प्राप्त नहीं होता तो विवाह की तारीख तय हो जाती है। गिरजाघर में प्रभु ईशु के नाम पर दो गवाहों के समक्ष एक-दूसरे को विवाहित साथी मानते हैं।

ईसाई विवाह में आधुनिक परिवर्तन (Recent Changes in Christian Marriage)

वर्तमान समय में औद्योगीकरण नगरीकरण, पाश्चात्य शिक्षा, भौतिकवादिता तथा रोमांस आदि के कारण ईसाई विवाह के आदर्शों में परिवर्तन देखने को मिल रहा है। जिनमें से मुख्य हैं-विवाह की आयु में वृद्धि, जीवन साथी का चुनाव स्वयं लड़का या लड़की के द्वारा करना, धर्म का प्रभाव कम हो रहा है। गिरजाघरों की अपेक्षा सिविल मैरिज अधिक हो रही है। धर्मानुसार ईसाईयों में विवाह विच्छेद मान्य नहीं है। किन्तु अब इसमें वृद्धि हो रही है। ईसाईयों में विवाह सम्बन्धी निषेधों में शिथिलता आ रही है। कभी-कभी फुफेरे-

ममेरे भाई बहिनों में भी सिविल विवाह होने लगे हैं तथा अधिकतर विवाह रोमान्स और प्रेम पर आधारित होते हैं।

सारांश

विवाह के बिना एक हिन्दू या मुसलमान या ईसाई या अन्य कोई भी व्यक्ति चाहे वह स्त्री हो या पुरुष उन दायित्वों को पूरा करने में असफल रहता है जिन्हें भारतीय सामाजिक व्यवस्था का अनिवार्य अंग माना गया है। पुरुषार्थ में प्रदत्त जीवन के लक्ष्यों धर्म, अर्थ काम एवं मोक्ष की प्राप्ति, यौन सन्तुष्टि, सन्तानोत्पत्ति, विभिन्न धार्मिक क्रियाओं और संस्कारों को सम्पन्न किया जाना, विभिन्न ऋणों उनमुक्त होने के लिए विवाह एक आवश्यक व्यवस्था है। यह सही है कि अनेक लोग अविवाहित रहकर भी अपने दायित्वों का ईमानदारी पूर्वक वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में सफल रहे हैं किन्तु कहीं न कहीं उनका जीवन अपूर्ण रह जाता है।

स्वप्रगति की जाँच के उत्तर देखें :

1. **संस्कार**-भारतीय परिवारों में संस्कारों में महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय शास्त्रकारों ने मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों और व्यक्तित्व के विकास के लिए इन संस्कारों का विधान बनाया। इनकी मान्यता थी कि संस्कारों से मनुष्य का शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक एवं सांस्कृतिक विकास सम्भव है। धर्मशास्त्रों में निम्नलिखित 16 संस्कारों की व्यवस्था की गई

   1. गर्भाधान, 2. पुसवन, 3. सीमन्तोन्नयन, 4. जातकर्म, 5. नामकरण, 6. निष्क्रमण, 7. अन्नप्राशन, 8. चूड़ाकर्म, 9. कर्णछेदन, 10. विद्यारम्भ, 11. उपनयन, 12. वेदारम्भ, 13. गोदान (केशान्त), 14. समावर्तन, 15. विवाह, 16. अन्त्येष्टि।

2. **एक विवाह की प्रधानता**-भारतीय परिवारों में एक विवाह को ही महत्व दिया गया हैं यद्यपि कुछ लोग अनेक स्त्रियों से भी विवाह करते हैं, परन्तु अधिकांश लोग केवल एक स्त्री से ही विवाह करते हैं। भारतीय परिवार पश्चिमी परिवारों से भिन्न हैं क्योंकि यहाँ उन्हें यौन सम्बन्ध के साथ-साथ सामाजिक मूल्यों से भी बाँधा गया है।

3. **वृद्ध सदस्यों का निर्देशन**-संयुक्त परिवार में रहने वाले युवा सदस्यों को परिवार के वृद्ध सदस्य अपने अनुभव के आधार पर निर्देशित करते हैं। कई बार युवा सदस्यों के सामने ऐसी विकट स्थिति आ जाती है जिसका समाधान वे नहीं कर पाते हैं, ऐसे समय पर परिवार के वृद्ध सदस्य ही उन्हें मार्गदर्शन देते हैं और उन्हें गलत निर्णय लेने से बचा लेते हैं। एकाकी परिवार में वृद्ध सदस्यों के अभाव में यह लाभ उठा पाना सम्भव नहीं है जिससे कई बार ऐसे परिवार के सदस्य अनुभव के अभाव में गलत निर्णय लेकर परिवार को संकट में डाल देते हैं।

4. **द्वेष एवं क्लेश का केन्द्र**-संयुक्त परिवार एक ऐसा केन्द्र है, जिसमें सदस्यों में छोटी-छोटी एवं व्यर्थ बातों के लिए एक-दूसरे में तनाव एवं संघर्ष उत्पन्न होते रहते हैं। विशेषकर भारतीय नारियों मे अधिकांशतः अशिक्षित एवं अज्ञानी होने के कारण अधिक संघर्ष होते रहते हैं। वे अन्ध विश्वासी होती हैं। सास-बहुओं में दहेज के प्रश्नों को लेकर तनाव और संघर्ष चलते ही रहते हैं। इसी तरह दोनों ही पारिवारिक सत्ता हेतु एक-दूसरे के साथ संघर्ष करना ही उपयुक्त समझती हैं। इनके पारस्परिक संघर्ष से अन्य सदस्यों के मध्य झगड़े बढ़ने लगते हैं। डॉ. रामबिहारी सिंह तोमर का यह कथन है कि यदि किसी ने नर्क के दर्शन न किये हों तो संयुक्त परिवारों में कुछ ही

दिनों तक रहकर कर सकता है। इस तरह के संघर्ष एवं तनाव एकाकी परिवारों में नहीं होते हैं, पति-पत्नी एवं बच्चे सुखपूर्वक निवास करते हैं।

अभ्यास-प्रश्न

1. प्राचीन भारत में परिवार व्यवस्था पर एक निबन्ध लिखें।
2. हिन्दू संयुक्त परिवार व्यवस्था के प्रमुख लक्षणों की विवेचना कीजिए।
3. भारतीय संयुक्त परिवार की संरचना का वर्णन कीजिए।
4. संयुक्त परिवार व्यवस्था के गुण एवं दोषों की समीक्षा करें।
5. हिन्दू विवाह की अवधारणा, अर्थ एवं परिभाषा बताएं। हिन्दू विवाह के उद्देश्यों पर विस्तृत

ekMîly&9

NOTES

वर्ग-व्यवस्था
(Class System)

इस अध्याय के अन्तर्गत :

- परिचय
- सामाजिक वर्ग की परिभाषाएँ अर्थ एवं विशेषताएँ
- भारत में वर्ग विभाजन के आधार
- जाति और वर्ग में विभेद
- भारत में सामाजिक वर्गों की संरचना
- भारत में नगरीय-वर्ग संरचना
- भारत में वर्गों के प्रकार
- भारत में सामाजिक परिवर्तन एवं परिवर्तन की दिशा
- भारत में सामाजिक परिवर्तन के कारक

अध्याय के उद्देश्य :

इस अध्याय के अध्ययन के उपरांत आप जान सकेंगे :

- सामाजिक वर्ग की परिभाषाएँ, अर्थ और विशेषताएँ
- वर्ग विभाजन के आधार तथा जाति एवं वर्ग में विभेद
- भारत में सामाजिक वर्गों की संरचना एवं नगरीय वर्ग संरचना
- भारत में वर्गों के प्रकार
- भारत में सामाजिक परिवर्तन एवं परिवर्तन की दिशा
- भारत में सामाजिक परिवर्तन के कारक

bdkÃ&12 lkekftd oxZ dk vFkZ] ifjHkk"kk] fo'ks"krk,¡

सामाजिक स्तरीकरण सभी समाजों में व्याप्त है किन्तु भिन्न-भिन्न समाजों में इसका स्वरूप भिन्न-भिन्न है। कुछ समाजों में इसके स्वरूप में भिन्नता व्यक्ति के वंशानुक्रम पर आधारित है जबकि कुछ समाजों में व्यक्ति की योग्यता, कुशलता इसका आधार है। पहली अवस्था में किसी भी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं जबकि दूसरी अवस्था में परिवर्तन सम्भव है। प्रथम स्थिति जाति-स्तरीकरण है और दूसरी स्थिति वर्गगति-स्तरीकरण है। इस प्रकार स्तरीकरण का प्रथम आधार जाति है तो द्वितीय आधार वर्ग है। विश्व के अनेक समाजों में स्तरीकरण का आधार वर्ग है। इस प्रकार वर्ग की उत्पत्ति सर्वव्यापी है क्योंकि समाजों का संगठन प्रमुख रूप से विभिन्न वर्गों की महत्ता सामाजिक स्तरीकरण के आधार के रूप में आज सार्वभौमिक है। लेकिन वर्ग क्या है, इसकी क्या विशेषता है, जाति से यह किस रूप में भिन्न है? आदि बातों को विस्तार से जानना आवश्यक है।

सामाजिक वर्ग की परिभाषाएँ एवं अर्थ-ऑगबर्न और निमकॉफ ने सामाजिक वर्गों को इस प्रकार परिभाषित किया है "एक सामाजिक वर्ग ऐसे व्यक्तियों का संग्रह है जिनकी दिए हुए समाज में आवश्यक रूप से समान सामाजिक प्रस्थिति है।"

गिसबर्ट के मतानुसार, "एक सामाजिक-वर्ग व्यक्तियों का समूह अथवा श्रेणी है जिसका समाज में एक निश्चित 'पद' होता है और यह 'पद' ही अन्य समूहों से उनके सम्बन्ध को स्थाई रूप में निर्धारित करता है।"

मैकाइवर तथा पेज के अनुसार, "एक सामाजिक वर्ग समुदाय का वह भाग है जो सामाजिक परिस्थिति के आधार पर शेष भाग से अलग कर दिया जाता है।"

लेपियर के मत में, "सामाजिक वर्ग एक सांस्कृतिक समूह है जिसे सम्पूर्ण जनसंख्या में एक विशिष्ट स्थिति या परिस्थिति प्रदान की जाती है।"

जिन्सबर्ग के मत में, "वर्ग ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो व्यवसाय, धन, शिक्षा, जीवनयापन की विधि यों, विचारों, मानोभावों, प्रवृत्तियों और व्यवहारों में एक-दूसरे के समान होते हैं अथवा कुछ आधारों पर समानता की भावना से मिलते हैं और इस प्रकार अपने को समूह का सदस्य समझते हैं।"

मैक्स वेबर के अनुसार, "एक समूह को तब तक वर्ग कहा जा सकता है जब तक कि उस समूह के लोगों को जीवन के कुछ अवसर समान रूप से प्राप्त हों, जहाँ तक कि यह समूह वस्तुओं पर अधिकार या आमदनी की सुविधाओं से सम्बन्धित आर्थिक हितों द्वारा पूर्णतया निर्धारित तथा वस्तुओं या श्रमिक बाजारों की अवस्थाओं के अनुरूप हों।"

समाजविद् ओल्सन के अनुसार, "सामाजिक वर्गों का निर्माण उन व्यक्तियों के द्वारा होता है जिन्हें लगभग समान मात्रा में शक्ति, सुविधाएँ और सम्मान मिला होता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि एक सामाजिक वर्ग के व्यक्तियों की एक-सी संस्कृति, एक-सी सामाजिक परिस्थिति तथा एक-सी परम्पराएँ अथवा रीति-रिवाज होते हैं। वर्ग की भावना प्रत्येक समाज में मिलती है। इनकी कुछ विशेषताएँ हैं जो इनकी प्रकृति को और स्पष्ट करती हैं, वे निम्नलिखित हैं-

सामाजिक वर्गों की विशेषताएँ (Charateristics of Social Classes)

वर्ग की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं जिनके आधार पर वर्ग के सम्प्रत्यय को और अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकेगा-

1. **एक निश्चित संस्तरण (A Definite Hierarchy)**-सामाजिक वर्ग श्रेणियों में विभक्त होते हैं। यह उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग व निम्न वर्ग के हो सकते हैं। उच्च वर्ग के सदस्यों की संख्या सबसे कम किन्तु सामाजिक प्रतिष्ठा एवं प्रस्थिति उच्चतम होती है। निम्न वर्ग के सदस्यों की संख्या अधिक किन्तु प्रतिष्ठा एवं परिस्थिति निम्नतम होती है। सामाजिक वर्ग व्यवस्था में निश्चित संस्तरण होता है।

2. **वर्ग चेतनता (Class Consciousness)**-सामाजिक वर्ग के सदस्यों में वर्ग चेतनता पाई जाती है। यही चेतना मनुष्य के व्यवहार को निश्चित करती है। एक वर्ग के सदस्यों में समानता एवं अंह की भवना दृढ़ होती है। एक वर्ग दूसरे वर्ग से प्रतिस्पर्द्धा करता रहता है। इससे उनमें 'प्रतियोगी वर्ग चेतनता' का भाव आ जाता है यही वर्ग चेतना वर्ग संघर्ष को बढ़ावा देती है।

3. **समान प्रस्थिति (Equal Status)**-एक ही वर्ग के व्यक्तियों की सामाजिक परिस्थिति एक जैसी होती है, जैसे यदि समाज में सम्पत्ति को अधिक महत्व दिया जाता है तो उसी व्यक्ति की सामाजिक परिस्थिति ऊँची मानी जाएगी जिसके पास अधिक सम्पत्ति है। उसी प्रकार यदि राजनीति को अधिक महत्व दिया जाता है तो राजनीति की परिस्थिति का आधार होगी। इस प्रकार परिस्थिति निर्धारण के अनेक आधार हो सकते हैं। जब कई व्यक्ति एक-सी परिस्थिति के होते हैं तो वे एक वर्ग क सदस्य माने जाते हैं।

4. **श्रेष्ठता व हीनता की भावना (Feeling of Superiority and Inferiority)** -समाज के विभिन्न समूह परस्पर श्रेष्ठता अथवा हीनता की भावना रखते हैं। सभी इस व्यवस्था को स्वीकार करते हैं, जैसे-शासक वर्ग स्वयं को श्रेष्ठ व गरीब वर्ग को स्वयं की तुलना में हीन समझता है।

5. **प्रतिबन्धित सामाजिक सम्बन्ध (Restricted Social Relations)**-एक वर्ग के व्यक्ति अन्य वर्गों के व्यक्तियों से एक निश्चित सामाजिक दूरी बनाए रखते हैं। उनके सामाजिक सम्बन्ध अपने वर्ग तक ही प्रतिबन्धित अथवा सीमित होते हैं। इनका आर्थिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक स्तर होता है। जिससे व्यक्ति अपने ही वर्ग के व्यक्तियों से सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

6. **मुक्तता एवं स्थानान्तरण (Openness and Shifting)**-वर्गों की प्रकृति मुक्त होती है, जैसे एक व्यक्ति धनी बनकर उच्च वर्ग की सदस्यता ग्रहण कर सकता है अथवा सम्पन्न व्यक्ति किसी कारण निर्धन बन सकता है और गरीब वर्ग का सदस्य बन सकता है। तात्पर्य यह है कि वर्ग की सदस्यता मुक्त अथवा खुली होती है। जीवनपर्यन्त एक ही वर्ग की सदस्यता ग्रहण करना आवश्यक नहीं।

7. **वर्ग का वस्तुनिष्ठ पक्ष (Objective aspect of Class)**-एक वर्ग दूसरे वर्ग से अनेक पहलुओं में भिन्नता लिए हुए होता है। अनेक पक्ष विद्वानों द्वारा निर्धारित किए गए हैं। इनमें मकान का प्रकार, शिक्षा, आय तथा उनकी मोहल्ले की प्रतिष्ठा आदि को लिया जा सकता है, जैसे निम्न वर्ग के लोग गन्दी बस्तियों में रहते हैं, आय व शिक्षा भी कम होती है जबकि उच्च वर्ग शिक्षित, उच्च आय वाला व ऊँची-ऊँची इमारतों में रहता है। इस प्रकार व्यक्ति की परिस्थिति को देखकर उस वर्ग की पहचान हो जाती है।

8. **सम्बन्ध स्थापन (Establishment of Relations)**-एक वर्ग के सदस्यों के सम्बन्ध उसी वर्ग के अन्य व्यक्तियों के साथ स्वाभाविक रूप से हो जाते हैं। मित्रों का चुनाव, विवाह में कन्या पक्ष व वर पक्ष का चुनाव आदि आपस में समानता के आधार पर ही किए जाते हैं।

9. **उप-संस्कृति (Sub-culture)**-वर्ग की अपनी एक उप-संस्कृति होती है। एक वर्ग के सभी लोगों की एक-सी परिस्थिति होती है। उनका रहन-सहन, जीवन-शैली समान होती है। मैक्स वेबर ने ऐसे समूह को परिस्थिति-समूह कहा है जिनका व्यवहार करने का तरीका, रहने-सहने का स्तर आदि समान प्रकार का हो। इस प्रकार हर वर्ग की अपनी एक उप-संस्कृति होती है।

10. **आर्थिक आधार का महत्व (Importance of economic basis)** वर्ग का महत्वपूर्ण आधार आर्थिक परिस्थिति है। मार्क्स के मत में तो आर्थिक आधार ही वर्ग निर्माण का एकमात्र कारक है। इसी के आधार पर उच्च, मध्यम व निम्न वर्ग बने हैं और प्रत्येक वर्ग अपनी परिस्थिति के अनुरूप ही वर्ग की सदस्यता प्राप्त करता है।

11. **पूर्णतया अर्जित (Completely achieved)**-वर्ग की सदस्यता पूर्णतया व्यक्ति की योग्यता और कार्य-कुशलता पर निर्भर करती है। जिस योग्यता के अनुरूप उसका स्तर होता है उसकी योग्यता के वर्ग की सदस्यता उसे प्राप्त हो जाती है। जैसे निम्न वर्ग का सदस्य यदि अपने प्रयास से उच्च वर्ग के अनुरूप बन जाता है तो वह उच्च वर्ग की सदस्यता को ग्रहण कर लेता है। वर्ग-सदस्यता जन्म से ही नहीं मिलती अपितु यह अर्जित है।

12. **सामान्य जीवन विधि (Common mode of life)**-प्रत्येक वर्ग के सदस्यों के जीवन जीने की विधि एक जैसी होती है, जैसे-धनाढ्य वर्ग में धन का अत्यधिक दिखावा, विशिष्ट प्रकार की वस्तुओं का उपभोग करना प्रायः उच्चता का प्रतीक माना जाता है जबकि मध्यम वर्ग परम्पराओं का निर्वाह करना, समाज-सम्मत तरीके पर चलना अपना कर्तव्य मानते हैं। निम्न वर्ग में केवल भरण-पोषण करना ही उद्देश्य रहता है। इस प्रकर प्रत्येक वर्ग के जीवनयापन का तरीका एक जैसा ही होता है।

13. **वर्गों की अनिवार्यता (Essentiality of classes)**-प्रत्येक समाज में शिक्षा, व्यवसाय, आय, योग्यता आदि की दृष्टि से व्यक्तियों में विभेदता पाई जाती है। अतः इस विभेदता के आधार पर समाज में अनेक वर्ग स्वतः ही बन जाते हैं, जिनमें उस विशेषता से संयुक्त व्यक्ति होते हैं। इस प्रकार समाज में वर्गों की उपस्थिति अनिवार्य रूप से होती है।

14. **वर्गों की स्थायी विशेषता (Stable qualities of the class)**-यद्यपि वर्ग-व्यवस्था व्यक्ति की योग्यता, व्यवसाय, आय, धन, शक्ति आदि के आधार पर निर्मित होती है और किसी वर्ग के सदस्य योग्यता, शिक्षा आदि में वृद्धि कर अपने से उच्च वर्ग में जा सकते हैं। लेकिन इस प्रक्रिया में समय लगता है। प्रायः देखा जाता है कि व्यक्ति जिस वर्ग का सदस्य होता है, जीवन में दूसरे वर्ग में कम ही जाता है, जैसे-निर्धन व्यक्ति का धनवान होना या धनवान के निर्धन बन जाने की प्रक्रिया में काफी समय लगता है और प्रायः व्यक्ति अपने जीवन में एक ही वर्ग की सदस्यता प्राप्त कर पाता है।

15. **उप-वर्ग (Sub-class)**-प्रत्येक सामाजिक-वर्ग में अनेक उप-वर्ग भी मिलते हैं। जैसे उच्च-वर्ग में सभी एक समान स्तर के व्यक्ति नहीं होते हैं। उनमें उच्च-उच्च, उच्च-मध्यम एवं उच्च-निम्न वर्ग जैसी विशेषताएँ मिलती हैं। उसी प्रकार मध्यम वर्ग भी कुछ विशेषताओं में उच्च वर्ग के समान व

कुछ में निम्नवर्ग के समान हो सकते हैं। इस प्रकार मध्यम-उच्च, मध्यम-मध्यम, मध्यम-निम्न वर्ग बन जाते हैं। निम्न वर्ग भी मध्यम वर्ग के समान हो सकता है तो निम्न मध्यम, निम्न-निम्न आदि अनेक वर्गों का निर्माण हो सकता है।

भारत में वर्ग-विभाजन के आधार (Bases of Class-division in India)

सामाजिक वर्गों की विशेषताओं के स्पष्टीकरण के उपरान्त एक प्रश्न उपस्थित होता है कि वर्ग-विभाजन किस आधार पर किया जाना चाहिए। अनेक विद्वानों ने वर्ग-विभाजन के भिन्न-भिन्न आधार बताए हैं-

कार्लमार्क्स ने वर्ग-विभाजन के दो आधार बताए हैं-एक, पूँजीवादी वर्ग और दूसर, मजदूर वर्ग।

मैकाइवर ने भावात्मक विशेषताओं के आधार पर वर्ग विभाजन को स्पष्ट किया है। उन्होंने कहा कि, "यह केवल पद की भावना ही है जो आर्थिक, राजनैतिक अथवा धार्मिक शक्तियों, जीवनयापन के विशेष ढंगों और सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों द्वारा एक वर्ग को दूसरे वर्ग से पृथक् करती है और इस प्रकार समाज को एक संस्तरण में बाँटती है।"

मार्टिण्डेल और मोनाकसी व्यक्ति की आय और आर्थिक साधनों पर उसके अधिकार की मात्रा को वर्ग की कसौटी मानते हैं अर्थात् इनके मत में वर्ग निर्माण का आधार भौतिकता है।

बीसेंज और बीसेंज सामाजिक वर्ग की कसौटी के लिए संस्कृति के मूल्यों को प्रमुखता देते हैं। उनका कहना है, "स्थिति की कसौटियाँ संस्कृति के मूल्य निश्चित करती हैं।" यह कसौटियाँ विभिन्न संस्कृतियों में भिन्न-भिन्न हो सकती हैं, जैसे-अमेरिका में धन, भारत में जातियाँ हो सकती हैं।

हार्टन व हण्ट ने भी सामाजिक वर्ग के आधारों में धन, आय व्यवसाय, शिक्षा व वर्ग-परिस्थिति के प्रति स्वयं की धारणा को प्रमुखता दी है।

इस प्रकार वर्ग का आधार धन, आय का साधन, व्यवसाय की प्रकृति, निवास स्थान आदि हो सकते हैं क्योंकि समाज में प्रायः उच्च वर्ग, शासक वर्ग, व्यावसायिक वर्ग, मध्यमवर्ग एवं निम्न वर्ग के व्यक्ति हो सकते हैं।

भारत में वर्ग-निर्धारण के आधार (Bases of Class-determination in India)

रॉबर्ट वीरस्टीड ने वर्ग विभाजन के सात आधार बताए हैं, जो निम्नलिखित हैं-

1. सम्पत्ति, धन, और आय (Property, Wealth and Income)-सबसे महत्वपूर्ण आधार, धन सम्पत्ति व आय को माना है। धन-सम्पत्ति आय पर ही निर्भर करती है क्योंकि जैसा कि मार्क्स की मान्यता है कि भौतिक वस्तुएँ पूँजी, भूमि आदि निम्न व उच्च वर्ग के विभाजन का आधार हैं। जिसके पास आय के स्रोत जितने अधिक व उच्च-स्तर के होते हैं वह व्यक्ति उतने ही उच्च वर्ग का माना जाता है। किन्तु केवल धन-सम्पत्ति ही एक आधार नहीं है अपितु अन्य आधार भी महत्वपूर्ण हैं।
2. परिवार व नातेदारी (Family and Kinship)-परिवार व नातेदारी वर्ग-निर्धारण का महत्वपूर्ण आधार है। विवाह-सम्बन्धों में परिवार व नातेदारी प्रमुख मानी जाती है, जैसे उच्च स्तर वाले व्यक्तियों की रिश्तेदारी उच्च लोगों से ही होती है। अतः परिवार वालों को भी उसी दृष्टि से देखा जाता है।

3. निवास की स्थिति (Location of Residence) कोई व्यक्ति किस स्थान पर रहता है, उसके पड़ौसी किस स्तर के हैं? यह बातें भी व्यक्ति के वर्ग का निर्धारण करती हैं, जैसे विकसित कॉलोनी में रहने वाले लोग कच्ची बस्ती में रहने वाले लोगों से उच्च-स्तर के माने जाते हैं।

4. निवास स्थान की अवधि (Duration of Residence)-कोई व्यक्ति कितने समय से किस स्थान पर रह रहा है? उसका अतीत क्या है? उसके पूर्वज किस स्थान के निवासी थे? आदि-आदि तथ्य भी वर्ग का निर्धारण करते हैं। जैसे कोई व्यक्ति अपने पूर्वजों के निवास स्थान पर रहता है जो समाज में उसकी प्रतिष्ठा उनकी तुलना में अधिक है जो नौकरी के लिए नवीन स्थान पर जाकर रहते हैं जिनका कोई स्वयं का निवास स्थान नहीं होता।

5. व्यवसाय की प्रकृति (Nature of Occupation) व्यवसाय की प्रकृति भी वर्ग निर्धारण का प्रशासक, इन्जीनियर, डॉक्टर, राजनीतिज्ञ, प्रोफेसर आदि को समाज प्रतिष्ठा की आधार है; जैसे दृष्टि से देखता है। उनकी तुलना में ठेकेदार, दुकानदार आदि के पास धन होने पर भी सामाजिक-वर्ग में इनकी उतनी प्रतिष्ठा नहीं। इस प्रकार व्यवसाय की प्रकृति वर्ग का निर्धारक हो सकती है।

6. शिक्षा (Education)-शिक्षा, तकनीकी ज्ञान वर्ग का निर्धारण करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। कहा भी है, "स्वदेश पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते। "शिक्षित व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा अशिक्षित की तुलना में अधिक होती है।

7. धर्म (Religion) धर्म भी वर्ग-निर्धारण में अहम् भूमिका निभाता है। ऋषि-मुनि आज भी सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं। विशेष रूप से भारतवर्ष में धार्मिक स्थिति को विशेष महत्वपूर्ण माना जाता है।

वर्ग-निर्धारण के आधारों के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्ग का अधार धन-सम्पत्ति, आय, व्यवसाय, शिक्षा, जीवन-स्तर, संस्कृति आदि हैं और एक समान सामाजिक स्थिति वाले व्यक्ति एक वर्ग में आते हैं।

जाति और वर्ग में विभेद (Distinction between Caste and Class)

वर्ग-व्यवस्था स्तरीकरण के प्रथम आधार (जाति) से अनेक रूपों में भिन्न है। विशेष रूप से जन्म जाति का महत्वपूर्ण आधार है। इसके अतिरिक्त भी इनमें अनेक विभेद हैं अतः जाति और वर्ग दोनों में क्या-क्या असमानताएँ हैं? इन पर विचार करना आवश्यक है क्योंकि जाति और वर्ग दोनों ही स्तरीकरण के आध र हैं लेकिन कुछ भिन्नता लिए हुए हैं। जाति और वर्ग का अन्तर अग्रलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है-

जाति और वर्ग में विभेद
(Distinction between Caste and Class)

आधार	जाति	वर्ग
1. सदस्यता	जाति की सदस्यता स्थाई है। जाति का आधार जन्म है। अत: उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है।	वर्ग की सदस्यता परिवर्तनीय है। वर्ग व्यक्ति की योग्यता, क्षमता के अनुरूप परिवर्तित हो सकते हैं।
2. जन्म/कर्म	जाति जन्म पर आधारित है जिस जाति में उसने जन्म लिया है जीवन पर्यन्त व्यक्ति उसी जाति का सदस्य माना जाता है।	वर्ग कर्म पर आधारित है। अच्छे कर्म व्यक्ति को उच्च वर्ग में ले जा सकते हैं तथा नीच कर्म निम्न-वर्ग में ले जा सकते हैं।
3. प्रदत्त/अर्जित	जाति की सदस्यता प्रदत्त है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को जाति की सदस्यता बिना प्रयत्न के स्वत: ही जन्म से प्राप्त हो जाती है।	वर्ग की सदस्यता अर्जित है अर्थात् व्यक्ति के निजी प्रयत्नों का फल होता है कि उसे किस वर्ग की सदस्यता प्राप्त हुई है।
4. बन्द/खुला	जाति एक बन्द वर्ग है। इसकी सदस्यता जीवन-पर्यन्त होती है। इसे बदला नहीं जा सकता। इसीलिए जाति को बन्द-वर्ग कहा गया है।	वर्ग में खुलापन है। वर्ग का आधार धन, शिक्षा, आय, व्यवसाय आदि हैं जिनमें धन प्राप्ति करके व्यक्ति दूसरे वर्ग मे जा सकता है। यही वर्ग का खुलापन है।
5. व्यवसाय	जाति में व्यवसाय निश्चित है। प्रत्येक व्यक्ति का व्यवसाय जाति के द्वारा पूर्व-निर्धारित होता है जिसे अपनाकर व्यक्ति आजीविका प्राप्त करता है।	वर्ग का कोई व्यवसाय नहीं है। व्यक्ति अपनी योग्यता, क्षमता व कौशल के आधार पर कोई भी व्यवसाय अपना सकता है।
6. विवाह	जाति अन्तर्विवाह है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ही जाति में विवाह करना आवश्यक होता है।	वर्ग व्यवस्था में विवाह करने की स्वतन्त्रता होती है। व्यक्ति अपने से उच्च या मध्यम वर्ग में भी विवाह कर सकता है।
7. खान-पान	जाति में खान-पान पर प्रतिबन्ध है। प्रत्येक जाति के कुछ नियम होते हैं कि किन-किन जातियों के साथ वे खान-पान के सम्बन्ध रख सकते हैं और किनके साथ नहीं।	वर्ग में खान-पान पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। वर्ग में कोई प्रतिबन्ध नहीं कि वे किनके साथ खानपान करें तथा किनके साथ न करें।
8. उच्चता का आधार	जाति की उच्चता का आधार सामाजिक एवं धार्मिक है। इसमें एक संस्तरण है जो दो जातियों के बीच सामाजिक दूरी को निश्चित करता है- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र-यह क्रम निश्चित है। यह क्रम उच्च से निम्न की ओर है।	वर्ग की उच्चता का आधार आर्थिक है। अर्थात् सभी वर्ग अर्थ के आधार पर उच्च, मध्यम व निम्न हो सकते हैं।

NOTES

NOTES

भारत में सामाजिक वर्गों की संरचना (Structure of Social Classes in India)

विभिन्न समाजशास्त्रियों के अनुसार वर्तमान में भारत के समाज की संरचना जाति पर आधारित है। वर्तमान परिवर्तन के फलस्वरूप भारत के ग्रामीण और नगरीय समाजों का अध्ययन का आधार वर्ग होना चाहिए। अनेक सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षणों में आय, कृषि तथा गैर कृषि पेशों को वर्ग विभाजन का चर या आध रमाना गया है। भारत में स्तरीकरण का आधार अनेक परिस्थितियों तथा कारकों से प्रभावित होता रहा है। ईसा से 600 वर्ष पूर्व आर्यों तथा अनार्यों के परस्पर मिश्रण से भारत में वर्ग बनने प्रारम्भ हुए। इसी काल में लोग कृषि का व्यवसाय ठीक से करने लगे, नगरों का निर्माण हुआ, व्यापार पनपे तथा नगरों में पेशों के आधार पर गिल्ड व्यवस्था का विकास हुआ। इससे दस्तकार वर्ग का उदय हुआ। व्यवसाय करने वालों को धन की आवश्यकता पड़ी उनको सहायता देने वाले साहूकार समूह ने भी एक वर्ग का रूप धारण किया। इसमें अँग्रेजी शासनकाल में परिवर्तन आया जब इस विदेशी सरकार ने अनेक नए आर्थिक-राजनैतिक परिवर्तन किए। अँग्रेजी सरकार ने नई भूमि नीति को लागू किया। इससे जमींदारी एवं जागीरदारी व्यवस्था का विकास हुआ। ग्रामों मे इससे तीन वर्ग बने 1. जमींदार एवं जागीरदारी वर्ग, 2. जोतदार, और 3. कृषि मजदूर। रैयतवाड़ी व्यवस्था ने भी ग्रामीण समाज में दो वर्गों को जन्म दिया-1. रैयत-भूस्वामी स्वयं खेती 2. रैयत-कृषक। रैयत-भूस्वामी शोषक थे तथा रैयत-कृषक शोषित। बड़े भूस्वामी स्वयं खेती नहीं करते थे। वे अपने खेत दूसरों को लगान पर खेती करने के लिए देते थे। जोतदार स्वयं खेती करते थे तथा भूस्वामी को निश्चित लगान का भुगतान करते थे। अँग्रेजों के शासनकाल में यह व्यवस्था चलती रही।

भारत के और विदेशी समाजशास्त्रियों ने भारत में वर्ग-व्यवस्था आ अध्ययन किया है। इनमें उल्लेखनीय समाजशास्त्री गाडगिल, मुखर्जी, कोटोवस्की, थोर्नर, एम. खुसरों, पी. सी. जोशी, आन्द्रे बिताई आदि हैं। गाडगिल ने ग्रामीण समाज में दो वर्गों 1. भू-स्वामियों तथा साहूकार, और 2. कृषि करने वले ग्रामीणों का उल्लेख किया है। थोर्नर ने दो वर्ग का उल्लेख किया है

मालिक और साहूकार बताए हैं। कोटोवस्की ने पाँच वर्गों 1. बुर्जुआ 2. पूँजीपति भूस्वामी, 3. धनी कृषक, 4. भूमिहीन कृषक और 5. कृषि मजदूर। आर. के. मुखर्जी ने तीन वर्गों का उल्लेख किया है-1. भूमिपति एवं निरीक्षक किसान, 2. आत्मनिर्भर कृषक, और 3. कृषि मजदूर।

पी. सी. जोशी, एम. खुसरो आदि ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भूमि सुधार कानूनों के प्रभाव के परिणामस्वरूप ग्रामों में वर्ग-व्यवस्था में जो परिवर्तन आए हैं उनका अध्ययन किया है। पी. सी. जोशी ने इस बात का अध्ययन किया कि जमींदारी उन्मूलन और भू-सुधार कानूनों के कृषक वर्ग-संरचना पर क्या प्रभाव पड़े। आपने इन परिवर्तनों का उल्लेख किया है। 1. परम्परागत और सामन्ती जोत व्यवस्था तो समाप्त हो गई लेकिन उसके स्थान पर अधिक शोषणपूर्ण असुरक्षित पट्टेदारी व्यवस्था पैदा हो गई है। 2. सामन्ती भूस्वामी व्यवस्था तो समाप्त हो गई है तथा दूसरे स्थान पर नए व्यापारिक भूस्वामियों का प्रादुर्भाव हुआ है। यह कृषि को व्यापार समझते हैं। यह लोग कृषि में नवीनतम वैज्ञानिक उपकरणों, साध नों तथा पद्धतियों का प्रयोग करते हैं। इससे तनाव की स्थिति पैदा की गई है। देश के विभिन्न भागों में गरीब-कृषकों तथा खेतिहर मजदूरों ने संघर्ष किये हैं। खुसरो ने आन्ध्र में भू-सुधार कानूनों के प्रभावों का अध्ययन किया। आपका कहना है कि कृषि करने वाले वर्ग में कृषकों की संख्या बढ़ी है। साझेदारी में खेती करने वालों की आर्थिक परेशानियों में वृद्धि हुई है।

आन्द्रे बिताई ने तंजोर के श्रीपुरम ग्राम का अध्ययन किया। आपने पाया कि यहाँ जाति और वर्ग दोनों ही विद्यमान हैं। इनमें संरचनात्मक समन्वय विद्यमान था। वर्ग-व्यवस्था तथा जाति-व्यवस्था परस्पर-व्यापी है। बिताई का कहना है कि यहाँ वर्ग के आधार पर स्पष्ट स्तरीकरण मिलता है। योगेन्द्र सिंह ने उत्तर प्रदेश

के छः गाँवों का अध्ययन किया है। आपके अनुसार उच्च जातियाँ शक्तिशाली हैं। ग्रामों में उपर्युक्त वर्गों के प्रकार मिलते हैं। शहरों में वर्ग-व्यवस्था ग्रामों से भिन्न रही है। इन पर अध्ययन भी विशेष नहीं हुए हैं। औद्योगीकरण, नगरीकरण, मशीनीकरण और प्रजातान्त्रिक राजनैतिक व्यवस्था आदि से नगरों में नवीन वर्ग व्यवस्था का उदय हुआ है। जो ग्रामीण नगरों में आकर कल-कारखानों, औद्योगिक केन्द्रों, कार्यालयों, व्यापारिक प्रतिष्ठानों आदि में काम करते हैं, वे हजारों, लाखों की संख्या में आकर एक नया श्रमिक-वर्ग बनाते हैं। सरकारी प्रशासन में नौकरशाही प्रशासक वर्ग का उदय हुआ है। इसी प्रकार व्यापार से मध्यम वर्ग तथा उद्योगों के मालिको से पूँजीपति वर्ग का जन्म हुआ है।

भारत में अनेक व्यवसाय तथा सांस्कृतिक समूह हैं। भारत आज भी एक कृषि प्रधान देश है। ग्रामों में निवास करने वालों का प्रतिशत आज भी 72.00 प्रतिशत है। विभिन्न व्यवसायों, उत्पादन के साधनों तथा उत्पादन के विभिन्न सम्बन्धों के कारण विभिन्न प्रकार के वर्गों का उदय हुआ है। माइकल यंग के अनुसार भूमि ने जाति को तथा मशीन ने वर्गों को जन्म दिया है। इस कथन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में ग्रामों तथा नगरों की वर्ग-व्यवस्थाओं में भिन्नता है। जैसे-जैसे भारत में औद्योगीकरण, मशीनरी, संचार एवं यातायात के साधनों का विकास होगा। वैसे-वैसे वर्ग-संरचना में भी वृद्धि होगी। भारत में पश्चिमीकरण बढ़ता जाएगा, उसी के साथ-साथ यहाँ पर भी पश्चिमी समाजों जैसी वर्ग-व्यवस्था भी स्पष्ट होती चली जाएगी। उपर्युक्त पृष्ठभूमि के अनुसार आवश्यक हो जाता है कि भारत की ग्रामीण वर्ग-व्यवस्था तथा नगरीय वर्ग-व्यवस्था का अलग-अलग अध्ययन किया जाए।

भारतीय ग्रामों में वर्ग-व्यवस्था (Class-System in Indian Villages)

विभिन्न समाजशास्त्रियों तथा सामाजिक मानवशास्त्रियों ने भारतीय ग्रामों की वर्ग-व्यवस्था का अध्ययन किया है तथा अपने-अपने अनुभव और अध्ययन के क्षेत्रों के अनुसार वर्गों के प्रकार का वर्गीकरण किया है। इन विद्वानों, जैसे-थोर्नर, कोटोवस्की, मुखर्जी, खुसरो, पी. सी. जोशी, आन्द्रे बिताई के वर्गीकरणों के आधार पर भरतीय ग्रामों के वर्गों को मुख्य रूप से निम्नलिखित तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है-

1. मालिक, जमींदार और साहूकार वर्ग,
2. किसानवर्ग, और
3. मजदूर या भूमिहीन श्रमिक वर्ग

1. मालिक, जमींदार और साहूकार वर्ग (Class of Master, Jamindar and Money-lenders)-ग्रामों में उच्च वर्ग का निर्माण उन उच्च जातियों से होता है जो अधिक सुविधा सम्पन्न हैं। ग्रामीण-वर्ग-संरचना में उच्च वर्ग मालिकों, जमींदारों और साहूकारों से बना होता है। इन लोगों के पास गाँव की भूमि का बड़ा भाग होता है। यह बड़े भूस्वामी होते हैं। अन्य ग्रामवासियों के पाय छोटे-छोटे भूमि के टुकड़े होते हैं। यह लोग स्वयं खेती नहीं करते हैं। दूसरे लोगों को विभिन्न शर्तों पर भूमि कास्तकारी के लिए देते हैं तथा उनका शोषण करते हैं। कार्ल मार्क्स के अनुसार यह शोषक वर्ग होता है। इस उच्च वर्ग में गाँव की उच्च जातियाँ-ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के स्तर की जातियाँ होती हैं। जैसा कि श्रीनिवास ने भी लिखा है इन जातियों की सामाजिक प्रतिष्ठा भी ऊँची होती है क्योंकि यह उच्च जाति के सदस्य होते हैं। यह बड़े भूस्वामी होते हैं तथा इनका व्यवसाय धार्मिक दृष्टि से पवित्र होता है। यह लोग अन्य ग्रामवासियों की तुलना में अधिक शिक्षित होते हैं। हर प्रकार की सुख-सुविधाओं से सम्पन्न होते हैं। आर्थिक सम्पन्नता के कारण यह लोग गाँव में लोगों को रुपया उधार देते हैं। कुछ लोग केवल साहूकारी का ही कार्य करते हैं तथा कुछ कभी-कभी किसानों

को ऋण देते हैं। दोनों ही प्रकार के लोग किसानों का शोषण करते हैं। ऐसे सम्पन्न लोगों की संख्या बहुत कम होती है। गाँव में इनका विशेष प्रभाव होता है। यह ग्राम का सबसे लघु, धनाढ्‌य, सब तरह से सम्पन्न, प्रभावशाली उच्च वर्ग होता है।

NOTES

2. **किसान वर्ग (Class of Farmers)**-किसान वर्ग भारतीय ग्रामों में दूसरा वर्ग है। यह छोटे-छोटे भूमि के टुकड़ों का मालिक होता है। यह वर्ग जमींदार और साहूकार वर्ग से निम्न तथा भूमिहीन श्रमिकों या मजूदर वर्ग से ऊँचा होता है। किसान अपनी भूमि पर स्वयं खेती करता है। परिवार में सदस्यों की संख्या अधिक होने पर वह बड़े भूस्वामियों से खेती के लिए भूमि किराए पर ले लेता है और खेती करता है। इनकी स्वयं की भूमि जीविकोपार्जन के लिए पूरी नहीं पड़ती है तो यह मजदूरी भी कर लेते हैं। इनकी स्थिति बहुत अच्छी नहीं होती है। ये छोटे भूस्वामी होने के कारण श्रमिकों से आर्थिक स्थिति में कुछ विशेष ही माने जाते हैं। इनकी समाज में श्रमिकों की तुलना में अधिक प्रतिष्ठा होती है। जमींदार और साहूकार वर्ग इनका शोषण करता है। आर्थिक कठिनाइयों में इनकी भूमि बिक जाने पर ये तुरन्त निम्न वर्ग में पहुँच जाते हैं जो भूमिहीन-श्रमिक वर्ग कहलाता है।

3. **मजदूर अथवा भूमिहीन-श्रमिक वर्ग (Class of Labours or Landless labours)**-मजदूर या भूमिहीन-श्रमिक वर्ग भरतीय ग्रामों में सबसे निम्नवर्ग माना जाता है। इस वर्ग की ग्राम में सबसे निम्न स्थिति होती है। आर्थिक दृष्टिकोण से इनकी स्थिति बहुत दयनीय होती है। ये दूसरों के खेतों पर काम करके अपनी जीविका चलाते हैं। भारत में लगभग 46 प्रतिशत लोग निम्न वर्ग के ऐसे हैं जो गरीबी की रेखा से भी नीचे की स्थिति में अपना जीवनयापन करते हैं। निर्धनों की संख्या सबसे अधिक होती है तथा आय सबसे कम होती है। इन निम्नतम वर्ग के लोग मुश्किल से ही अपना पेट पाल पाते हैं।

उपसंहार (Conclusion)-यह ग्रामीण-वर्ग-व्यवस्था, जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार कानूनों का परिणाम है। कुछ समाजशास्त्रियों ने तो अपने अध्ययनों के आधार पर निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि भारतीय ग्रामों में जातियाँ वर्गों में परिवर्तित हो रही हैं। उच्च जातियाँ उच्च वर्गों में तथा निम्न जातियाँ निम्न वर्गों में बदल रही हैं। इस परिवर्तन के कारण सामुदायिक विकास योजना, पंचायती राज व्यवस्था, सहकारिता और ग्रामीण पुनर्निर्माण, भूदान ग्रामदान, सर्वोदय, अन्त्योदय योजना आदि हैं।

भारत में नगरीय वर्ग-संरचना (Urban Class Structure in India)

भारत में नगरों में स्तरीकरण के अन्तर्गत पहले केवल जातियाँ ही थीं; परन्तु अब औद्योगीकरण, मशीनीकरण, नवीन प्रशासन, व्यवस्था, सत्ता आदि के कारण उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग भी बन गए हैं। इन वर्गों के आधार भिन्न हैं। भारतीय नगरीय वर्ग-संरचना को समझने के लिए इनकी विवेचना करना आवश्यक है, जो निम्न प्रकार है-

1. उच्च वर्ग (Upper Class) उच्च वर्ग का स्थान सामाजिक संरचना तथ स्तरीकरण में उच्चतम होता है। नगरों में यह वर्ग आर्थिक दृष्टि से पूँजीपित होता है। देश के बड़े-बड़े कल-कारखाने, औद्योगिक केन्द्र, मिलें, खानें आदि के यह मालिक होते हैं। एक प्रकार से यह वर्ग शोषक वर्ग होता है जो श्रमिकों, मजदूरों आदि का शोषण करता है। धन के जोर से यह सरकार तथा राजनैतिक तन्त्र को अपने अनुसार कार्य करने को बाध्य करता है। देश की आय के बड़े हिस्से के यह मालिक होते हैं। उच्चवर्ग अपनी योजनाओं के अनुसार सरकार से नीति-निर्धारण करवाने की क्षमता रखता है। यह वर्ग सब प्रकार से सम्पन्न होता है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से यह सत्ता को नियंत्रित और निर्देशित

करते हैं। इनका समाज में विशेष सम्मान होता है।

2. मध्यम वर्ग (Middle Class) यह वर्ग उच्च वर्ग से निम्न स्थिति में होता है तथा इसकी स्थिति निम्न वर्ग से उच्च होती है। इस वर्ग मे छोटे व्यापारी, किसान, डॉक्टर, इंजीनियर, प्रवक्ता, प्राध्यापक, विभिन्न विभागों के कार्यकर्ता आदि होते हैं। इस वर्ग के सदस्यों में अनेक भिन्नताएँ होती हैं, जैसे- व्यवसाय, वेशभूषा, खानपान, दृष्टिकोण आदि। इस वर्ग का उत्पादन के साधनों पर कोई नियन्त्रण नहीं होता है। इनकी आर्थिक स्थिति ठीक होती है। इसके सदस्य आपस में एक-दूसरे से प्रतिस्पर्धा अधिक करते हैं। यह अपने जीवन स्तर को ऊँचा उठाने का निरन्तर प्रयास करते हैं। सामाजिक मूल्यों तथा प्रतिमानों का सम्मान करते हैं तथा उनका पालन करने में गौरव का अनुभव करते हैं। इस वर्ग के सदस्य अपनी आर्थिक स्थिति बनाए रखने के लिए सर्वदा जागरूक तथा प्रयत्नशील रहते हैं।

3. श्रमिक वर्ग (Labour Class) नगरीय वर्ग-संरचना में श्रमिक वर्ग की स्थिति निम्नतम होती है। इसे निम्न वर्ग भी कहा जा सकता है। इस वर्ग के सदस्य श्रमिक, मजदूर और निम्नतम आय पाने वाले नौकर होते हैं। इनकी जीविका का साधन मजदूरी करना है। इस वर्ग के सदस्य कल-कारखानों, उद्योगों, फैक्टरियों, खानों, मिलों आदि में काम करने वाले मजदूर होते हैं। यह शोषित वर्ग होता है। ये अधिकतर अशिक्षित होता है। यह वर्ग सभी प्रकार की समस्याओं का शिकार होता है। बाल-अपराध अपराध, नशाबन्दी, व्यभिचार, चोरी आदि सामाजिक समस्याएँ इस वर्ग में अधिक मिलती हैं। इस वर्ग के सदस्य नगर की गन्दी बस्तियों में रहते हैं। इनकी जनसंख्या बहुत अधिक होती है। यह लोग मुश्किल से ही अपनी आवश्यकताएँ जुटा पाते हैं।

भारत में वर्गों के प्रकार (Types of Classes in India)

भारत एक विशाल देश है। यहाँ पर विभिन्न संस्कृतियों, धर्म, व्यवसाय, शिक्षा, आर्थिक स्तर आदि के लोग रहते हैं। अगर सामाजिक वर्गों का अध्ययन समाज के प्रकार (ग्रामीण-नगरीय) के आधार पर नहीं करके अन्य आधारों को ध्यान में रखकर करें तो भारत में निम्नलिखित वर्ग मिलते हैं-

1. **पूँजीपति वर्ग (Capitalist Class)** पूँजीपति वर्ग ज्यादातर भारत के नगरों, महानगरों तथा औद्योगिक केन्द्रों में मिलते हैं। यह देश के बड़े-बड़े उद्योगों, खानों, मिलों, कारखानों आदि के मालिक होते हैं। पूँजीपति वर्ग देश की राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था को पैसे के बल पर नियन्त्रित करता है तथा अपनी इच्छानुसार योजनाएँ बनवाता है तथा नीति-निर्धारित करवाता है। यह शोषक वर्ग है जो श्रमिकों और मजदूरों का शोषण करता रहता है। इनका जीवन सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण होता है। उत्पादन के साधनों, उत्पादन की शक्तियों तथा उत्पादन के सम्बन्धों पर इनका पूर्ण नियन्त्रण होता है। संख्या के आधार पर यह देश का सबसे छोटा भाग होता है।

2. **श्रमिक वर्ग (Labour Class)** आर्थिक दृष्टिकोण से श्रमिक वर्ग समाज का सबसे निर्धन वर्ग होता है। जनसंख्या के आधार पर यह देश का सबसे बड़ा भाग होता है। जनसंख्या का लगभग 33 प्रतिशत भाग श्रमिकों का है। यह देश के सभी भागों में फैला हुआ है। जीवित रहने तथा अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इन्हें कठोर परिश्रम करना पड़ता है जिसका इन्हें न्यायोचित भुगतान नहीं किया जाता है। इसके सदस्य ज्यादातर अशिक्षित होते हैं। गन्दी और कच्ची बस्तियों में निवास करते हैं। देश के ग्राम, नगर, महानगर, औद्योगिक केन्द्रों, मिलों, खानों, भवन-निर्माण आदि के श्रमिकों को अग्रलिखित तीन प्रकारों में बाँटा जा सकता है-

स्व-प्रगति की जाँच करें :

1. कार्ल मार्क्स ने वर्ग विभाजन के कितने आधार बताए हैं?
2. व्यवसाय की प्रकृति के आधार पर वर्ग के निर्धारण सम्बन्ध में क्या कहा गया है?

NOTES

i) **कृषि श्रमिक** जो ग्रामीण क्षेत्रों में खेतों में मजदूरी करते हैं तथा खेती से सम्बन्धित कार्य करते हैं।

ii) **उद्योगों में लगे श्रमिक** जो खानों, चाय बागानों, कारखानों, छोटे उद्योगों आदि में श्रमिक का कार्य करते हैं।

iii) **अन्य श्रमिक** जो उपर्युक्त वर्णित क्षेत्रों के अतिरिक्त क्षेत्रों में मजदूरी का कार्य करते हैं, जैसे-बोझा ढोना, गोदी-श्रमिक, भवन एवं सड़क निर्माण, रिक्शा चलाना आदि कार्य करते हैं। इनका खूब शोषण किया जाता है।

3. **कृषक वर्ग (Farmer Class)-**भारत एक कृषि प्रधान देश है। जो देश कृषि प्रधान हो वहाँ पर कृषक वर्ग का होना तो स्वाभाविक है। कृषक वर्ग में बड़े और छोटे भूस्वामी दोनों ही आ जाते हैं। वे खेती का काम करते हैं। अब कृषि का व्यवसाय आर्थिक दृष्टि से अधिक आर्थिक लाभ प्राप्त करने वाला व्यवसाय है।

4. **व्यापारी वर्ग (Business Class)-**व्यापारी वर्ग के अन्तर्गत वे लोग आते हैं जो उत्पादकों से उपभोग की वस्तुएँ खरीदकर उपभोक्ताओं को बेचते हैं। व्यापारी वर्ग में थोक व्यापारी, खुदरा व्यापारी, दुकानदार और दलाल सम्मिलित किये जाते हैं। यह वर्ग उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं के बीच की कड़ी होता है। व्यापारी वर्ग का मुख्य उद्देश्य धन कमाना होता है। यह वर्ग धनिक होता है। सुख-सुविधाओं से सम्पन्न होता है।

5. **शासक वर्ग (Ruling Class)** शासक वर्ग वे लोग बनाते हैं जिनके हाथ में सत्ता है तथा जो सरकार चलाते हैं। जिन्हें जनता चुनती है। यह चुने हुए प्रतिनिधि विधानसभा और संसद में पहुँच जाते हैं। राजनैतिक दल द्वारा सरकार चलाई जाती है। इस प्रकार पूरे भारत देश में एक शासक वर्ग फैला हुआ है। शासक वर्ग अनेक विशेषाधिकारों का उपयोग करते हैं। सत्ता के द्वारा वे सभी काम पूरे करवा लेते हैं तथा उनका आर्थिक दृष्टिकोण से भी स्तर ऊँचा हो जाता है।

6. **नौकरशाही वर्ग (Bureaucratic Class)** प्रशासन तथा सरकार चलाने के लिए जो कर्मचारी होते हैं वे नौकरशाही वर्ग का निर्माण करते हैं। इनका संगठन बहुत प्रभावी और मजबूत होता है। यह वर्ग एक संघ या यूनियन के रूप में अपनी माँगें सरकार से पूर्ण करवाने में सक्षम होता है। इस वर्ग की सबसे छोटी इकाई ग्राम पंचायत में ग्राम सेवक है तथा केन्द्र के स्तर पर अनेक विभागों के अधि कारी और कर्मचारी होते हैं।

7. **बुद्धिजीवी वर्ग (Intelectual Class)-**बुद्धिजीवी वर्ग में समाज सुधारक, साहित्यकार, विचारक, दार्शनिक, शिक्षक, वैज्ञानिक, वकील, न्यायाधीश, पत्रकार आदि आते हैं। यह भारत का प्रभावशाली तथा प्रबल वर्ग है। यह वर्ग भारतीय समाज की बुराइयों को दूर करने का हमेशा प्रयास करता रहा है। संख्या के आधार पर यह वर्ग बहुत छोटा है लेकिन समाज के विकास के लिए इसका विशेष योगदान रहा है। इस वर्ग की उत्पत्ति और विकास में समाज सुधार के आन्दोलनकारियों की विशेष भूमिका रही है। राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि ने बुद्धिजीवी वर्ग के विकास में सक्रिय भूमिका निभाई है। इस वर्ग के लोग ही देश के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षिक विकास के लिए प्रयत्न करते हैं। समाज की सभ्यता और संस्कृति का विकास इसी वर्ग के प्रयासों से होता है। इस वर्ग ने समय-समय पर समाज की बुराइयों को दूर करने के लिए प्रयास किए हैं; जैसे-बाल-विवाह, सती-प्रथा, विधवा-पुनर्विवाह निषेध, दहेज, अस्पृश्यता आदि-आदि।

आधुनिक भारत में परिवर्तन तेजी से हो रहा है। इसका प्रभाव यहाँ के स्तरीकरण व्यवस्था तथा संरचना पर भी पड़ रहा है। नगरों तथा महानगरों में वर्ग-व्यवस्था का विकास हो रहा है। ग्रामों में आज भी जाति तथा जाति-व्यवस्था काफी प्रभावशाली है, इसमें भी परिवर्तन आ रहा है। कुछ का कहना है कि जातियाँ जिस स्तर की हैं उसी स्तर के वर्ग में परिवर्तित हो रही हैं। भारत में सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि हो रही है जो वर्ग-व्यवस्था को लाने में सक्रिय भूमिका निभा रही है।

भारत में सामजिक परिवर्तन की समूची प्रक्रिया में आप अपने आपको किस प्रकार स्थापित करते हैं सामाजिक परिवर्तन समाज का एक सार्वभौमिक नियम है। हम यह कह सकते हैं कि यह मत "परिवर्तन ही प्रकृति का नियम है" का एक भाग है। वास्तव में आस्था का चरण, तर्क का चरण एवं अस्थिरता का चरण मानव समाज में सामाजिक परिवर्तन को एक व्यवस्थित आकार देता है और यह चरण सामाजिक परिवर्तन से आकार ग्रहण करते हैं।

सामाजिक परिवर्तन का अर्थ एवं प्रक्रियाएँ

किसी भी सामाजिक व्यवस्था में निरन्तरता एवं परिवर्तन एक साथ उपस्थित होते हैं। निरन्तरता का अर्थ विभिन्न सामाजिक विशेषताओं का बिना किसी अवरोध के अनवरत बने रहना है। यह विशेषताएं इसलिए लगातार बनी रहती हैं क्योंकि सामूहिकता या सामूहिकता का एक भाग इन्हें चाहता है और इसलिए इन्हें लगातार स्वीकृति देता है। परिवर्तन इसके विपरीत है। परिवर्तन में सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न पक्षों को, जो विद्यमान हैं, सामूहिकता के द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाता है और उनके स्थान पर नए विकल्पों को लाया जाता है या संशोधन कर दिया जाता है। ये दोनों प्रक्रियाएं किसी भी समाज के इतिहास की रचना भी करती हैं। आपने देखा होगा कि भारत में सामूहिकता का एक बड़ा भाग अनेक शताब्दियों से संयुक्त परिवार प्रणाली को स्वीकृति देता रहा है। इसलिए संयुक्त परिवार का पाया जाना सातत्य का उदाहरण है जबकि प्राचीन पद्धति से खाना पकाने की जगह गैस का प्रयोग कर खाना पकाना परिवर्तन का उदाहरण है। यहाँ तक जान लेना जरूरी है कि भारत में अनेक क्षेत्रों में आज भी प्राचीन पद्धति से खाना पकाया जाता है। इसका मतलब यह है कि कहीं परिवर्तन तीव्र है, कहीं पर यह मन्द है और कहीं पर इसका महज आंशिक प्रभाव है। सातत्य में भी आप ऐसे अनेक उदाहरण खोज सकते हैं। अपने आस पास के माहौल पर नजर डालिए तो आप पाएंगे कि आपकी खान-पान की अनेक आदतें, पोशाक, ईश्वर, की आराधना करने के तरीके, बहुत छोटे-मोटे बदलाव के साथ आज भी आपकी जिंदगी का हिस्सा हैं। हमने किसी पक्ष को क्यों स्वीकृत किया और क्यों अस्वीकृत, को जब आप जानने की कोशिश करेंगे तो आपको लगेगा कि सातत्य और परिवर्तन को जाने बिना न तो आप स्वयं के विकास को और न ही आप समाज के विकास को समझ सकते हैं। हम इस विवेचना के साथ सामाजिक परिवर्तन को परिभाषित करने की और उसके अर्थ को जनाने की कोशिश करेंगे।

सामाजिक परिवर्तन का अभिप्राय किसी भी समाज की संरचना (सम्पूर्ण अथवा भाग) एवं सामाजिक व्यवस्था (सम्पूर्ण अथवा भाग) जो वर्तमान में विद्यमान है, में होने वाले किसी अर्थपूर्ण उद्देश्यमूलक प्रकृति के उस प्रतिस्थापन से है जो ऐतिहासिक एवं सामाजिक दृष्टि से प्रभावी / महत्वपूर्ण है। यहाँ प्रतिस्थापन का अभिप्राय उन प्रयासों से है जिनके परिणामस्वरूप वर्तमान अवयव के स्थान पर कोई नया अवयव आ जाए। उदाहरण के लिए संयुक्त परिवार को एकाकी परिवार प्रतिस्थापित कर दे। इस दृष्टि से परिवर्तन एक परिणाममूलक प्रघटना है। परन्तु यह प्रतिस्थापन ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपर्ण होना चाहिए। कोई छोटा-मोटा प्रतिस्थापन समाजशास्त्र में परिवर्तन की परिभाषा का आधार नहीं बनता। इसके अतिरिक्त सामाजिक परिवर्तन सदैव तुलनात्मक होता है। हमारी सामाजिक व्यवस्था कैसी थी और अब कैसी है, के मध्य

NOTES

की तुलना के आधार पर ही परिवर्तन को जाना जा सकता है। गिडिंस ने अपनी पुस्तक 'सोशियोलॉजी'' (1989) में परिवर्तन को अत्यंत लोकप्रिय उदाहरण के द्वारा प्रस्तुत किया। ग्रीक दार्शनकि हेरेक्टीलस (Heractilus) की चर्चा करते हुए गिडिंस ने बताया कि एक व्यक्ति एक नदी में दो बार समान प्रकृति के कदम नहीं रख सकता क्योंकि जब तक वह दूसरा कदम रखेगा नदी में से पहले वाला पानी जा चुका होगा अर्थात अब वह नदी भिन्न है। हम भी समाज में ऐसा ही पाते हैं। जिन संरचनाओं के साथ हम अन्तःक्रिया करते हैं वे कभी भी एक सी नहीं हो सकती, कोई न कोई अन्तर जरूर आएगा। यही अन्तर पविर्तन का द्योतक है। वास्तव में मनुष्य नवीनता की इच्छा को सदैव से अपने व्यक्तित्व का भाग बनाए हुए है। इसलिए परिवर्तन एक स्वाभाविक प्रघटना बन जाता है। हम कह सकते हैं कि किसी भी समाज में परिवर्तन असमान प्रकृति का होता है अर्थात कहीं पर इसकी गति मंद होती है और कहीं पर तीव्र।

सामाजिक परिवर्तन स्वाभाविक एवं उद्देश्य मूलक हो सकता है। परन्तु यह सदैव तुलनात्मक है और यह किसी भी समाज को गुणात्मक एवं मात्रात्मक सरलता से गुणात्मक एवं मात्रात्मक जटिलता की तरफ ले जाता है। किसी भी समाज में यदि सावधानीपूर्वक आप दृष्टिपात करें तो पाएंगे कि परिवर्तन के अनेक स्वरूप किसी न किसी रूप में उभरते हैं और अन्ततः उनका परिणाम एक नवीन अवयव की उत्पत्ति के रूप में आता है। यदि परिवर्तन किसी भी समाज में स्वाभाविक कारणों से होता है तो उसे सामाजिक उद्विकास कहा जाता है। इस संकेत के साथ हम सामाजिक परिवर्तन की निम्नलिखित प्रक्रियाओं की चर्चा कर सकते हैं-

1. सामाजिक उद्विकास
2. सामाजिक विसरण
3. सामाजिक गतिशीलता
4. सामाजिक विकास
5. सामाजिक प्रगति
6. सामाजिक वृद्धि
7. सामाजिक आंदोलन
8. सामाजिक क्रांति

1. सामाजिक उद्विकास

सामाजिक उद्विकास सामाजिक पविर्तन की वह सह प्रक्रिया है जिसमें आन्तरिक / देशज कारकों से समाज सरलता से जटिलता की तरफ अग्रसर होता है। हर्बट स्पेंसर सरलता एवं जटिलता के स्थान पर क्रमशः समरूपता एवं विषमरूपता की चर्चा करते हैं। सामाजिक उद्विकास मे वापसी संभव नहीं है। इस प्रक्रिया मे परिवर्तन अत्यंत मंद गति से होता है। इसलिए एक लम्बी अवधि के बाद जब तुलना की जाए तो "क्या परिवर्तन हुआ है" समझ में आ जाता है। यह परिवर्तन व्यक्तित्व विकास में देखा जा सकता है। आप जब माध्यमिक स्तर के विद्यार्थी थे तब आपका शारीरिक ढाँचा क्या था और आज आपका शारीरिक ढाँचा क्या है, के मध्य जब आप तुलना करें तो उद्विकास का अर्थ स्पष्ट हो जाएगा।

2. सामाजिक विसरण

सामाजिक विसरण परिवर्तन की वह सह-प्रक्रिया है जिसमे एक अवयव किसी समाज में उत्पन्न होता है औरउसके उपरान्त वह स्वाभाविक बहाव के साथ दूसरे समाजों में प्रवेश कर जाता है तथा वहाँ अपने प्रभाव को व्यक्त कर देता है। उदाहरण के लिए आप कहीं एक कमरे में अगरबत्ती लगाएं तो जलाने के बाद खुशबू स्वाभाविक बहाव के साथ अन्य कमरों में पहुँच जाती है। यह प्रक्रिया विभिन्न सामाजिक प्रणालियों में देखी जा सकती है। संस्कृति के अनेक अवयव अर्थात भोजन एवं पोशाक सम्बंधी आदतें सामाजिक विसरण के आधार पर हमारे जीवन का हिस्सा बने हैं। वहीं दूसरी ओर एक परिवार के आकार में सदस्यों की वृद्धि सामाजिक विसरण का उदाहरण है क्योंकि वह वृद्धि पुनरूत्पादन के स्वाभाविक कारणों से हुई है।

3. सामाजिक गतिशीलता

सामाजिक गतिशीलता का अभिप्राय उस सामाजिक बदलाव से है जिसमें सामाजिक संरचना तो लगभग अतीत की तरह है अर्थात उसमें तो कोई गुणात्मक बदलाव नहीं है। परन्तु उस संरचना की भूमिकाओं में गुणात्मक बदलाव हुए हैं। उदाहरण के लिए 16वीं और 17वीं शताब्दी में तीन पीढ़ियों वाला संयुक्त परिवार विद्यमान था आज भी यह संरचना मौजूद है, परन्तु पहले जो भूमिकाएं मुखिया के द्वारा की जाती थी आज वे भूमिकाएं गुणात्मक रूप में बदल चुकी हैं। हम इसे गतिशीलता कहते हैं। यह गतिशीलता अन्ततः सामाजिक परिवर्तनों को उत्पन्न कर देती हैं अर्थात धीरे-धीरे भूमिकाओं में यह बदलाव संयुक्त परिवार में संरचनात्मक परिवर्तन कर देगा, अर्थात सामाजिक गतिशीलता से परिवर्तन होगा। ठीक इसी प्रकार एक सामाजिक क्षेत्र में हुआ परिवर्तन दूसरे सामाजिक क्षेत्र में गतिशीलता उत्पन्न कर देगा।

4. सामाजिक विकास

सामाजिक विकास सरल दृष्टि से नियोजित सामाजिक परिवर्तन है। राज्य, राज्य की सहयोगी इकाइयों एवं स्वयं सहायता समूहों / गैर सरकारी संगठनों के द्वारा सुनिश्चित उद्देश्य की प्राप्ति हेतु एक निध रित अवधि में नीतिगत प्रारूपों के अंतर्गत किया जाने वाला गुणात्मक बदलाव / उन्नयन सामाजिक विकास है। चूंकि हमें इन उद्देश्यों को निर्धारित अवधि में प्राप्त करना है, अतः इनका मध्य-अवधि मूल्यांकन किया जाता है। सामाजिक विकास में सुनिश्चित किए गए उद्देश्यों के प्रति कोई वैचारिक विवाद नहीं होता। उदाहरण के लिए सन् 2015 तक शत-प्रतिशत साक्षरता की प्राप्ति हेतु किए गए प्रयास सामाजिक विकास को व्यक्त करते हैं।

5. सामाजिक प्रगति

जबकि सामाजिक प्रगति में उपरोक्त कारक / विशेषताएं उपस्थित हैं, सिवाय इसके कि वहां उद्देश्य को लेकर वैचारिक अन्तर्विरोध हो सकते हैं। अर्थात जनसंख्या का एक भाग उन उद्देश्यों को उपयुक्त मानता है, जबकि दूसरा उन्हें समाज के लिए हितकर नहीं मानता। गर्भपात अधिनियम को सामाजिक प्रगति के उदाहरण की संज्ञा दी जा सकती है।

6. सामाजिक वृद्धि

सामाजिक वृद्धि परिमाणात्मक प्रघटना है अर्थात् मात्रात्मक उन्नयन जो समाज के संदर्भ में है,

सामाजिक वृद्धि को बताता है। जनसंख्या की दर में सकारात्मक अथवा नकारात्मक वृद्धि इसके उदाहरण हैं।

NOTES

7. सामाजिक आंदोलन

सामाजिक आंदोलन सामाजिक परिवर्तन की वह सह-प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत दूरगामी लक्ष्यों को, जो विचारधारायी संदर्भों से निश्चित किए गये हैं, सामूहिक सक्रीयता के माध्यम से प्राप्त किया जाता है। आंदोलन में अनेक चरण होते हैं और इनमें विभिन्न इकाइयां नेतृत्वकारी एवं सक्रिय कार्यकर्ताओं के रूप में भूमिका का निर्वाह करती हैं। किसान आंदोलन के अनेक उदाहरण आपने विभिन्न विषयों में पढ़े होंगे।

8. सामाजिक क्रांति

सामाजिक क्रांति सामाजिक परिवर्तन की वह सह-प्रक्रिया है जिसमें गुणात्मक बदलाव अत्यंत तीव्र गति से होता है और इस बदलाव में हिंसा का प्रयोग अथवा हिंसा के प्रयोग की धमकी का प्रयोग संभव है। सामाजिक क्रांति तीव्र गति के उतार-चढ़ाव का प्रतिनिधित्व करती है। हाल में नेपाल की राजनीतिक सत्ता में हुआ परिवर्तन सामाजिक क्रांति का उदाहरण है।

उपरोक्त सह-प्रक्रियाएं सामाजिक परिवर्तन को परिणाम के रूप में प्रस्तुत करती हैं। जैसे-जैसे आप अन्य इकाइयों को पढ़ेंगे और अगली कक्षाओं में प्रेवेश करेंगे आपको स्पष्ट होता जाएगा कि सामाजिक परिवर्तन क्या है और आप किस प्रकार सामाजिक परवर्तिन का हिस्सा हैं। उदाहरण के लिए आज आप बी. ए. प्रथम वर्ष के विद्यार्थी हैं जबकि अगले सत्र मे आप बी. ए. द्वितीय वर्ष के विद्यार्थी होंगे। यदि समाजशास्त्र की भाषा में कहें तो यह आपके संदर्भ में प्रस्थिति गतिशीलता होगी। इस गतिशीलता का अन्ततः परिणाम बी. ए. की उपाधि की प्राप्ति होगी, जो प्रस्थिति की दृष्टि से आपके जीवन में सामाजिक परिवर्तन को व्यक्त करेगी।

आपने सामाजिक परवर्तिनों के पूर्व की इकाइयों में सामाजिक पविर्तन के अनेक सिद्धांतों को पढ़ा होगा। सामाजिक डार्विनवाद जो उद्विकास के सिद्धांत को व्यक्त करता है, एक रेखीय एवं बहुरेखीय उद्विकासीय सिद्धांत, पारसंस का सामाजिक परिवर्तन का सिद्धांत, ऐतिहासिक भौतिकवाद पर आधारित मार्क्स का परिवर्तन का सिद्धांत, एवं वेबर के सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत को आप समझ चुके हैं। इसके अतिरिक्त गिंडिस ने क्लार्क केर (clark Kerr) के रूपांतरण सिद्धांत (convergence theory) इत्यादि की चर्चा की। वास्तव में केर का विचार सामाजिक परिवर्तन को उद्योगवाद की तर्कसंगतता के संदर्भ में प्रस्तुत करता है। हम यहाँ इन सिद्धांतों का उल्लेख केवल इसलिए कर रहे हैं ताकि इन सबके आधार पर भारत में सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न पक्षों को जाना जा सके।

भारत में सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन हालांकि एक जटिल प्रघटना है, परन्तु उसे यदि व्यवस्थित रूप से देखा जाए तो कुछ आधारभूत पक्षों को समझा जा सकता है। एक मोटे तौर पर हम डा. योगेन्द्र सिंह के उन विचारों से सहमत हो सकते हैं जहाँ पूर्व-औपनिवेशिक भारत एवं औपनिवेशिक / उत्तर-औपनिवेशिक भारत को निम्नलिखित प्रारूप के अंतर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है। यहाँ पर यह बताना आवश्यक है कि यह वर्गीकरण अति सरलीकृत है और यह अपने आप में अनेक उप-विशेषताओं को सम्मिलित कर सकता है। योगेन्द्र सिंह के मतानुसार परम्परागत भारत जिसे हम पूर्व-उपनिवेशिक भारत की संज्ञा दे रहे हैं संस्तरण (hierarchy), सम्पूर्णता (holism), सातत्य (continuity), एवं पराभौतिकीय विश्व (tran-

scendence) का प्रतिनिधित्व करता है। वहीं दूसरी ओर औपनिवेशिक / उत्तर-औपनिवेशिक भारतीय समाज समानता (equality), व्यक्तिवादिता (Individualism), इतिहास विशिष्टता (historicity), एवं इहलौकिकीय तार्किकतावाद/धर्मनिरपेक्षता (this worldly rationalism / secularism) की विशेषताओं को सम्मिलित करता है। परम्परागत / पूर्व-उपनिवेशिक भारत से औपनिवेशिक / उत्तर-औपनिवेशिक भारत की सामाजिक हैं।

यात्रा ही भारत में सामाजिक पविर्तन को व्यक्त करती है। अर्थात इस यात्रा का अध्ययन कर हम सामाजिक परविर्तन को एक एतिहासिक प्रक्रिया के रूप में देख सकते हैं। परम्परागत भारतीय समाज अर्थात भारत का प्राचीन इतिहास इस तथ्य का संकेतक है कि संयुक्त परिवार बन्धुत्व, जाति, धर्म, विभिन्न सामाजिक प्रघटनाओं / संस्थाओं के संस्कारगत चरित्र एवं कृषि (सरल प्रौद्योगिकी व प्रकृति से निर्देशित) केन्द्रित अर्थतंत्र (दूसरे शब्दों में ग्रामीण समुदाय) भारतीय समाज की सामाजिक संरचना व संस्कृति को निर्मित व निर्देशित करते हैं। इनमें से अनेक अवयवों की चर्चा पी. एन. प्रभु ने अपनी पुस्तक Tradition Hindu Social Organization में की है। ये सभी पक्ष समय-समय पर अनेक महत्वपूर्ण प्रघटनाओं से प्रभावित हुए हम कह सकते हैं कि इन संरचनाओं / विशेषताओं में पनपे अनेक अन्तर्विरोधों ने विभिन्न सामाजिक प्रघटनाओं को जन्म दिया है। उदाहरण के लिए संस्तरण की विशेषता ने परम्परागत / प्राचीन भरातीय समाज में अन्तर्विरोधों को जन्म दिया जिसके परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म जैसी महत्वपूर्ण प्रघटनाएं अस्तित्व में आयी, जिन्होंने संरचना के प्रत्येक अवयव को प्रभावित कर दिया। भारतीय समाज के विकासात्मक सामाजिक इतिहास पर यदि नजर डालें तो बौद्ध धर्म, जैन धर्म, इस्लाम का भारत में प्रवेश, सिक्ख धर्म, पश्चिम का प्रभाव, पश्चिम के प्रभाव के पूर्व मध्ययुगीन भारत में सामंतवाद के ह्रास से उत्पन्न हुए अनेक सामाजिक सुधार आंदोलन, भारत में पश्चिमी प्रभाव के अंतर्गत औपनिवेशिक सत्ता की स्थापना, भारत का समूचा स्वाधीनात संघर्ष अर्थात उपनिवेशवाद एवं सामंतवाद के विरुद्ध उभरे जनसंघर्ष, उत्तर-औपनिवेशिक भारत में सोवियत संघ के प्रभाव से निर्मित केन्द्रीय नियोजनमूलक विकास, राज्य द्वारा भौतिक एवं सामाजिक आधार भूत संरचनाओं को विकसित करने की प्रक्रिया, संवैधानिक मूल्यों का शिक्षा एवं आंदोलनों के माध्यम से सामाजिक जीवन में प्रवेश तथा निजीकरण, उदारीकरण, एवं वैश्वीकरण से उत्पन्न हुए नवीन संस्थागत ढाँचे वे महत्वपूर्ण स्रोत हैं जिनसे भारत में सामाजिक परिवर्तन को समझा जा सकता है।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यदि हम भारत में उपरोक्त कारकों को केंद्र में रखकर परिवर्तन की सामाजिक प्रक्रियाओं की तरफ संकेत करें तो निम्नलिखित प्रक्रियाओं की चर्चा कर सकते हैं-

1. संस्कृतिकरण
2. पश्चिमीकरण
3. आधुनिकीकरण
4. स्थानीयकरण एवं सार्वभौमिकीकरण
5. लोकतांत्रीकरण
6. तार्किकीकरण
7. वैश्वीकरण
8. निजीकरण

9. उदारीकरण

10. नवीन मीडिया प्रौद्योगिकी

इन प्रक्रियाओं के अतिरिक्त इस्लामिक प्रभाव एवं मध्ययुगीन आंदोलनों के औपनिवेशिक एवं उत्तर-औपनिवेशिक भारत पर प्रभाव को भी सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं में सम्मिलित किया जा सकता है। इस स्तर पर हमारे लिए यह भी जानना आवश्यक हो जाता है कि भारत में सामाजिक परिवर्तन की उपरोक्त प्रक्रियाओं ने किन विकास मार्गों को निर्मित किया है। ए. आर. देसाई ने अपनी पुस्तक India's Path of Development में इन प्रक्रियाओं से उत्पन्न हुई विकास मार्ग की प्रघटनाओं को क्रमशः "विकास का पूँजीवादी मार्ग" एवं विकास का समाजवादी मार्ग की संज्ञा दी है। यह भी एक यथार्थ है कि इन दोनों विकास मार्गों के बीच एक मिश्रित विकास मार्ग सदैव सक्रिय रहा है। जो भारत एक कल्याणकारी राज्य है एवं गुटनिरपेक्ष आंदोलन की एक वास्तविक शक्ति है, के तथ्यों को स्थापित करता है।

भारत में सामाजिक परिवर्तन एवं परिवर्तन की दिशा

भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन को समझने के लिए सभी उपागम प्रयुक्त किए जा सकते हैं जिन्हें भारतीय समाज को समझने के लिए प्रयुक्त किया गया है। योगेंद्र सिंह ने अपनी पुस्तक The Image of Man में इन उपागमों की चर्चा विस्तार से की है। इनके मतानुसार ये उपागम निम्नलिखित हैं-

1. दार्शनिक सैद्धांतिक उपागम (Philosophical-theoretical orientation)
2. संस्कृतिशास्त्रीय उपागम (Culturological orientation)
3. द्वन्द्वात्मक-ऐतिहासिक उपागम (Dialectical-historical orientation)
4. संरचनात्मक-सैद्धांतिक उपागम (Structural-theoretical orientation)

इस स्तर पर हमें यह भी उल्लेख करना चाहिए कि योगेंद्र सिंह ने अपनी एक अन्य पुस्तक "Modernization of India Tradition" में भारत में सामाजिक परिवर्तन को समझने का एक एकीकृत उपागम प्रस्तुत किया है। यह एकीकृत उपागम निम्न है-

हालांकि यह उपागम पारम्परीकरण से आधुनिकीकरण की तरफ जाने की उन दिशाओं का और कारकों का एक स्वरूप है जिसे भारतीय समाज प्रारम्भ से किसी न किसी रूप में अनुभव करता रहा है। यहाँ एक विचार स्वयं की सोच के लिए निर्मित किया जा सकता है, जिस पर बहस की आवश्यकता है। उस विचार के अनुसार पारम्परीकरण की प्रक्रिया से आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं और उसकी बहुआयामी सह-प्रक्रियाओं में भारतीय समाज के प्रवेश को और उनसे उत्पन्न हुए सूक्ष्म एवं वृहत् परिणामों से उभरे भारतीय समाज के जटिल एवं विविधतामूलक चेहरे को हम "भारत में सामाजिक परिवर्तन" की संज्ञा दे सकते हैं। इकाई के अगले भाग में हम इन सब पक्षों को प्रस्तुत करने की कोशिश करते हैं। विभिन्न समाजशात्रियों ने संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण, आधुनिकीकरण इत्यादि प्रक्रियाओं की चर्चा भारतीय सामाजिक परिवर्तन का विवेचन एवं विश्लेषण करते हुए की है।

संस्कृतिकरण की अवधारणा को भारतीय परिवर्तन के आन्तरिक स्रोतों से उत्पन्न हुई प्रक्रिया कहा जा सकता है। इस अवधारणा को एम. एन. श्रीनिवास ने अपनी पुस्तक Relegion and Society among the Coorgs of South India में सर्वप्रथम प्रस्तुत किया। यह प्रक्रिया ब्राह्मणीकरण का विस्तार है। ब्राह्मणीकरण की प्रक्रिया में एम. एन. श्रीनिवास ने यह पाया कि निम्न जातियाँ एवं अन्य समूह सम्बद्ध क्षेत्र

में ब्राह्मणों की जीवन शैली का अनुकरण करते हैं और इसके उपरान्त एक या दो पीढ़ियों के अन्तराल से वे अपनी वर्तमान जातीय प्रस्थिति से उच्च प्रस्थिति का दावा करते हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में संस्कृतिकरण भारतीय सामाजिक परिवर्तन की वह सह-प्रक्रिया बन जाती है जिसके अन्तर्गत "निम्न हिन्दु जातियाँ, जनजातियाँ अथवा अन्य समूह अपनी जीवन पद्धति, रीतिरिवाज, संस्कारिता, इत्यादि में ऐसा परिवर्तन लाते हैं जो उच्च जातियों अर्थात द्विज जातियों की जीवन शैली की तरह होता है। सामान्यतः इस परिवर्तन के उपरान्त वे जातियाँ अथवा समूह जाति संस्तरण में वर्तमान प्रस्थिति से उच्च प्रस्थिति का दावा करते हैं। "परिवर्तन की यह प्रक्रिया स्थानीय समुदाय में उस सांस्कृतिक गतिशीलता का द्योतक है जिसने भारतीय परम्परागत संरचना को जटिलता प्रदान की है। योगेंद्र सिंह का मत है कि संस्कृतिकरण की प्रक्रिया ने स्थानीय क्षेत्रों में जाति की संस्कृति को न केवल जटिल बनाया अपितु सामाजिक व्यवस्था के आन्तरिक पक्षों में अनेक प्रकार के बदलाव की संभावना को उत्पन्न किया। हालांकि सामान्य संस्तरण, जो जातियों के विषय में है, कोई महत्वपूर्ण गुणात्मक बदलाव संस्कृतिकरण ने नहीं किया। हम इस स्तर पर यह संकेत भी देना चाहेंगे कि निम्न जातियों की आर्थिक प्रस्थिति में बदलाव तथा शक्ति सम्बंधों में उनकी सहभागिता ने स्थानीय क्षेत्रों में संस्कृतिकरण की प्रक्रिया को गति प्रदान की। हालांकि एम. एन. श्रीनिवास का यह प्रारूप भारतीय समाज में उच्च जातियों को सामाजिक परिवर्तन का एक कारक बताकर जाति की प्रकार्यात्मकता का संकेत देता है। परिणामस्वरूप श्रीनिवास का यह चिन्तन कहीं न कहीं जाति व्यवस्था के पक्ष में खड़ा दिखता है।

पश्चिमीकरण की अवधारणा को भी एम. एन. श्रीनिवास ने अपनी पुस्तक Social Change in Modern India में प्रस्तुत करता है। पश्चिमीकरण की प्रक्रिया बाह्य स्रोतों से उत्पन्न हुए भारतीय सामाजिक परिवर्तन को प्रस्तुत करती है। पश्चिमीकरण "भारतीय समाज एवं संस्कृति में लगभग 150 वर्षों के ब्रिटिश शासन में हुए उस परिवर्तन को व्यक्त करता है, जो प्रौद्योगिकी, संस्था, विचारधारा एवं मूल्यों इत्यादि के क्षेत्र में देखे जा सकते हैं। संस्कृतिकरण एवं पश्चिमीकरण दोनों ही सामाजिक अनुकरण को परिवर्तन की प्रक्रिया के साथ महत्वपूर्ण बना देते हैं। भारतीय समाज में हुए विभिन्न सामाजिक सुधार, वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षा का प्रवेश, नवीन राजनीतिक संस्कृति, नेतृत्व चयन की प्रक्रिया, रेलवे, बस एवं सामाचार पत्र तथा मीडिया सहित ऐसे अनेक पक्ष हैं जो पश्चिमीकरण की प्रक्रिया में सम्मिलित होते हैं और भारतीय समाज में सम्बद्ध इकाइयों के सामाजिक जीवन को परिवर्तित करते हैं। श्रीनिवास यह मत व्यक्त करते हैं कि 150 वर्षों के ये ब्रितानी प्रभाव इतने अधिक प्रभावी हैं कि वे आधुनिकीकरण के स्थान पर पश्चिमीकरण के शब्द को ही प्रयुक्त करना चाहेंगे।

आधुनिकीकरण भारतीय सामाजिक परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जो तर्कयुक्त चयन के आधार पर हुए परिवर्तनों की द्योतक है। अर्थात आधुनिकीकरण में अनुकरण का पक्ष सम्मिलित नहीं है। एस. सी. दूबे ने अपनी पुस्तक Modernization and Development :: Search of new Paradigm में आधुनिकीकरण का अभिप्राय उस प्रक्रिया से बताया है कि जिसके अंतर्गत संकोच, संकीर्णता, पारम्परिकता इत्यादि को अस्वीकृत कर वैश्विक / व्यापकता का प्रतिनिधित्व करने वाली जीवन शैली को उपयुक्तता के आधार पर चुना जाता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि पश्चिमीकरण का पक्ष इसलिए आधुनिकीकरण नहीं है क्योंकि उसमें अनुकरण है। जबकि आधुनिकीकरण में तर्क के आधार पर चुनाव है। एक व्यापक अर्थ में आधुनिकीकरण आन्तरिक एवं बाह्य दोनों ही स्रोतों का परिणाम है। इस दृष्टि से आज का आधुनिकीकरण भविष्य का पारम्परीकरण होगा, ठीक इसी प्रकार आज का पारम्परीकरण कभी अतीत में आधुनिकीकरण रहा होगा। हम यह भी तर्क दे सकते हैं कि मोटे-मोटे रूप में आधुनिकीकरण औद्योगिक विकास का परिणाम है। प्रौद्योगिकी, वैज्ञानिक शिक्षा, एवं बाहुल्यता / विविधतामूलक विकल्पों की उपस्थिति

NOTES

आधुनिकीकरण की संकेतक है। उदाहरण के लिए कृषि के क्षेत्र में बैलों के स्थान पर ट्रेक्टरों का प्रयोग आधुनिकीकरण का परिचायक है। जातिगत नियमों के स्थान पर कानून के माध्यम से व्यवहारों का नियमन भी आधुनिकीकरण को व्यक्त करता है। यहाँ हम एक बार फिर उस तथ्य की तरफ संकेत देना चाहेंगे जहाँ योगेंद्र सिंह पारम्परीकरण से आधुनिकीकरण की तरफ की अग्रसरता को भारतीय सामाजिक परिवर्तन के रूप में व्यक्त करते हैं। राजनीति, संस्कृति, अर्थतंत्र, सामाजिक सम्बंध, विचारधारा एवं विभिन्न संरचनाऐं वे सामाजिक क्षेत्र (social space) हैं जहाँ आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की सक्रिय उपस्थिति देखी जा सकती है। भारतीय समाज अपनी प्राचीनता के कारण और दीर्घकालिक इतिहास के कारण परम्पराओं, रूढ़ियों एवं धर्म से निर्देशित जीवन शैली का मुख्यतः प्रतिनिधित्व करता है। इसलिए आधुनिकीकरण ने "पारम्परिकता-आधुनिकता द्वन्द्व" को भारतीय समाज की एक महत्वपूर्ण विशेषता बना दिया है। यह द्वन्द्व आपको जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नजर आता होगा। पोशाक को लेकर विभिन्न क्षेत्रों में उपजे वैचारिक विवाद और उससे उत्पन्न हुआ सांस्कृतिक-नैतिक "Policing" का तथ्य परम्परा-आधुनिकता विवादी का एक ऐसा ही उदाहरण है।

पारम्परिकता-आधुनिकता का यह विवाद किसी भी सामाजिक व्यवस्था में विभिन्न समूहों की जीवन पद्धतियों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण करते समय नजर आता है। विश्लेषण का एक और अन्य पक्ष "लघु परम्परा-वृहद् परम्परा संवाद" के रूप में देखा जा सकता है। सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र में इस प्रक्रिया की चर्चा राबर्ट रेडफील्ड ने की थी। उनके इस प्रारूप से प्रभावित होकर मिल्टन सिंगर एवं मैक्किम मेरियट ने भारत में सामाजिक परिवर्तन का उल्लेख करते हुए इस प्रक्रिया को प्रयुक्त किया है। लघु परम्परा किसी भी समाज में पायी जाने वाली वे नियम प्रणालियाँ एवं व्यवहार करने के तरीके हैं जो ग्रामीण एवं स्थानीय क्षेत्रों में विद्यमान हैं। इन्हें "लोक परम्पराओं" की भी संज्ञा दी जाती है। ये परम्पराऐं अलिखित हैं और मौखिक संचार के द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती हैं। हम इन्हें सामान्य जन की परम्पराओं की भी संज्ञा देते हैं। ये परम्पराऐं स्थानीयकरण (parochialization) एवं सार्वभौमिकीकरण (universalization) की प्रक्रियाओं से जुड़ती हैं। जैसे-जैसे परसंस्कृतिग्रहण की प्रक्रिया होती है, स्थानिक गतिशीलता का विस्तार होता है। लघु परम्पराऐं विभिन्न क्षेत्रों में अपने स्थान को स्थापित करने लगती हैं।

वृहद् परम्पराएं अभिजन की परम्पराएं हैं इन्हें "नगरीय परम्पराऐं "भी कहा जाता है। इनका स्वरूप लिखित होता है और यह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती हैं। जैसे-जैसे नगरीय जनसंख्या अपने विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए गाँव अथवा लोक समुदायों में प्रवेश करती है, नगरीय परम्पराऐं उस स्थानीय क्षेत्र की विशेषताओं के साथ समाहित होकर उस स्थान पर अपनी भूमिकाओं का निर्वाह करने लगती हैं। लघु परम्पराऐं इस दृष्टि से वृहद् परम्परा की तरफ और वृहद् परम्पराऐं लघु परम्परा की तरफ अग्रसर होती हैं और उनका वास्तविक स्वरूप संयुक्त परम्परा (multiple tradition) का रूप ले लेता है। अतः परम्पराओं के इन दोनों स्तरों के मध्य एक अनवरत अन्तः क्रियात्मक पक्ष उभरता है। मैक्किम मेरियट ने किशनगढ़ी में अध्ययन के दौरान इस अन्तः क्रिया को समझा। यह अन्तःक्रिया संस्कृति को जटिल एवं गत्यात्मक बनाती जाती है। एक यथार्थ के रूप में हम यह भी कह सकते हैं कि लघु परम्परा से वृहद् परम्परा तक के प्रारूप में अनेक स्तर भी समाहित हो सकते हैं। एस. सी. दूबे ने परम्पराओं के जो छः स्तर बताएं हैं उन्हें इस रूप में परखे जाने की जरूरत है-क्लासिकल परम्परा, उमड़ती हुई राट्रीय परम्पराऐं, क्षेत्रीय परम्पराऐं, स्थानीय परम्पराऐं, पश्चिमी परम्पराऐं एवं विभिन्न समूहों की स्थानीय उप-सांस्कृतिक परम्पराऐं। दूबे के द्वारा प्रस्तुत वह वर्गीकरण है जिनमें लघु एवं वृहद् दोनों ही परम्पराऐं एक पैराडिमिक स्वरूप (paradigmic shape) ले सकती हैं। दूबे के द्वारा प्रस्तुत स्थानिक उप-सांस्कृतिक परम्पराऐं लघु परम्पराओं की श्रेणी में आ सकती हैं। जैसे-जैसे हम आगे बढ़े क्लासिकल परम्पराओं और अनेक पश्चिमी

परम्पराओं को विश्लेषण की दृष्टि से वृहद् परम्परा कह सकते हैं। इसके बीच में जो विभिन्न परम्पराऐं हैं वे कहीं न कहीं संयुक्त परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करती नजर आती हैं। इसलिए दूबे जब वृहद् परम्पराओं का विवेचन करते हैं तो निकट-वृहद् परम्परा (near-great tradition) की अवधारणा को भी व्यक्त करते हैं।

लोकतांत्रीकरण भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत संवैधानिक प्रतिमानों के आधार पर सामाजिक सम्बंधों को एक आकार देने का प्रयास किया जाता है। ताकि समबद्ध सामाजिक इकाइयाँ स्वयं को नागरिकता की प्रस्थिति के अनुसार भूमिका निर्वाह हेतु योग्य बना सके। समानता, स्वतंत्रता, तर्कसंगतता, सामाजिक न्याय, धर्मनिरपेक्षता, उदारवाद, साझा सांस्कृतिक विरासत अर्थात् संस्कृतियों में खुलेपन की स्वीकृति एवं सहिष्णुता के मूल्यों को सामाजिक सम्बंधों को आकार देने के लिए प्रयुक्त किया जाए। लोकतांत्रीकरण लैंगिक समानता के मूल्य को सामाजिक यथार्थ के रूप में स्थापित करता है और इसके साथ ही तर्कयुक्त चयन को सामाजिक जीवन में महत्व देता है। शिक्षा के क्षेत्र में लोकतांत्रीकरण बच्चों को सवाल करने के लिए प्रोत्साहित करता है, जबकि श्रम विभाजन के क्षेत्र में समानता के परिप्रेक्ष्य में स्थापित करना लोकतांत्रीकरण का अर्थ बन जाता है। आप जब अपने परिवार, विद्यालय, अन्य समूहों और स्वयं अपने व्यक्तित्व पर नजर डालें तो यह रेखांकित करने की कोशिश कीजिए कि कहां-कहां पर लोकतांत्रीकरण की प्रक्रिया में आपकी सहभागिता है। यदि आपको यह महसूस हो कि नागरिकता की अस्मिता के स्थान पर अन्य अस्मिताएं महत्वपूर्ण हैं तो यह निष्कर्ष निकाल लेना चाहिए कि हम राष्ट्र-राज्य के उस प्रारूप में असंतुलनकारी व्यक्तित्व हैं, जहाँ कानून के सम्मुख समानता को आकार देने की अनिवार्यता है। स्वतंत्र भारत में पंचायतीराज अधिनियम के उपरान्त ऐसे स्थानीय क्षेत्रों में लोकतांत्रीकरण की प्रक्रिया प्रविष्ट हुई है जहाँ जाति, धर्म, नातेदारी, परम्पराओं एवं वर्चस्व की संस्कृति ने बन्द प्रारूपों को उत्पन्न कर दिया था। पंचायतीराज से उत्पन्न हुआ बदलाव एक ऐसा सबलीकरण है जो लोकतांत्रीकरण को आधारभूतीय जीवन शैली बना देता है। विभिन्न समाज वैज्ञानिको जैसे ए. आर. देसाई, दीपांकर गुप्ता, के. एल. शर्मा, रणधीर सिंह, रजनी कोठारी, बीना अग्रवाल, ऊषा पटनायक, एजाज अहमद इत्यादि ने विभिन्न क्षेत्रों में पनप रहे लोकतांत्रीकरण के प्रभावों और उन पर संकीर्णतावादी समूहों की चर्चा की है। भारतीय समाज में अनेक अन्तर्विरोधों के बावजूद लोकतंत्र का शक्तिशाली होते जाना इस तथ्य का संकेत है कि लोकतांत्रीकरण की प्रक्रिया स्वाधीनता के इन 60 वर्षों में लोगों के सामाजिक जीवन का धीरे-धीरे एक अविभाज्य अंग बनने लगी है।

तार्किकीकरण की प्रक्रिया मुख्यतः वैज्ञानिक मूल्यों के विस्तार का परिणाम है। इस प्रक्रिया के अंतर्गत सामाजिक इकाइयां विभिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति के प्रयासों में व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों, निजी हितों एवं गैर-संस्थागत प्रयासों को त्यागकर उन प्रयासों को उद्देश्य पूर्ति का भाग बनाते हैं, जो उपयुक्त है। अर्थात् जिनमें अवैयक्तिकता की प्रधानता है। तार्किकीकरण सामाजिक इकाइयों को प्रेरित करता है कि वे ऐसे अनेक क्रिया-कलापों को अस्वीकृत करें जिन्हें औपचारिक संस्थागत प्रणालियों के अंतर्गत मान्यता प्राप्त नहीं है। प्रशासनिक संरचना तार्किकीकरण के स्वरूप के अंतर्गत स्वयं को करती है। हमें इस प्रक्रिया के अंतर्गत यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि हमारी उपलब्धि इसी से सुनिश्चित होगी। यदि तार्किकीकरण नहीं है तब विकास के विभिन्न पक्ष अर्थात परिवर्तन की दिशाएं अनिश्चितता की शिकार हो सकती हैं। भारतीय समाज में तार्किकीकरण की प्रक्रिया के आधार पर सामाजिक परिवर्तन की उभरने वाली संभावनाओं का उल्लेख सुरेन नवलखा, सुदीप्तो कविराज, सी. पी. भामरी, मेघनाद देसाई इत्यादि ने किया है। लौकिकीकरण आधुनिक भारतीय समाज में परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत पराभौतिकीय शक्ति सम्बंधों के वर्चस्व के स्थान पर वास्तविकता मूलक शक्ति सम्बंधों अर्थात् इहलौकिकता के संबंध मूलक पक्षों को स्थापित किया जाता है। लौकिकीकरण की प्रक्रिया भौतिकवादी जीवन शैली के यथार्थ को स्वीकार करती

NOTES

है और इस तथ्य को महत्व देती है कि पराभौतिकीय विश्व जैसा कोई स्पेस विद्यमान नहीं है। रूढ़िवादिताओं, संकीर्णताओं, कटटरपंथी दृष्टि इत्यादि को त्यागकर जो कुछ वर्तमान में है वही यथार्थ है, को व्यक्तित्व का हिस्सा बनाना लौकिकीकरण है। लौकिकीकरण की प्रक्रिया का उल्लेख एम. एन. श्रीनिवास ने अपनी पुस्तक Social Change in Modern India में किया है। श्रीनिवास के मतानुसार लौकिकीकरण अंग्रेजी शासन का परिणाम है। धर्मनिरपेक्ष राज्य के रूप में भारत की स्थापना, कानून के सम्मुख सभी नागरिकों की समानता, वयस्क मताधिकार, और योजनाबद्ध विकास लौकिकीकरण के ऐसे अवयव हैं जिनके कारण "जिसे पहले धार्मिक माना जाता था वह अब वैसा नहीं माना जाता। "लौकिकीकरण का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष बुद्धिवाद है अर्थात वह विचार प्रणाली जिसके माध्यम से तर्कहीन बातों को यथासम्भव पीछे धकेला जाता है। भारतीय समाज में लौकिकीकरण की प्रक्रिया ने पवित्रता-अपवित्रता प्रारूप को प्रभावित किया है और धर्मनिरपेक्षता को भारतीय समाज के एक मूल्य के रूप में स्थापित किया है। योगेंद्र सिंह नगरीयकरण, आधुनिकीकरण एवं लौकिकीकरण के मध्य अन्तः सम्बंधों को द्विपक्षीय प्रक्रिया मानते हैं। उनका मत है कि भारतीय समाज में लौकिकीकरण के फलस्वरूप सामाजिक जीवन में तार्किकता, भौतिकवादिता, मानववाद, इत्यादि को उत्पन्न किया है और धर्मनिरपेक्षता एवं सहिष्णुता के उन मूल्यों को स्थापित किया है जो भारतीय समाज में विविधता को आधार प्रदान करते हैं। अमर्त्य सेन ने लौकिकीकरण एवं धर्मनिरपेक्षता के मूल्य को भारतीय समाज के अस्तित्व की निरन्तरता की आवश्यक शर्त माना है। यदि सीमित अर्थ में कहा जाए तो भारत में अर्न्तजातीय विवाह एवं अन्तःध ार्मिक विवाह पारिवारिक सम्बंधों में लौकिकीकरण के प्रभाव को व्यक्त करते हैं। लौकिकीकरण की प्रक्रिया भारतीय समाज में नागरिकीय धर्म की अवधारणा को उत्पन्न करती है और लोकतांत्रिक धर्मनिरपेक्ष राजनीति को सशक्त बनाती है। इस प्रक्रिया ने ऐसे अनेक दूरगामी परिणाम उत्पन्न किए हैं जिनसे संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में विविधता उत्पन्न हुई है। भाषायी, विविधता, मंदिर प्रवेश एवं कुओं से संवैधानिक अधि कार के रूप में पानी लेना, मीडिया के फलस्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकृति के नृत्य एवं गीत की जानकारी तथा कानूनों के द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में राज्यों के हस्तक्षेप वे पक्ष हैं जो धर्मनिरपेक्षीकरण के प्रभाव को व्यक्त करते हैं।

वैश्वीकरण, उदारीकरण एवं निजीकरण की प्रक्रियाएँ 1980 के दशक के उपरान्त विशेषतः सोवियत संघ में समाजवाद की व्यवस्था के पराभव के उपरान्त उत्पन्न वे वैश्विक प्रघटनाएं हैं जो संस्कृति, अर्थप्रणाली, राजनीति एवं सामाजिक सम्बंधों के क्षेत्र में गुणात्मक प्रकृति के रूपांतरण को जन्म दे चुकी हैं। वैश्वीकरण ने भारतीय समाज में अन्य समाजों की भाँति वित्त की स्वतंत्र आवाजाही को उत्पन्न कर बाजार को एक वर्चस्वकारी संस्था के रूप में स्थापित किया है और राज्य के प्रभाव में कमी के तत्व उत्पन्न किए हैं। सेवा क्षेत्रों के विस्तार के फलस्वरूप भारतीय नागरिक का एक उपभोक्ता के रूप में उभार वैश्वीकरण का परिणाम है। इस प्रक्रिया ने भारत को विश्व की एक अत्यंत शक्तिशाली अर्थव्यवस्था के रूप में स्थापित किया है जिसके परिणामस्वरूप निर्धनता की सीमा रेखा के नीचे निवास करने वाली जनसंख्या के प्रतिशत में जहाँ एक तरफ ह्रास हुआ है वहीं दूसरी ओर धनाढ्य एवं निर्धन के मध्य विषमता का विस्तार हुआ। वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने पवन वर्मा के शब्दों में मध्य वर्ग का तीव्र गति से विस्तार किया है। इसके साथ ही उद्योग एवं सेवा क्षेत्रों के विस्तार ने भारतीय समाज में आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अनेक वैकल्पिक प्रौद्योगिकीय संसाधन विकसित किए हैं जिसके कारण आवश्यकताओं की पूर्ति के परम्परागत साधनों का महत्व कम हुआ है। उदारीकरण की प्रक्रिया ने खुलेपन की संस्कृति एवं मीडिया के विविधता एवं जटिलतामूलक पक्षों को विस्तार ने भारतीय समाज में आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अनेक वैकल्पिक प्रौद्योगिकीय संसाधन विकसित किए हैं जिसके कारण आवश्यकताओं की पर्ति के परम्परागत साधनों का महत्व कम हुआ है। उदारीकरण की प्रक्रिया ने खुलेपन की संस्कृति एवं मीडिया के विविध ता एवं जटिलतामूलक पक्षों

को भारतीय सामाजिक जीवन में प्रविष्ट कराया है। इस प्रवेश के कारण पारम्परिकता-आधुनिकता संघर्ष भारतीय समाज में जहाँ एक तरफ तीव्र गति से उभरे हैं वहीं दूसरी ओर अनेक लोक कलाओं, लोक व्यवसायों एवं लोक जीवन शैलियों को व्यावसायिक चरित्र प्रदान किया है। परम्परागत एवं लोक जीवन शैली के ये पक्ष विश्व संस्कृति का भाग बने हैं। निजीकरण की प्रक्रिया ने बहुराष्ट्रीय उद्योगों को भारतीय अर्थव्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग बनाया है। जिसके कारण नवीन किस्म के पेशे एवं प्रौद्योगिकीय ज्ञान के नए संदर्भ उभर कर आए हैं। वस्तुत: इन तीनों प्रक्रियाओं ने भारतीय समाज को "ज्ञान समाज" की तरफ अग्रसर किया है। वहीं ऐसी अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न की हैं जिनसे जन आंदोलनों के उभार हुए हैं। भारत जो कि मूलतः कृषि प्रधान देश था, में कृषकों की आत्महत्या एक ऐसा व्याधिकीय तथ्य है जो यह संकेत करता है कि भारत में इन तीनों प्रक्रियाओं से उत्पन्न हुई सामाजिक परिवर्तन की दिशा न केवल असमान है अपित ऐसे परिणामों को भी जन्म दे रहा है जो जन आक्रोश एवं असहमति की संस्कृति को विस्तार दे रहे हैं।

नवीन प्रौद्योगिकी ने भारतीय समाज में विशेषतः नगरीय समाजों में तीव्र गति से अनेक नवीनताओं को उत्पन्न किया है। मोबाइल फोन की क्रांति का उदाहरण है। वहीं दूसरी ओर इस प्रौद्योगिकी के फलस्वरूप मीडिया जन सामान्य के एक बड़े भाग में प्रवेश कर चुका है। मीडिया ने विशेषतः टेलीविजन, कम्प्यूटर, विभिन्न चैनल्स से प्रायोजित कार्यक्रम इत्यादि ने सामाजिक इकाइयों को विभिन्न क्षेत्रों से सम्बद्ध व्यापक जानकारियाँ प्रदान कर उन्हें साक्षर / शिक्षित किया है। वर्चुअल क्लासरूम, दूरस्थ शिक्षा एवं विभिन्न समूहों की संस्कृति के विषय में ज्ञान, दूर-दराज के क्षेत्रों में घटित किसी भी प्रघटना की तत्काल जानकारी एवं सम्बंधों की संस्कृति में होने वाले अनपेक्षित बदलाव इत्यादि मीडिया के वे प्रभाव हैं जिसने भारतीय समाज को प्रत्येक क्षेत्र में अत्यधिक गतिशील किया है। इस प्रभाव के फलस्वरूप भारतीय समाज भी मीडिया क्रांति से उत्पन्न हुए "मीडिया समाज" का एक भाग बन चुका है।

सामाजिक परिवर्तन के उपरोक्त पक्षों से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं-

1. भारत में सामाजिक परिवर्तन की दिशा नव्य उदारवाद से निर्देशित व्यवस्थाओं की तरफ अग्रसर है।
2. भारत में सामाजिक परिवर्तन की दिशा पूंजीवादी शक्तियों से निर्देशित है।
3. विभिन्न प्रक्रियाओं ने भारतीय समाज को अनेक क्षेत्रों में नवीन विसंगतियों/ समस्याओं से परिचित कराया है।
4. भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं ने भारत को विश्व की एक तीव्र गति से विकसित होने वाली आर्थिक शक्ति के रूप में स्थापित किया है।
5. सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया ने पारम्परिकता-आधुनिकता द्वन्द्व को तीव्रता प्रदान की है।

इन प्रक्रियाओं एवं दिशा की समझ के उपरान्त सामाजिक परिवर्तन कारकों जो भारतीय समाज में अवलोकित किए जा सकते हैं, निम्नलिखित हैं-

भारत में सामाजिक परिवर्तन के कारकः स्वायत्ता एवं अन्तः निर्भरता

किसी भी समाज की भाँति भारतीय समाज में भी सामाजिक परितर्वन को गति देने वाले एवं सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले अनेक कारक हैं। इन कारकों को जनांकिकीय, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, प्रौद्योगिकीय इत्यादि कारकों के रूप में वर्गीकृत किये जा सकते हैं। ये कारक

विश्लेषण की दृष्टि से एक-दूसरे से पृथक हैं अर्थात् इनका स्वायत्तशासी चरित्र है। परन्तु यथार्थ में ये कारक एक दूसरे से अन्तः सम्बद्ध हैं। इस अन्तः सम्बद्धता के फलस्वरूप किसी भी कारक को, जो सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में योगदान करता है, एक कारण-एक परिणाम संदर्भ के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। उदाहरण के लिए जनसंख्या का आयतन एवं घनत्व जब विभिन्न समूहों को उत्पन्न करता है अथवा जटिल बनाता है जो यह जनांकिकीय कारक से उत्पन्न हुआ सामाजिक परिवर्तन है। परन्तु किसी भी राष्ट्र-राज्य में उदाहरण के लिए भारत में निर्मित एवं क्रियान्वित की गई जनसंख्या नीति सामाजिक परिवर्तन के राजनीतिक-प्रशासनिक कारकों का भाग बनती है। वहीं जनसंख्या नियंत्रण हेतु प्रयुक्त की जाने वाली विभिन्न प्रविधियां जो जन्म दर को प्रभावित करती हैं, सामाजिक पविर्तन के प्रौद्योगिकीय कारक का अंग बन जाती हैं। जनसंख्या का आधिक्य यदि सस्ता श्रम उत्पन्न करे और रोजगार के क्षेत्र में विभिन्न दबावों को उत्पन्न करे तो यह सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक कारक से सम्बद्ध हो जाता है। वहीं दूसरी ओर धर्म, रीतिरिवाज इत्यादि के आधार पर पुत्र अथवा पुत्री के जन्म और उसके कारण यौनिक अनुपात में बदलाव सामाजिक परिवर्तन के सांस्कृतिक कारक से सम्बद्ध हो जाते हैं। अतः ये विभिन्न कारण स्वायत्तता एवं अन्तःनिर्भरता से निर्मित हुए प्रारूप का प्रतिनिधित्व करता है। इसके साथ यह भी देखा जा सकता है कि जनसंख्या के आयतन एवं घनत्व में वृद्धि नगरीयकरण की प्रक्रिया से सम्बद्ध हो जाती है। जनसंख्या एक स्थान से दूसरे स्थान को अग्रसर होती है और उस अग्रसरता के फलस्वरूप भिन्न-भिन्न स्थानों पर आवासीय संरचनाएँ विकसित हो जाती हैं। आपने देखा होगा कि प्रवसन के फलस्वरूप राजस्थान के अनेक नगरों में जनसंख्या तीव्रगति से बढ़ी है। जयपुर का एक महानगर के रूप में उभार इसका स्पष्ट उदाहरण है। यह भी एक रूचिकर विषय है कि जनसंख्या का वितरण आयु समूहों के रूप मे देखा जाए। यदि युवाओं की संख्या अधिक है तो सांस्कृतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में ऐसे अनेक बदलाव होते हैं जिन्हें नवीनता की संज्ञा दी जा सकती है। भारतवर्ष में वर्तमान में युवाओं की जनसंख्या वृद्धों एवं बच्चों की तुलना में अधिक है क्योंकि युवा शक्तिशाली श्रम-शक्ति भी है, अतः भारत के विकास में इसकी एक अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका है।

सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक कारक

भारतीय समाज व्यवस्था में विशेषतः आधुनिक भारत में आर्थिक शक्तियों ने कारक के रूप में परिवर्तन के स्वरूप एवं उसकी दिशा को सुनिश्चित करने में महत्वपूर्ण योगदान किया है। आर्थिक कारकों से अभिप्राय बाजार, आर्थिक व्यवहार सम्बंधी नियम, उत्पादन प्रक्रिया, उपभोग, विनिमय, वितरण, पुनरूत्पादन एवं इनको सुनिश्चित / निर्धारित करने वाले आर्थिक नियमों / कानूनों से है। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि कृषि उत्पादन एवं इससे निर्मित होने वाली ग्रामीण अर्थव्यवस्था जहाँ भारतीय समाज की आर्थिक विकास की केन्द्रीय प्रणाली रही है, वहीं नगरीय सभ्यता के रूप में भारत का इतिहास गैर-कृषक व्यवसायों की उपस्थिति एवं उत्तर मध्ययुगीन भारत में व्यवसायिक पूंजीवाद के उभार ने (मसालों, रेशम, सूखे मेवे इत्यादि के निर्यात) ईस्ट इंडिया कम्पनी को भारतीय आर्थिक संसाधनों के दोहन के लिए उत्साहित किया। इस दृष्टि से औपनिवेशिक भारत की उपस्थिति भारतीय समाज में सक्रिय आर्थिक कारकों का परिणाम है। ब्रितानी उपनिवेशवाद ने भारत में श्रम विभाजन के क्षेत्र में आर्थिक विशेषीकरण, औद्योगीकरण, प्रतियोगिता, भौतिक संरचनात्मक सुविधाओं के विकास तथा रोजगार के नवीन साधनों को उत्पन्न किया। रजनी पाम दत्त का मत है कि ब्रितानी उपनिवेशवाद ने भारत से अत्यधिक निर्यात उपलब्ध संसाधनों का किया और फिर उन्हीं संसाधनों से निर्मित वस्तुओं का आयात किया। अनेक इतिहासकार एवं ए. आर. देसाई. जैसे समाजशास्त्री इसे "वि-औद्योगीकरण" की संज्ञा देते हैं। औद्योगिक प्रतिष्ठानों के विस्तार ने आवश्यकताओं

की पूर्ति के लिए विभिन्न प्रकार के वैकल्पिक उत्पादों को प्रस्तुत किया। इसके साथ ही उत्पादों में धीरे-धीरे इतनी अधिक विविधता लाई जाने लगी कि विशिष्ट उत्पादों का प्रयोग आवश्यकता का रूप ले गया। हमें यह भी ध्यान देना चाहिए कि औद्योगिक विकास ने अनेक नवीन नगरों को विकसित किया। इन नगरों में निवास करने वाली जनसंख्या चूंकि विभिन्न व्यवसायों एवं पेशों की संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है इसलिए औद्योगिक कारक संस्कृति में परिवर्तन को उत्पन्न करने लगे। सम्बंधों में अवैयक्तिकता, आर्थिक विषमताओं के फलस्वरूप परम्परागत संस्थाओं के ह्रास, गंदी बस्तियों एवं औद्योगिक क्षेत्रों के विस्तार, वैश्वीकरण, उदारीकरण एवं निजीकरण के फलस्वरूप स्पेशल इकनॉमिक जोन की उपस्थिति, बहुराष्ट्रीय उद्योगों की स्थापना के कारण अति विशेषज्ञतामूलक समूहों का उभार, वर्गीय तनाव, पारिस्थितिकीय ह्रास तथा विभिन्न राजनीतिक दलों के द्वारा नवीन प्रकृति के आर्थिक सम्बंधों को दृष्टि में रखते हुए श्रमिक आंदोलन के बदलते स्वरूप, बाजार संस्था का वर्चस्व, मनोरंजन एवं मीडिया का व्यवसायीकरण तथा अत्यधिक अवैयक्तिकीकरण एवं आर्थिक गतिविधियों में कार्यशील घंटों की अत्यधिक वृद्धि ने पड़ौसी सम्बंधों मे जिस ह्रास को उत्पन्न किया है वे पक्ष हैं जिन्हें सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक कारकों के रूप में देखे जाने की जरूरत है जिनसे भारतीय समाज एक नया आकार ग्रहण कर रहा है।

सामाजिक परिवर्तन के प्रौद्योगिकीय कारक

आर्थिक कारकों के साथ प्रौद्योगिकीय कारकों को भी सम्बद्ध करके देखा जाना चाहिए। मार्क्स ने यह तर्क दिया है कि प्रौद्योगिकी प्रकृति के साथ मनुष्य के व्यवहार करने के तथा उत्पादन करने के उन तरीकों को व्यक्त करती है जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने अस्तित्व की निरन्तरता को बनाए रखता है। अस्तित्व की यह निरन्तरता (आधार संरचना) सामाजिक सम्बंधों तथा चेतना स्वरूपों को निर्धारित करती है। भारतीय समाज मे आधुनिक प्रौद्योगिकीय कारको की उपस्थिति ब्रिटिश उपनिवेशवाद का परिणाम है। मशीनों पर आधारित उत्पादन प्रणाली मनुष्य के सामाजिक जीवन को पूर्णतः परिवर्तित कर देती है। आप यदि किसी गाँव में निवास करते हैं तो आप पाएंगे कि कृषि क्षेत्र में जोतने, रोपने एवं बोने से सम्बंधित क्रियाएं प्रौद्योगिकीय अवयवों के कारण गुणात्मक रूप में बदली हैं। ट्रेक्टर, थ्रेशर इत्यादि का प्रयोग, बिजली के द्वारा भू-जल को निकाल कर सिंचाई जैसे अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं जिसने कृषि उत्पादन के क्षेत्र में वृद्धि की। वास्तव में यदि प्रौद्योगिकी न होती तो शायद भारत हरित क्रांति, श्वेत क्रांति, पीली क्रांति (खाद्य संस्करण), एवं नीली क्रांति (मत्स्य पालन) से अपरिचित रहता। आपने यौद्धिक उपकरणों के क्षेत्र में भी नवीन प्रकार के भयानक हथियारों के उत्पादन को जाना। मीडिया के क्षेत्र में संचार की अनेक प्रविधियों जैसे रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा, टेलीफोन, तार व्यवस्था इत्यादि ने वर्तमान में भारत को वैश्विक गाँव का एक महत्वपूर्ण अंग बना दिया है। बस, ट्रेन, हवाई यात्रा से सम्बंधिक नवीनतम प्रविधियों ने स्थानिक गतिशीलता को तीव्र किया है। स्वचालितीकरण प्रौद्योगिकीय का ही परिणाम है जिसके कारण प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति हेतु अनेक साधन उपलब्ध हैं। हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि नवीन शैक्षणिक प्रविधि, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा के क्षेत्र में प्रौद्योगिकीय प्रभाव के फलस्वरूप नवीन औषधियों का उत्पादन एवं प्रौद्योगिकी के बदलते स्वरूप के कारण जीवन स्तर में बदलाव वे पक्ष हैं जो भारत में सामाजिक परविर्तन के स्वरूप को सुनिश्तिच करने में प्रौद्योगिकीय और आर्थिक कारकों के मध्य अत्यंत घनिष्ठ सम्बंध है। प्रौद्योगिकीय विस्तार जहाँ आर्थिक विकास को बहुआयामी बनाता है वहीं आर्थिक विकास से उत्पन्न हुआ जीवन स्तर सामाजिक इकाइयों को प्रौद्योगिकीय प्रयोग के अवसर प्रदान करता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि औद्योगिक क्रांति के बाद प्रौद्योगिकीय क्रांति ने सामाजिक परिवर्तन को तीव्रता एवं बहुस्तरीयता प्रदान की है।

NOTES

सामाजिक परविर्तन के सांस्कृतिक कारक

भारतीय सामाजिक परिवर्तन को दिशा देने में सांस्कृतिक कारकों की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से हम संस्कृति के क्षेत्र में भौतिक एवं अभौतिक दोनों ही प्रकार के अवयवों के सम्मिलित करते हैं। संस्कृति के क्षेत्र में आन्तरिक एवं वाह्य कारकों से उत्पन्न हुए नवाचार, विभिन्न सांस्कृतिक समूहों के मध्य अनवरत आदान-प्रदान अर्थात परसंस्कृतिग्रहण, पारम्परिकता-आधुनिकता के मध्य संघर्ष, संस्कृति के साथ विभिन्न समूहों के समायोजन न कर पाने से उत्पन्न सांस्कृतिक उभयवृत्तिता (Cultural ambivalance) एवं सांस्कृतिक विलम्बन से उत्पन्न होने वाले तनाव वे कारण हैं जो किसी भी समाज में परिवर्तन को निरन्तरता प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त हम सांस्कृतिक कारकों में धर्म एवं शिक्षा तथा कानून एवं जनमत की भूमिकाओं को भी पर्याप्त महत्व प्रदान करते हैं। भारत में विभिन्न सामाजिक सुधार आंदोलन एवं कानून की उपस्थिति वे महत्वपूर्ण कारक हैं जिनसे जातिवाद, सती प्रथा, बाल विवाह निषेध, विधवा विवाह पर नियंत्रण, लैंगिक समानता तथा आधुनिकीकरण एवं ध र्मनिरपेक्षीकरण जैसे पक्ष उभर कर आए। आधुनिक शिक्षा के नवीन प्रकृति के समाजीकरण को जन्म दिया जिसमें विद्यालय के द्वारा विविधतामूलक संस्कृति को विद्यार्थी की चेतना में आन्तरीकृत किया गया।

संविधान ने समानता, धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद, सामाजिक न्याय, लोकतंत्र एवं उदारवाद की संस्कृति को सामूहिक चेतना का भाग बनाया। इस संस्कृति ने अन्तर्जातीय एवं अन्तः धार्मिक विवाहों जहाँ एक तरफ स्वीकृति प्रदान की वहीं एकाकी परिवार जैसी संस्थाओं का उभार हुआ। वैश्वीकरण, उदारीकरण एवं निजीकरण की प्रक्रियाओं ने वैश्विक संस्कृति के विभिन्न पक्ष भारतीय नागरिकों विशेषतः महानगरीय जनसंख्या की चेतना में विकसित किए। आप यदि अपने माता-पिता से पूछे तो पाएंगे कि जिस संस्कृतिक परिवेश को अपनी जिंदगी का एक आवश्यक भाग बना चुके हैं (भोजन एवं पोशाक सम्बंधी आदतें, भाषा तथा प्रतीकों के प्रयोग एवं अन्तः पारिवारिक सम्बंधों में निकटता की प्रकृति इत्यादि) उसके अनेक पक्ष आपके अभिभावकों के लिए लगभग निषिद्ध थे। हम इसी तनाव को पारम्परिकता-आधुनिकता विवाद की संज्ञा देते हैं। वास्तव में 1980 के दशक के उपरांत वैश्विक संस्कृति के स्वतंत्र बहाव ने भारतीय समाज के सांस्कृतिक स्वरूप को पूर्णरूपेण बदल दिया है।

सामाजिक परविर्तन के राजनीतिक कारक

किसी भी समाज में सामाजिक परिवर्तन की दिशा को राज्य एवं उसकी सहयोगी इकाइयाँ एक व्यापक सीमा तक सुनिश्चित करती हैं। विभिन्न राजनीतिक दल अपनी विचारधाराओं के आधार पर अपने जन संगठनों के माध्यम से जनमत एवं जन आंदोलन निर्मित करते हैं। फिर इकाइयों को जो कि निर्णय प्रक्रिया को सुनिश्चित करते हैं, बाध्य करते हैं कि एक निश्चित दिशा में शासक एवं प्रशासकीय शक्तियां परिवर्तन को अग्रसर करे। आप यदि विश्व इतिहास का विवेचन करें तो पाएंगे कि औद्योगिक क्रांति के उपरांत पूंजीवादी राजनीति एवं सामजवादी राजनीति ने परिवर्तनों की दिशाओं को सुनिश्चित किया है। टी. बी. बोटोमारे ने अपनी पुस्तक Sociology में तर्क दिया है कि पश्चिमी विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी तथा सामाजिक नियोजन भारतीय समाज में सामाजिक पविर्तन को सुनिश्चित करने वाले महत्वपूर्ण कारक हैं। यहाँ यह बताना आवश्यक है कि नियोजन की समूची प्रणाली राजनीतिक प्रक्रिया का परिणाम है। विभिन्न नीतियों को राजनीतिक शक्ति के द्वारा अर्थात राज्य के अवयवों के द्वारा आकार प्रदान किया जाता है। रजनी कोठारी का मत है कि लोकतांत्रीकरण की प्रक्रिया को राज्य ने जिस तरह से सक्रिय बनाया है, के कारण अनेक बदलाव भारतीय नागरिकों की जीवन शैली में आएं हैं। विपिन चन्द्रा का तर्क हे कि भारतीय स्वाधीनता संघर्ष में एक ऐसी राजनीतिक संस्कृति एवं राजनीतिक समाजीकरण को आधार मिला जो भारतीय समाज

में स्वाधीनता के उपरान्त अनेक नवीनताओं को जन्म देता है। उदाहरण के लिए वयस्क मताधिकार ने नेतृत्व चयन की प्रक्रिया को उत्पन्न किया। राष्ट्र राज्य के रूप में भारत ने संविधान के माध्यम से अनेक नवीन मूल्यों को अपनी जीवन शैली का हिस्सा बनाया। राज्य ने विभिन्न कानूनों को निर्मित कर उत्पीड़न, भेदभाव एवं शोषण की संस्कृति को चुनौती दी है। यदि आप गाँव में रहते हैं तो आप पाएंगे कि पंचायतीराज अधि नियम के उपरान्त अनुसूचित जातियों, जनजातियों एवं महिलाओं का स्थानीय स्तर पर नेतृत्व उभरा है जिससे सीमान्त समूह सबलीकरण की प्रक्रिया का भाग बने हैं। यह भी देखा जा सकता है कि राजनीतिक दलों के साथ जुड़कर विभिन्न सामाजिक इकाइयों ने अपने चेतना स्तर का विस्तार किया है। जिसके कारण राजनीतिक सत्ता से सम्बंधित समूहों को बाध्य होना पड़ा कि वे राज्य को एक कल्याणकारी संस्था के रूप में निरन्तरता प्रदान करें। शिक्षा का मूलभूत अधिकार, पारिवारिक हिंसा के विरूद्ध कानून, पुत्री को पिता की सम्पत्ति में बराबर का अधिकार, श्रमिकों को विभिन्न प्रकार की सुरक्षा, रोजगार के विभिन्न कार्यक्रम, विचारधारा को केन्द्र में रखकर विभिन्न सरकारों द्वारा भौतिक एवं सामाजिक आधरभूत सुविधाओं की उपलब्धता तथा विभिन्न सामाजिक श्रेणियों के लिए स्वतंत्रता एवं समानता के आधार पर राज्य के अनेक कार्यक्रम वे राजनीतिक कारक हैं जो भारत में सामाजिक परिवर्तन को दिशा प्रदान करते हैं। इस स्तर पर हम डेनियल लर्नर के उस मत का उल्लेख करना चाहेंगे जिसमें नगरीयता की वृद्धि, संचार साधनों के विस्तार, शिक्षा सामाजिक गतिशीलता तथा राजनीतिक सहभागिता को आधुनिकीकरण एवं सामाजिक परिवर्तन के लिए महत्वपूर्ण माना गया है। विभिन्न सामाजिक अस्मिताओं (क्षेत्रीय, जातीय, धार्मिक इत्यादि) को राजनीतिक दलों ने वोट बैंक को निर्मित करने के लिए प्रयुक्त किया है जिसके कारण पुनरूत्थानवादी प्रकृति का सामाजिक परिवर्तन उभर कर आया है। राजनीतिक नेतृत्व, प्रशासनतंत्र, पुलिस एवं शक्तिशाली समूहों के मध्य के गैर-संस्थागत गठजोड़ ने अनेक राजनीतिक एवं विकासात्मक विसंगतियों को उत्पन्न किया है जिनसे सामाजिक परिवर्तन की भारतीय समाज में प्रगति असमान हुई है। विकास की विसंगति ने क्षेत्रीय राजनीतिक दलों को जन्म दिया है। परिणामस्वरूप पूंजीवादी एवं मध्यमार्गी राजनीतिक दलों का जनाधार घटा है। इस स्थिति ने गठबन्धन की राजनीति को उत्पन्न किया है और इस राजनीति के कारण अनेक नीतिगत परिवर्तनों के उभार देखे जा सकते हैं। दलित, आदिवासियों, महिलाओं एवं अन्य सीमांत समूहों का वयस्क मताधिकार के माध्यम से चुनाव प्रणाली में प्रवेश एवं संरक्षणमूलक भेदभाव की नीति ने विधायिका की सामाजिक संरचना को परिवर्तित किया है। इस परिवर्तन के कारण मूल्यों एवं प्रतिमानों के क्षेत्र में बदलाव देखे जा सकते हैं। राज्य की शक्ति एवं जन शक्ति के मध्य अन्तर्विरोधों के कारण मानवाधिकार के सवाल भारतीय नागरिकों की चेतना का महत्वपूर्ण भाग बनते चले जा रहे हैं। वहीं दूसरी ओर नव उदारवादी अर्थतंत्र ने समूचे राज्य की भूमिकाओं एवं राजनीतिक दलों की वैचारिक समझ पर ऐसे प्रश्न चिह्न लगाएं हैं जो भविष्य में राजनीतिक परिवर्तन को नवीन आयाम दे सकते हैं।

स्व-प्रगति की जाँच करें :

3. मजदूर अथवा भूमिहीन श्रमिक वर्ग के सम्बन्ध में संक्षिप्त विचार प्रस्तुत करें।
4. भारत में बुद्धिजीवी वर्ग के सम्बन्ध में अपनी धारणा प्रस्तुत करें।

सामाजिक परविर्तन के अन्य कारक

इन कारकों के अतिरिक्त पर्यावरण एवं भारतीय समाज के मध्य असंतुलित हो रहे सम्बंधों के परिणाम तथा श्वेतपोश अपराध ऐसे उप-कारक हैं जिन्हें भारतीय समाज में परिवर्तन का अध्यन करते समय महत्व दिया हैं जाना चाहिए। पर्यावरण सम्बंधी कारकों के अतिरिक्त मीडिया की भूमिका, विभिन्न पेशों की संस्कृति, साहित्य, फैशन, विभिन्न सामाजिक आंदोलन, धर्म, कानून, आधुनिकीकरण के विरूद्ध सक्रिय शक्तियां, ग्रामीण-नगरीय अन्तर्द्वन्द्व, भ्रष्टाचार जैसे गैर-संस्थागत कृत्य, वैयक्तिक विघटन इत्यादि वे कारक हैं जो भारत में अन्य समाजों की भाँति सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करते हैं या सुनिश्चित करते हैं। वास्तव में यदि देखा जाए तो किसी ने एक सामाजिक इकाई के रूप में किसी अवयव को क्यों चुना है और क्यों उसे

अस्वीकृत किया है, को निर्धारित करने वाला प्रत्येक कारक भारत में सामाजिक परिवर्तन को दिशा प्रदान करने वाले और उसकी प्रकृति सुनिश्चित करने वाले कारक के रूप में देखा जा सकता है।

NOTES

सारांश

इन कारकों के अतिरिक्त पर्यावरण एवं भारतीय समाज के मध्य असंतुलित हो रहे सम्बंधों के परिणाम तथा श्वेतपोश अपराध ऐसे उप-कारक हैं जिन्हें भारतीय समाज में परिवर्तन का अध्यन करते समय महत्व दिया जाना चाहिए। पर्यावरण सम्बंधी कारकों के अतिरिक्त मीडिया की भूमिका, विभिन्न पेशों की संस्कृति, साहित्य, फैशन, विभिन्न सामाजिक आंदोलन, धर्म, कानून, आधुनिकीकरण के विरूद्ध सक्रिय शक्तियां, ग्रामीण-नगरीय अन्तर्द्वन्द्व, भ्रष्टाचार जैसे गैर-संस्थागत कृत्य, वैयक्तिक विघटन इत्यादि वे कारक हैं जो भारत में अन्य समाजों की भाँति सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करते हैं या सुनिश्चित करते हैं। वास्तव में यदि देखा जाए तो किसी ने एक सामाजिक इकाई के रूप में किसी अवयव को क्यों चुना है और क्यों उसे अस्वीकृत किया है, को निर्धारित करने वाला प्रत्येक कारक भारत में सामाजिक परिवर्तन को दिशा प्रदान करने वाले और उसकी प्रकृति सुनिश्चित करने वाले कारक के रूप में देखा जा सकता है।

स्वप्रगति की जाँच के उत्तर देखें :

1. **कार्लमार्क्स** ने वर्ग-विभाजन के दो आधार बताए हैं-एक, पूँजीवादी वर्ग और दूसर, मजदूर वर्ग।
2. **व्यवसाय की प्रकृति (Nature of Occupation)**-व्यवसाय की प्रकृति भी वर्ग-निर्धारण का आधार है: जैसे प्रशासक, इन्जीनियर, डॉक्टर, राजनीतिज्ञ, प्रोफेसर आदि को समाज प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखता है। उनकी तुलना में ठेकेदार, दुकानदार आदि के पास धन होने पर भी सामाजिक वर्ग में इनकी उतनी प्रतिष्ठा नहीं। इस प्रकार व्यवसाय की प्रकृति वर्ग का निध रिक हो सकती है।
3. **मजदूर अथवा भूमिहीन-श्रमिक वर्ग (Class of Labours or Landless labours)**-मजदूर या भूमिहीन-श्रमिक वर्ग भरतीय ग्रामों में सबसे निम्नवर्ग माना जाता है। इस वर्ग की ग्राम में सबसे निम्न स्थिति होती है। आर्थिक दृष्टिकोण से इनकी स्थिति बहुत दयनीय होती है। ये दूसरों के खेतों पर काम करके अपनी जीविका चलाते हैं। भारत में लगभग 46 प्रतिशत लोग निम्न वर्ग के ऐसे हैं जो गरीबी की रेखा से भी नीचे की स्थिति में अपना जीवनयापन करते हैं। निर्धनों की संख्या सबसे अधिक होती है तथा आय सबसे कम होती है। इन निम्नतम वर्ग के लोग मुश्किल से ही अपना पेट पाल पाते हैं।
4. **बुद्धिजीवी वर्ग (Intelectual Class)**-बुद्धिजीवी वर्ग में समाज सुधारक, साहित्यकार, विचारक, दार्शनिक, शिक्षक, वैज्ञानिक, वकील, न्यायाधीश, पत्रकार आदि आते हैं। यह भारत का प्रभावशाली तथा प्रबल वर्ग है। यह वर्ग भारतीय समाज की बुराइयों को दूर करने का हमेशा प्रयास करता रहा है। संख्या के आधार पर यह वर्ग बहुत छोटा है लेकिन समाज के विकास के लिए इसका विशेष योगदान रहा है। इस वर्ग की उत्पत्ति और विकास में समाज सुधार के आन्दोलनकारियों की विशेष भूमिका रही है। राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि ने बुद्धिजीवी वर्ग के विकास में सक्रिय भूमिका निभाई है। इस वर्ग के लोग ही देश के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षिक विकास के लिए प्रयत्न करते हैं। समाज की सभ्यता और संस्कृति का विकास इसी वर्ग के प्रयासों से होता है। इस वर्ग ने समय-समय पर समाज की बुराइयों को दूर करने के लिए प्रयास किए हैं; जैसे-बाल-विवाह, सती-प्रथा, विधवा-पुनर्विवाह निषेध, दहेज, अस्पृश्यता आदि-आदि।

आधुनिक भारत में परिवर्तन तेजी से हो रहा है। इसका प्रभाव यहाँ के स्तरीकरण व्यवस्था तथा संरचना पर भी पड़ रहा है। नगरों तथा महानगरों में वर्ग-व्यवस्था का विकास हो रहा है। ग्रामों में आज भी जाति तथा जाति-व्यवस्था काफी प्रभावशाली है, इसमें भी परिवर्तन आ रहा है। कुछ का कहना है कि जातियाँ जिस स्तर की हैं उसी स्तर के वर्ग में परिवर्तित हो रही हैं। भारत में सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि हो रही है जो वर्ग-व्यवस्था को लाने में सक्रिय भूमिका निभा रही है। भारत में सामजिक परिवर्तन की समूची प्रक्रिया में आप अपने आपको किस प्रकार स्थापित करते हैं सामाजिक परिवर्तन समाज का एक सार्वभौमिक नियम है। हम यह कह सकते हैं कि यह मत "परिवर्तन ही प्रकृति का नियम है" का एक भाग है। वास्तव में आस्था का चरण, तर्क का चरण एवं अस्थिरता का चरण मानव समाज में सामाजिक परिवर्तन को एक व्यवस्थित आकार देता है और यह चरण सामाजिक परिवर्तन से आकार ग्रहण करते हैं।

अभ्यास-प्रश्न

1. वर्ग-व्यवस्था की परिभाषा दें एवं इसका अर्थ स्पष्ट करें।
2. सामाजिक वर्गों की विशेषताओं पर प्रकाश डालें तथा भारत में वर्ग-निर्धारण के आधार बताएं।
3. भारत में सामाजिक वर्गों की संरचना पर प्रकाश डालें। भारतीय ग्रामों तथा नगरों में वर्ग-व्यवस्था की विवेचना करें।
4. भारत में वर्गों के प्रकारों का वर्णन करें।
5. सामाजिक परविर्तन का अर्थ एवं प्रक्रियाओं पर प्रकाश डालें।
6. भारत में सामाजिक परिवर्तन की दिशा पर एक निबन्ध लिखें।
7. सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न कारकों की समीक्षा कीजिए।

ekM~îy&10

NOTES

क्षेत्रवाद
(Regionalism)

इस अध्याय के अन्तर्गत :

- परिचय
- क्षेत्रवाद की परिभाषा और इसकी प्रमुख विशेषताएँ
- भारत में क्षेत्रवाद की समस्या के उदय के कारण
- क्षेत्रवाद के दुष्परिणाम
- भ्रष्टाचार, भ्रष्टाचार की विशेषताएँ तथा कारण
- भ्रष्टाचार उन्मूलन के प्रयत्न तथा सुझाव
- भ्रष्टाचार के परिणाम

अध्याय के उद्देश्य :

- इस अध्याय के अध्ययन के उपरांत आप जान सकेंगे :
- क्षेत्रवाद की परिभाषा और इसकी विशेषताएँ
- भारत में क्षेत्रवाद की समस्या के उदय के कारण
- क्षेत्रवाद के दुष्परिणाम
- भ्रष्टाचार और इसकी विशेषताएँ तथा इसके कारण
- भ्रष्टाचार उन्मूलन के प्रयत्न और इसके परिणाम तथा सुझाव

bdkÃ&14 {k=okn dk vFk] fo'k"krk,] Hkkjr e {k=okn dh leL;k dk mn; dk dkjd

क्षेत्रवाद एक भावात्मक पहलू है। जब व्यक्ति के मन में अपनी भाषा, अपनी संस्कृति, अपने व्यवहार-प्रतिमान और भौगोलिक दृष्टि से निर्धारित क्षेत्र के प्रति लगाव हो तथा वहाँ सभी लोग 'हम' की भावना से प्रेरित हो जाते हैं तो उसे क्षेत्रवाद कहा जा सकता है। इन्हीं भावनात्मक आधारों पर अन्य क्षेत्रों को अलग समझा जाता है। क्षेत्र की समस्याएँ लोगों की समस्याएँ बन जाती हैं और क्षेत्र की विशेषता लोगों की विशेषता होती है।

क्षेत्रवाद का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Regionalism)

अरुण के. चटर्जी ने अपने लेख 'Sociological Context of Regionalism in India, a Conceptual Framework' में क्षेत्रवाद को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "क्षेत्रवाद को निर्धारित करने वाले दो प्रमुख कारक हैं-(i) व्यक्ति परक (Subjective), (ii) अव्यक्तिपरक (Objective)। व्यक्तिपरक कारकों में यह एक समूह के जीवन-यापन के तरीके, प्रथाओं, परम्पराओं, कलाकृतियों, भाषा, साहित्य, सामाजिक विरासत, विश्वासों, धारणाओं तथा मूल्यों आदि को गिन सकते हैं। ऐसा समूह अपने आपको एक क्षेत्रीय समूह मानता है। अव्यक्तिपरक (Objective) तत्वों में भू-क्षेत्र और मानव-पर्यावरण संकुल सम्मिलित हैं जिसमें क्षेत्रीय समूह निवास करता है।"

वेबस्टर की तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय डिक्शनरी के अनुसार, "क्षेत्रवाद में एक विशिष्ट उपराष्ट्र या अधो (Super) राष्ट्रीय क्षेत्र के प्रति जागरूकता और भक्ति पाई जाती है, जिसकी विशेषता सामान्य संस्कृति, पृष्ठभूमि का हित है।"

लुण्डबर्ग के अनुसार, 'क्षेत्रवाद उस अध्ययन से सम्बन्धित है जिसमें एक भौगोलिक क्षेत्र तथा मानव व्यवहार के बीच पाये जाने वाले सम्बन्ध पर बल दिया जाता है। इस रूप में क्षेत्रीयता एक प्रकार का विश्व-पारिस्थितिकी विज्ञान है क्योंकि इसकी रुचि विभिन्न क्षेत्रों के बीच तथा एक ही क्षेत्र के विभिन्न अंगों के बीच पाये जाने वाले प्रकार्यात्मक सावयवी सम्बन्धों में है।

क्षेत्रवाद का संकुचित अर्थ-वर्तमान में क्षेत्रवाद का संकुचित अर्थ में प्रयोग हुआ है; इसलिए ही इसने राष्ट्रीय संकट को जन्म दिया है।

संकुचित अर्थ में क्षेत्रवाद का तात्पर्य क्षेत्र के निवासियों द्वारा अपने आपको दूसरे क्षेत्र के लोगों से श्रेष्ठ समझना तथा अपने आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक हितों को सर्वोच्च प्राथमिकता देना है; अपनी भाषा को अन्य भाषाओं से श्रेष्ठ समझना है। इस प्रकार का क्षेत्रवाद अन्य क्षेत्रों एवं सम्पूर्ण राष्ट्र तुलना में अपने ही क्षेत्र को श्रेष्ठ मानने एवं सभी क्षेत्रों में उसे प्राथमिकता देने की पक्षपातपूर्ण भावना की है।

क्षेत्रवाद की प्रमुख विशेषताएँ (Main Features of Regionalism)

क्षेत्रवाद की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

1. **सांस्कृतिक स्वरूप**-क्षेत्रवाद का आधार संस्कृति है। भाषा, पहनावा, खान-पान, प्रथा, परम्परा के आधार पर क्षेत्र विशेष की एक विशेष पहचान हो जाती है और समान सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के लोगों में अपनत्व का भाव जागृत होता है। क्षेत्रीयता की भवना संस्कृति के समान स्वरूप से विकसित होती है। उदाहरण के लिए गुजरात के निवासी कोलकाता में एक-दूसरे से मिलते हैं तो अपनी भाषा में बात करते हैं और एक-दूसरे से अपरिचित होते हुए भी समान सांस्कृति परिवेश के कारण निकटता बनाए रखते हैं।

NOTES

2. **स्थानीय देशभक्ति-**एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र के निवासी अपने समीत क्षेत्र के प्रति निष्ठा रखते हैं। उनमें देशहित स्थानीय हित के समक्ष तुलनात्मक दृष्टि से कम महत्वपूर्ण होता है।
3. **उपराष्ट्रवाद के प्रति सुझाव-**क्षेत्रवाद में समग्र दृष्टिकोण का अभाव होता है। क्षेत्रवाद अपने क्षेत्र का विकास और अपने क्षेत्र की समृद्धि सर्वोपरि होती है।
4. **एकपक्षीय सोच-**क्षेत्रवाद में लोगों के मस्तिष्क में केवल अपने क्षेत्र की भौगोलिक सीमाएँ होती हैं। उस सीमा में रहने वालों की सोच एकपक्षीय होती है, अन्य को वे अपने से भिन्न समझकर भेदभाव भी करते हैं।
5. **क्षेत्रवाद एक दबाव समूह के रूप में-**क्षेत्रवाद भारत की राजनीति में पिछले एक दशक से हावी होता जा रहा है। राष्ट्रीय स्तर पर क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की संख्या और वर्चस्व सबसे अधिक हो गया है। भारतीय राजनीति में राष्ट्रीय स्तर पर क्षेत्रवाद की यह चरम सीमा है। दूसरी तरफ, एक या दो सांसदों का प्रतिनिधित्व करने वाला क्षेत्रीय दल दबाव समूह के रूप में काम करता है और अपने क्षेत्र के लिए विशेष पैकेज की बात करता है।

भारत में क्षेत्रवाद की समस्या के उदय के कारक
Factors Liable for Arising Regionalism in India)

भारत में क्षेत्रवाद की धारणा के उदय के निम्नलिखित प्रमुख कारक बताए जा सकते हैं-

1. भौगोलिक, सांस्कृतिक एवं एतिहासिक पृष्ठभूमि (Geographical, Cultural and Historical Background)

भारत में भौगोलिक-सांस्कृतिक तत्व तथा सामाजिक विविधता क्षेत्रवाद के प्रमुख आधार हैं। क्षेत्रवाद वास्तव में दक्षिणी एशिया की परम्परागत संस्कृति का एक अंग ही है। इस पर एक ओर पश्चिमीकरण का प्रभाव पड़ा है और दूसरी ओर आधुनिकीकरण का प्रभाव पड़ा है। इस दोहरे प्रभाव से यह परम्परागत संस्कृति क्षेत्रवाद के परिवर्तित रूप में प्रकट हुई है। किसी भी व्यक्ति में सामाजिक स्वरूपों एवं निष्ठा सम्बन्धी दृष्टिकोण समाजीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत बचपन तथा किशोर अवस्था में ही स्थापित हो जाते हैं। भारत में अभी जनसंख्या के अधिकतर भाग में समाजकीरण की प्रक्रिया आदिकालीन ही है। उसके आदिकालीन ढांचे में सांस्कृतिक परिवर्तन नहीं आया है। परिणामस्वरूप, धर्म, जाति, भाषा तथा अन्य सामुदायिक संगठनों के प्रति निष्ठा और कर्तव्य के बारे में बचपन में ही जो मूल्य स्थापित हो गये हैं, वे अधिकतर जनता के सामाजिक व्यवहार को प्रभावित करते हैं। भारत की प्राकृतिक सीमाओं ने भारत को भौगोलिक दृष्टि से अनेक क्षेत्रों में बाँट दिया है। कुछ क्षेत्र सदियों से एक-दूसरे क्षेत्रों से पृथक् रहे हैं और उनका सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक एवं राजनैतिक विकास भी स्वतन्त्र रूप से हुआ है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि भारत का इतिहास अनेक क्षेत्रों में विभाजित है। यह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, सांस्कृतिक विरासत, लोक परम्परओं तथा अन्य सामाजिक लक्षणों के आधार पर क्षेत्रवाद के अस्तित्व को बनाए रखने में मदद करती हैं। भरत में अनेक क्षेत्रीय आन्दोलन और उनके आधार पर पृथक् राज्य का निर्माण आदि इसके उदाहरण हैं।

धर्म तथा भाषा-भूगोल एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ-साथ क्षेत्रवाद को बढ़ावा देने में ध र्म तथा भाषा का योगदान भी कम नहीं रहा है। भारत में कुछ क्षेत्रों में अल्पसंख्यक धार्मिक सम्प्रदायों के केन्द्रीकरण ने उस धार्मिक सम्प्रदाय में सत्ता प्राप्ति की आकांक्षा पैदा कर क्षेत्रवाद को बढ़ावा दिया है। उदाहरण के लिए

पंजाब में सिक्खों का केन्द्रीकरण, जम्मू-कश्मीर में मुसलानों का केन्द्रीकरण तथा केरल के कुछ भागों में ईसाइयों के वर्चस्व ने क्षेत्रवाद की प्रक्रिया को बढ़ाया है। भारत में अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। भाषा के आधार पर उत्पन्न क्षेत्रवाद जातिगत क्षेत्रवाद की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ देखने को मिला है। भारत में तमिलनाडु तथा बंगाल का क्षेत्रवाद इस बात का प्रमुख उदाहरण है।

2. आर्थिक कारक (Economic Factors)

भारत में क्षेत्रवाद को विकसित करने में आर्थिक विकस तथा क्षेत्रीय आधार पर हुए विकास, आर्थिक विषमताओं तथा असन्तुलन का विशेष योगदान रहा है-

1. **प्रतिस्पर्धा-**स्वतन्त्रता आन्दोलन के काल में राष्ट्रीय नेताओं ने जनता के समक्ष यह विचार प्रचलित किया कि उनकी समस्त कठिनाइयों का कारण विदेशी शासन है, यदि अंग्रेजी शासन को हटा दिया जाए तो सभी समस्याएँ दूर हो जाएंगी। परन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात् ये समस्याएँ दूर न हो सकीं। यद्यपि भारत में विकास हुआ तथापि अभी भी भारत आर्थिक क्षेत्र में अविकसित है। स्रोत कम हैं, माँगें बढ़ रही हैं। जनसंख्या में वृद्धि मांगों में और भी वृद्धि कर रही है। परिणामस्वरूप स्रोतों की प्राप्ति हेतु प्रतिस्पर्धा बढ़ रही है। यह प्रतिस्पर्धा व्यक्तियों, समुदायों, वर्गों या क्षेत्रों के आधार पर बढ़ रही है।

2. **राष्ट्रीय नीतियाँ-**प्रतिस्पर्धा वृद्धि के साथ ही साथ एक अन्य तत्व यह भी है कि लोगों में धीरे-धीरे यह भावना उदित होती जा रही कि राष्ट्रीय स्तर की नीतियाँ तथा योजनायें आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए पूर्णत: समर्थन नहीं हैं। परिणामस्वरूप लोग अपने प्रदेश या राज्य स्तर पर विकास के लिए अग्रसर हो रहे हैं। परिणामतः वे प्रदेश की अधिक स्वायत्ता व अधिक स्रोतों की माँग कर रहे हैं। उदाहरणार्थ आसाम आन्दोलन, तेलंगाना आन्दोलन, आन्ध्र प्रदेश तथा बंगाल की अधिक स्वायत्ता की मांगें।

3. **आर्थिक विकास की धीमी गति-**आर्थिक विकास की धीमी गति ने एक ओर प्रतिस्पध में वृद्धि करके व दूसरी ओर राष्ट्रीय योजनाओं से हटाकर जनता को या प्रदेश के लोगों को प्रादेशिक योजनाओं की ओर उन्मुख करके तथा तीसरे इसने एक राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के निर्माण में भी गतिरोध उत्पन्न करके, क्षेत्रवाद को विकसित किया है। आज भारत में पूंजीपति तथा श्रमिक वर्ग क्षेत्रीय आधार पर बंटे हुए हैं। क्षेत्रीय पूंजीपति, क्षेत्र विशेष में अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए विकसित क्षेत्रों के पूंजीपतियों को उस क्षेत्र में आने से रोकने के लिए क्षेत्रवाद को बढ़ावा दे रहे हैं। दूसरी ओर वैचारिक दल श्रमिकों की शक्ति का प्रयोग क्षेत्रवादी संगठनों द्वारा कर रहे हैं। महाराष्ट्र में शिवसेना द्वारा बाहर से आये लोगों के विरुद्ध आन्दोलन आदि इसके स्पष्ट उदाहरण हैं।

4. **मिश्रित आर्थिक नीति-**भारत में क्षेत्रवाद को बढ़ावा देने तथा उसे उत्पन्न करने का अन्य कारण भारत सरकार द्वारा पूंजीवादी और सामन्तवादी विकास नीति के सम्मिश्रण को अपनाना है। भारत सरकार ने पूंजीवादी व्यवस्था पर आधारित नियमों के अनुसार विकास का रास्ता चुना तथा उत्पादन की सामन्तवादी व्यवस्था कायम थी। परिणामस्वरूप विकास की प्रक्रिया एक मिश्रित रूप में चल रही है। इस मिश्रण के अनेक विरोधाभासों ने क्षेत्रवाद को विकसित किया है। उदाहण के लिए चिकित्सा के क्षेत्र में आधुनिक तकनीकों के प्रयोग से मृत्यु दर में कमी आई और जनसंख्या में वृद्धि हुई, लेकिन उत्पादन के मिश्रित प्रयोग से उस गति से उत्पादन में व रोजगार के अवसरों में वृद्धि नहीं हुई। परम्परागत समाजीकरण से मानवीय मूल्यों में भी विशेष परिवर्तन नहीं आया, परिवार नियोजन के प्रति उपेक्षा भाव का यही कारण रहा। परिणामस्वरूप मांग और उत्पादन की खाई चौड़ी हुई और

इसने क्षेत्रवाद को जन्म दिया। इसके साथ ही बुर्जुआ वर्ग सामाजिक नेतृत्व की असमर्थता के कारण प्रतिक्रियावादी हो गया और इन्होंने भी क्षेत्रवाद तथा उपक्षेत्रवाद को विकसित किया है।

NOTES

5. **आर्थिक योजना के विरोधाभास-**इसके अतिरिक्त उदारवादी लोकतान्त्रिक ढाँचे के अन्तर्गत समाजवादी व्यवस्था से अपनाई गई योजना की प्रक्रिया ने भी कुछ ऐसे विरोधाभासों को जन्म दिया है, जिनके कारण क्षेत्रवाद को भारत में बल मिला है। प्रायः बड़े सार्वजनिक उद्योग अपने क्षेत्र में स्थापित करने हेतु अपनी शक्ति के आधार पर केन्द्र सरकार पर लॉविंग करते हैं और चुनावी वोटों को दृष्टिगत रखते हुए इस दबाव के सम्मुख केन्द्र सरकार झुकती रही है, फलस्वरूप क्षेत्रवाद को बढ़ावा मिला है। असमान शैक्षिक विकास से भी रोजगार की दृष्टि से पिछड़े क्षेत्रों में क्षेत्रवाद तथा पृथक् राज्य निर्माण की भावना को बल मिला है। उत्तर-पूर्वी सीमा क्षेत्र के क्षेत्रीय आन्दोलन इसी भावना से प्रेरित हुए हैं।

6. **क्षेत्रीय असन्तुलन-**भारत में क्षेत्रवाद के विकास का एक अन्य कारण क्षेत्रीय असन्तुलन तथा असमानताओं का न केवल बना रहना है, बल्कि इन असमानताओं में वृद्धि होना भी है। इसके दो प्रमुख कारण रहे हैं-प्रथम, केन्द्रीय सरकार विकसित राज्यों के समक्ष झुकती रही है; दूसरे, उत्पादन वृद्धि का कम होना है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आर्थिक विकास की दर आर्थिक रूप से मिश्रित तथा समझौतापरक नीति ने क्षेत्रवाद को बढ़ावा दिया है।

3. राजनैतिक कारक (Political Factors)

भारतीय राजनीति ने भी क्षेत्रवाद को विकसित किया है। स्वतन्त्रता के बाद लोकतान्त्रिक प्रणाली के अन्तर्गत स्थानीय स्तर पर कम शिक्षित, परम्परावादी तथा सीमित हित-दृष्टिकोण वाले लोगों को सत्ता प्राप्त हुई। ये लोग राजनैतिक दृष्टि से अति महत्वाकांक्षी होते हैं। अपनी महत्वाकांक्षा को इन्होंने जाति, धर्म तथा क्षेत्रीय आधार पर बनाये रखना अधिक उपयोगी पाया। यही नहीं, भारत के राष्ट्रीय नेता भी समय-समय पर इन सम्बन्धों का प्रयोग करते रहे हैं। कांग्रेस दल के आन्तरिक सत्ता संघर्ष ने भी इसको बढ़ावा दिया है। इसी आन्तरिक संघर्ष ने तेलंगाना आन्दोलन को बढ़ाया है, शिवसेना की सफलता में सत्ताधारी दल के कुछ लोगों की महत्वाकांक्षा कार्य कर रही है, पंजाब समस्या को भी इस आन्तरिक संघर्ष ने बढ़ाया है। इस प्रकार भारत की राजनीतिक एक विशेष सामाजिक-आर्थिक ढांचे के बीच चल रही है। भारत में क्षेत्रीय राजनैतिक दलों के उदय ने क्षेत्रीय राजनीति को काफी बल प्रदान किया है। पंजाब का अकाली दल, तमिलनाडु के द्रमुक तथा अन्नाद्रमुक दल, नागालैंड तथा मणिपुर के आदिवासी संगठन इसके उदाहरण स्वरूप बताये जा सकते हैं।

4. मनोवैज्ञानिक कारक (Psychological Factors)

क्षेत्रवाद को विकसित करने वाले उपर्युक्त सभी कारणों को आधार प्रदान करने वाला मनोवैज्ञानिक तत्व है। डॉ. इकबाल नारायण ने इस तत्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि हर व्यक्ति किसी न किसी रूप में दोहरे व्यक्तित्व को प्रस्तुत करता है उसमें राष्ट्रवादी तथा उपराष्ट्रवादी दोनों प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। राष्ट्रीय नेतृत्व के एकीकरण और राजनैतिक विकेन्द्रीकरण की समस्या को सुलझाने में असफल रहने से अल्पसंख्यक समुदायों को शंका पैदा होती है और यह शंका उपराष्ट्रवादी प्रवृत्ति बढ़ावा देती है। स्वतन्त्रता के पश्चात् देश की केन्द्रीय सत्ता अनौपचारिक तथा अनावश्यक कारणों से राज्य के सीमित अधिकारों में हस्तक्षेप करने

लगी। इस हस्तक्षेप ने अल्पसंख्यक समुदायों में यह सन्देह पैदा कर दिया कि बहुसंख्यक समुदाय केन्द्रीय सत्ता के माध्यम से धीरे-धीरे उनके अलग सांस्कृतिक अस्तित्व को समाप्त करने का प्रयास कर रहा है, फलस्वरूप भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की माँग उठी। पंजाब तथा तमिलनाडु में स्वायत्तता की मांग का मूल आधार यही मनोवैज्ञानिक सन्देह है।

मनोवैज्ञानिक सन्देह का एक अन्य कारण वहाँ किया गया सीमित विकास है। सीमित विकास ने वहाँ के लोगों में यह भावना पैदा कर दी है कि इस क्षेत्र को सरकार उपेक्षित कर रही है। दूसरे, जो भी विकास हुआ है उसका वहाँ के निवासियों को रोजगार सम्बन्धी पूर्ण लाभ नहीं मिला है, क्योंकि दूसरे क्षेत्र के चतुर श्रमिक तथा उद्यमी वहाँ के रोजगार पर छा गये हैं। तीसरे, सरकार द्वारा इन क्षेत्रों के निवासियों के लिए जो जनकल्याणकारी नीतियाँ बनाई गईं, उनको अफसरशाही द्वारा लागू नहीं किया गाया चौथे, वहाँ की सरकार वहाँ के लोगों से दूर तथा अलग-थलग बनी रही। इन सभी तत्वों ने मिलकर उस क्षेत्र के निवासियों में उपेक्षा, शोषण तथा अधीनता की भावना उदित की जो उन्हें स्वायत्तावाद, पृथकतावाद तथा क्षेत्रवाद की ओर ले गई।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारत में क्षेत्रवाद, भौगोलिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा मनोवैज्ञानिक तत्वों का एक जटिल मिश्रण है।

क्षेत्रवाद के दुष्परिणाम (Evil Consequences of Regionalism)

क्षेत्रवाद के प्रमुख दुष्परिणाम निम्नलिखित हैं-

1. **विभिन्न क्षेत्रों में संघर्ष-**क्षेत्रवाद ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों के बीच तनाव एवं संघर्ष पैदा किया है। प्रत्येक क्षेत्र यह चाहता है कि उसके यहाँ कोई कारखाना लगे, प्रोजेक्ट शुरू हो। उसके क्षेत्र को ही केन्द्र के द्वारा अधिकाधिक सहायता प्रदान की जाए। उदाहरण के लिए, राजस्थान में ही उच्च न्यायालय को जोधपुर से हटाकर जयपुर ले जाने के विवाद में काफी तनाव हुआ था।

2. **राज्य व केन्द्र के बीच तनाव-**क्षेत्रवाद को लेकर राज्यों एवं केन्द्र के बीच भी तनाव पैदा हुआ है। केन्द्र सरकार यदि किसी भी पिछड़े राज्य के हितों का अधिक ध्यान नहीं रखती है तो वह केन्द्र से रुष्ट होकर आंदोलन करता है।

3. **संकीर्ण नेतृत्व का उदय-**क्षेत्रवाद की भावना का स्वार्थी राजनेता शोषण करते हैं। ये लोग क्षेत्रीयता के आधार पर लोगों की भावनाओं को भड़काकर सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। ये स्थितियाँ आगे चलकर राष्ट्रीय एकता को बाधा पहुँचाने लगती हैं।

4. **भाषावाद-**जब कभी क्षेत्रवाद का नारा बुलन्द किया जाता है तो उसके साथ ही भाषावाद की समस्या भी उठ खड़ी होती है क्योंकि प्रत्येक क्षेत्र का सम्बन्ध एक विशिष्ट भाषा से भी है। भाषा को लेकर लोगों में तनाव पैदा हो जाता है।

5. **प्रजातंत्र को खतरा-**क्षेत्रवाद राष्ट्रीय एकीकरण और प्रजातंत्र को कमजोर करता है। प्रजातंत्र की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि वहाँ के लोगों में परस्पर सहयोग और भाईचारे की भावना कायम रहे जबकि क्षेत्रवाद में पारस्परिक तनाव, द्वेष एवं संघर्ष पैदा होता है, जो प्रजातंत्र विरोधी है।

6. **राष्ट्रीय एकता में बाधक-**क्षेत्रवाद से अलगाव की भावना, भेदभावपूर्ण दृष्टिकोण तथा एकाकी प्रवृत्ति विकसित होती है जो राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधाएँ डालती है। क्षेत्रवाद समय दृष्टिकोण व समग्र हितों को नजरअंदाज कर सीमित स्वार्थों पर जोर देता है।

7. **सामाजिक न्याय में बाधक-**सभी को न्याय दिलाने में क्षेत्रवाद बाधक बन जाता है क्योंकि यह व्यक्ति की कार्यकुशलता और गुणों का मूल्यांकन क्षेत्रीय आधार पर करने के लिए जोर देता है।

NOTES

क्षेत्रवाद को रोकने के उपाय (Steps to stop Regionaism)

क्षेत्रीयता की भावना राष्ट्रीय एकता एवं समाज पर बुरा प्रभाव डालती है। अतः इसे समाप्त करना अति आवश्यक है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उपाय सुझाए जा सकते हैं-

1. **राज्यों के पुनर्गठन की माँग को अस्वीकार करना-**राज्यों के क्षेत्रीयता के आधार पर पुनर्गठन की माँग किसी भी राजनैतिक दबाव में आकर स्वीकार नहीं की जाए।
2. **क्षेत्रों में सन्तुलित आर्थिक विकास के लिए नीति-**केन्द्र सरकार को चाहिए कि वह सभी उप-सांस्कृतिक क्षेत्रों के सन्तुलित विकास के लिए ऐसी नीतियों का निर्माण करे जिससे विभिन्न क्षेत्रों के बीच आर्थिक तनाव कम हो सके और क्षेत्रीयता की भावना उत्पन्न करने वाले आर्थिक आध र प्रभावहीन हो जाऐं।
3. **औद्योगिक विकास के साधनों का समान वितरण-**केन्द्र सरकार एवं योजना आयोग को आर्थिक एवं औद्योगिक विकास के साधनों के वितरण के समय यह ध्यान रखना चाहिए कि सभी राज्यों की प्रगति समान रूप से हो रही है या नहीं। उन्हें राज्य विशेष की प्रगति के सम्बन्ध में न सोचकर सभी राज्यों की समान प्रगति के बारे में सोचना चाहिए।
4. **पिछड़े क्षेत्रों में औद्योगिक प्रगति-**आर्थिक एवं औद्योगिक प्रगति के कार्यक्रम विशेष रूप से उन प्रान्तों में चलाये जाने चाहिए, जिनकी आर्थिक प्रगति अवरुद्ध है और जहाँ गरीबी तथा बेरोजगारी अधि क व्याप्त है।
5. **भाषायी विवादों का शीघ्र समाधान-**भाषायी विवादों का शीघ्र कोई सर्वोत्तम हल निकालना चाहिए। इसके लिए सभी भाषाओं को समान मान्यता प्रदान की जानी चाहिए।
6. **नौकरी में भेदभाव को समाप्त करना-**केन्द्र सरकार को राज्य सरकार को यह स्पष्ट रूप से बता देना चाहिए कि किसी प्रान्त में अन्य प्रान्तों तथा अन्य भाषा एवं संस्कृति वाले लोगों के प्रति नौकरी या व्यवसाय में भेदभव की नीति न बरती जाए। यदि कोई राज्य इस प्रकार का भेदभव बरतता है तो उस राज्य को केन्द्र सरकार द्वारा आर्थिक सहायता में कमी कर देनी चाहिए और उस राज्य के लोगों में जानमाल की सुरक्षा भी केन्द्र सरकार द्वारा ही की जानी चाहिए।
7. **प्रान्तीयता को बढ़ावा देने वाले दलों के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही-**जिन प्रान्तों में क्षेत्रीयता को बढ़ावा देने वाले दल हों उन प्रान्तों की सरकार को केन्द्र द्वारा यह आदेश दिया जाना चाहिए कि इन दलों पर कड़ी निगरानी रखी जाए एवं इनके द्वारा उपद्रव किये जाने पर इनके विरुद्ध कड़ी कार्यवाही की जानी चाहिए।
8. **संचार के साधन-**क्षेत्रीयता की समस्या को समाप्त करने में संचार के साधन महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। इनके माध्यम से प्रान्तीयता की समस्या को राजनीतिक रंगरूप देने वाले राजनीतिज्ञों की काली करतूतों का पर्दाफाश कर जनता को यह बताया जा सकता है कि प्रान्तीयता की ओट लेकर राजनीतिक नेता जनता को गुमराह करके स्वार्थ सिद्ध करते हैं।
9. **राष्ट्रीय भावना का प्रसार-**देशवासियों में राष्ट्रीय एकता की भावना का प्रचार-प्रसार कर उन्हें यह बताया जाये कि राष्ट्रीय हित में सभी क्षेत्रों के हित समाए हुए हैं।

10. राष्ट्रीय इतिहास पर बल-लोगों को हमारे गौरवशाली इतिहास की जानकारी करायी जाये तथा उन्हें यह बताया जाए कि राष्ट्रीय नेताओं ने क्षेत्रवाद की भावना का दमन कर देश को एकता के सूत्र में पिरोया।

NOTES

11. यातायात के साधनों का प्रसार-यातायात के साधनों का अधिकाधिक प्रसार एवं विस्तार कर विभिन्न क्षेत्रों के लोग जब परस्पर मिलेंगे-जुलेंगे तो उनकी लोगों की गतिशीलता को बढ़ाया जाए। संकीर्ण क्षेत्रवाद की भावना दूर होगी।

12. राष्ट्र भाषा का प्रसार किया जाये-सारे देश में हिन्दी राष्ट्रभाषा का प्रसार किया जाए लेकिन जब तक सभी क्षेत्र के लोग इसे सहर्ष स्वीकार नहीं कर लें, उन पर हिन्दी नहीं थोपी जाए।

13. सांस्कृतिक एकीकरण को बढ़ावा-सांस्कृतिक एकीकरण को बढ़ावा देने के लिए विभिन्न क्षेत्र के लोगों के खेल-कूद, नाटक, नृत्य, गीत एवं संगीत तथा रंगारंग कार्यक्रमों का आयोजन किया जाये जिससे उनमें पारस्परिक सद्भाव एवं सहयोग पनपेगा एवं क्षेत्रवाद की संकीर्ण मनोवृत्ति समाप्त होगी।

अभ्यास-प्रश्न

1. क्षेत्रवाद से आप क्या समझते हैं? भारत में क्षेत्रवाद के स्परूप पर चर्चा करें।
2. क्षेत्रवाद के दुष्परिणामों तथा इसे रोकने के उपायों पर चर्चा करें।

lnHk

1 Jhfuokl] ,e-,u-]bfM;k Li'ky LVDpj] u'kuy cd VLV] ub fnYyh-

2 Satish Deshpande, Contemporary India: A Sociological View, Penguin Books.

3 unhe] gluu] ledkyhu Hkkjrh; lekt ,d l] ekt'kkL=h; ifj–';] Hkkjr cd lVj] y[kuÅ-

4 vkgtk] jke] ledkyhu Hkkjrh; lekt] jkor ifCyd'ku] ub fnYyh-

5 ik.M;] fo|k/kj] ledkyhu Hkkjrh; lekt ,o lL–fr] gnjkckn-

MATS UNIVERSITY

MATS CENTRE FOR DISTANCE AND ONLINE EDUCATION

UNIVERSITY CAMPUS: Aarang Kharora Highway, Aarang, Raipur, CG, 493 441

RAIPUR CAMPUS: MATS Tower, Pandri, Raipur, CG, 492 002

T : 0771 4078994, 95, 96, 98 Toll Free ODL MODE : 81520 79999, 81520 29999

Website: www.matsodl.com